गगनाञ्चल

वर्ष 22 अंक 4 अक्टूबर-दिसम्बर 1999

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक

हिमाचल सोम
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक
कन्हैयालाल नन्दन

सहयोगी संपादक
अजय कुमार गुप्ता

भारतीय सांस्कृतिक संबध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त सात त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है, जो हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेजी (*इंडियन होराइजन्स और अफ्रीका क्वार्टरली*), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), स्पेनिश (*पपलेस दे ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौत्र अवेक लैंद*) और जर्मन (*इंडेन इन डेर गेगेनवार्ट*) भाषाओं में हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक '*गगनाञ्चल*' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली-110002

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० 25.00	रु० 100.00	रु० 250.00
US$ 10.00	US$ 40.00	US$ 100.00
£4.00	£16.00	£40.00

उपरोक्त शुल्क दरों का अग्रिम भुगतान ''भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली'' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

ISSN 0971-1430

मुद्रक: विमल ऑफसेट, 1/11804 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

प्रकाशक की ओर से

मानव सभ्यता द्वारा नियत और निर्धारित काल की गणना को स्वीकार करते हुए हम सबने नई शताब्दी के साथ-साथ, नई सहस्त्राब्दि में प्रवेश कर लिया है। व्यतीत हुए समय के इतिहास और अपनी सफलताओं-असफलताओं से मुकरना (अस्वीकार करना) भारतीय मन का लक्षण कभी नहीं रहा है, बल्कि इसके विपरीत हमने सदैव ही अतीत के अनुभवों को सहेजते हुए, भविष्य के साथ अनुबंध किया है।

अनेक क्षेत्रों में बहती भारत की चिंतन-धारा की निरंतरता इस बात का प्रमाण है कि हम अपनी समृद्ध परंपराओं के प्रति न केवल आश्वस्त हैं बल्कि उनके प्रति विश्वासशील भी हैं। शंकाहीनता की यह स्थिति हमें अपने निर्णय स्वयं लेने की शक्ति प्रदान करती है। विश्व के अंतरराष्ट्रीय मंच पर कई क्षेत्र ऐसे हैं जहां भारत अपनी स्वतंत्र सोच और आस्था के साथ, दूसरों से अलग खड़ा दीखता है। साथ ही, इस महान् देश ने विश्व स्तर के कई अंतरराष्ट्रीय मंचो की स्थापना और उनके विकास में सक्रिय योगदान किया है। यह निरालापन वास्तव में हमारा एकांत नहीं, हमारे मौलिक होने का साक्ष्य है। व्यक्ति, समाज, समूह और समुदाय के समुच्चय में विश्वास रखना तथा उनके लिए वांछित उच्चादर्शों की स्थापना तथा अनुपालन में भारत-गौरव समाया हुआ है—इस तथ्य पर हम सभी भारतीयों को गर्व है।

एक प्रचलित कथन है कि *महाभारत* में वह सब कुछ है—जो इस धरा पर मौजूद है। हमें यह स्मरण रखना होगा कि *महाभारत* एक ग्रंथ है जो शब्दों के माध्यम से इस विश्व को उपलब्ध है। अर्थात् आज के परम सूचनापरक समाज में, अनेक शब्दविहीन माध्यमों की उपलब्धता के बावजूद, मुद्रित शब्द प्रासंगिक है। इस मुद्रित शब्द के माध्यम से हम उस सबको संरक्षण प्रदान कर सकते हैं, जिसे हम भावी पीढ़ियों को सौपना चाहते हैं। जैसे शताब्दी या काल की अवधारणा के बीच कोई विभाजक रेखा, बिखराव नहीं उत्पन्न करती—उसी प्रकार हमारी संस्कृति, सभ्यता, संस्कार, धार्मिक आस्थाएं, परंपराएं, लोककलाएं, सांस्कृतिक वैभव... आदि पीढ़ियों के गमन-आगमन से प्रभावित नहीं होते। यह तो अविरोध और अविराम जैसे लक्षणों की परिक्रमा है जो वास्तव में सच्ची भारतीयता का प्रकाशन है।

...और भारतीयता का सच्चा प्रकाशन '*गगनाञ्चल*' की रचनाओं में सहजता से प्रकट हो—यही भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् का उद्देश्य है। अपने उद्देश्य में इस

आज की रचनाएं निष्ठावानता से संलग्न है—ऐसा परिषद् का विश्वास है। अपने देश की विविध कलात्मक एवं सांस्कृतिक धरोहरों की प्रवृत्तियों को जानने-छूने के प्रयास के साथ-साथ इस अंक की रचनाओं में भारतीयता के समक्ष उभरी नई चुनौतियों का यथार्थ भी है। अपने समय की ज्वलंत समस्याओं से जूझते भारतीय मन के विनम्र और विनयी रूप, प्रस्तुत सामग्री को संपन्नतर बनाते हैं।

देश-विदेश के हिंदी-प्रेमियों और इस अंक के लेखकों को यह मुद्रित अंक सौंपते हुए, परिषद् गुजर गई शताब्दी और स्वागतमी शताब्दी—दोनों का अभिवादन करती है।

असीम शुभकामनाओं के साथ—

हिमाचल सोम

हिमाचल सोम
महानिदेशक

संपादक की ओर से

एक शताब्दी और सहस्राब्दि का अंत करके, नई शताब्दी और सहस्राब्दि में प्रवेश कर लिया है हम लोगों ने। यह काल की चक्रावृत्ति है कि वह गश्त लगाता हुआ कही से कही पहुंच जाता है और अपनी ताल के नियमित होने की धारणा को स्थापित करता है। काल की इस लयबद्धता को मानव सभ्यता ने एक क्रम सौपा है तथा उसी क्रमांक के आधार पर मानव युगे-युगे की यात्रा करने को तत्पर है।

यात्रा करने की इस तत्परता को कई कोणो से देखा जा सकता है। इस यात्रा मे हम स्वयं को विवश अनुभव कर सकते है, इस यात्रा को नियति मान सकते है, यात्रा को छंदबद्धता सौपकर अलंकृत कर सकते है, उपलब्ध समय और यात्रा को जीवन का स्वर्ण अवसर मानकर उसका सार्थक एवं अधिकतम उपयोग कर सकते हैं। कहने का अर्थ यह कि इस काल-यात्रा के बहाने हम स्वर्ग को अर्जित कर सकते है, या नरक को 'सादर' आमंत्रित कर सकते है! जीवन के साथ, इस महास्वतंत्र मैदान मे खुलकर खेलने का सुकाल वर्तमान पीढ़ी को पिछली और चालू शताब्दी मे मिला है—यह वास्तव मे विशिष्ट अवसर बनता है। किसी जीवन की अवधि मे सदी का 'पुनश्च:' साधारणतया नही होता, इसीलिए यह सुसमय है कि हम इस काल-परिवर्तन को रेखांकित करे।

समय व्यतीत के भावबोध से जुड़ता है और अपने स्मारक, पुरालेख आदि छोड़ता जाता है। किसी भी सभ्यता और संस्कृति को संपादित करने का जो तीखा हथियार इतिहास के पास है—वह शायद अन्य किसी ज्ञात स्रोत के पास नही। आने वाली पीढ़ियों का सच्चा ठौर इतिहास-सभ्यता-संस्कृति की वह सुछांव ही है जो महापुरुष हमे समय-समय पर सौपते जाते है तथा मानव जाति की सुसभ्य संस्कृति जिसे जीवित और जीवंत रखती है। पृथ्वी एक विशाल घटना स्थल है, जहां पतझड़ और वसंत का प्रतीक अद्योपांत उपस्थित है। अग्नि, आकाश, जल, पृथ्वी और वायु के पंचभूत से हम शून्य को कोटिश: मे परिवर्तित कर देते है तथा फिर से अपने तत्त्वों से विलग होने लगते है। विश्व की मानव सभ्यता तथा संस्कृति ऐसे ही पतझड़-वसंत की दहन-शमन की महाकथा है।

काल वास्तव मे एक चिर जलावन है जिसकी ऊष्मा और ऊर्जा से हम सब

संचालित होते हैं। भारतीय मनीषा ने, काल के भाल पर क्या लिखा है—इसे सदियों से बखूबी पढ़ा है, जाना है और बल्कि उसे लिखा भी है। इस चीखते-चिल्लाते विश्व के एकीकरण में आज सभ्यताएं तथा संस्कृतियां जिस तरह से एक-दूसरे में विलीन होकर, कोई अनजाना-सा रूप धारण कर रही हैं—उस हताश समय में भी भारतीय संस्कृति गहरे आत्मविश्वास के साथ खड़ी है। इसका मूल कारण यह है कि हम परजीवी संस्कृति के दास कभी नहीं रहे तथा सदाबहार संस्कृति के स्वामी इसलिए बने रहे क्योंकि मानवीयता का बीज, गुठली, शिखा, गर्भ, बीजाधार आदि के ज्ञानार्जन के लिए हम वर्षो तपस्वी, त्यागी बने तथा बलिदानों की भारी कीमत चुकाकर हमने यह शोभावक्ष अपने आंगन में रोपा है। लेकिन इसका अर्थ यह कतई नही है कि हम आधुनिक नहीं हुए, पुनर्नवा नहीं हुए या हमने अपनी प्रगति के रास्ते बाधित किए। हमारी सर्वागता के पीछे, हमारे सतत बलिदान भी हैं जिसका लोहा पूरा विश्व मानता है।

यह संयोग नहीं, उपरोक्त वर्णित विचारों की अनुगूंज ही है जो *गगनाञ्चल* के इस अंक की रचनाओं में पाठक पायेंगे। इन रचनाओं में बीती सदी के गौरव-पुरुषों पर संक्षिप्त टिप्पणियां हैं, साथ ही आनेवाली सदी के रचनाकारों की स्वागत योग्य रचनात्मक प्रस्तुतियां भी। 'पतझड़' पक्ष की रचनाओं तथा मान्यताओं को यहां ससम्मान याद किया गया है तो आनेवाली रचनाकार पीढ़ी का 'वसंतोत्सव-सा' मनाया गया है। मुझे विश्वास है कि इस अंक के स्पर्श से पाठक विगत और आगत भारत की स्पर्शानुभूति को समग्रत: महसूस कर सकेंगे। नई रचनाएं कहती है कि हम प्रश्नाकुल तो है, साथ ही निरुत्तर भी नही है। पाठकों को जीवन के सही प्रश्नोत्तर इस अंक की रचनाओं में मिलेंगे—तो हम अपना यह प्रयास सफल मानेंगे।

अगले अंक में हम नई चुनौती, संकल्प और प्रतिज्ञा के साथ नजर आयेंगे—इसी कामना के साथ आप सबको सहस्त्राब्दि की सहस्त्रों शुभकामनाएं—

कन्हैयालाल नन्दन

संपादक

अनुक्रम

चिंतन

कहानियां

गतिविधियां

रचनाकार

पाठकों की ओर से

लंदन में आयोजित छठे विश्व हिंदी सम्मेलन (14-18 सितंबर, 1999) के अवसर पर प्रकाशित 'गगनाञ्चल' के 'विश्व हिंदी विशेषांक' को अपनी गरिमामयी प्रस्तुति के कारण पूरे हिंदी विश्व से भरपूर स्नेह और सम्मान मिला है। विश्व के अनेक देशों के हिंदी पाठकों को इस विशेषांक के माध्यम से हिंदी के विश्वव्यापी स्वरूप और रचनाकर्म की अद्यतन जानकारी मिली जिससे वे संतुष्ट एवं प्रफुल्लित दिखते है। इस अंक पर ढेरों प्रतिक्रियाएं हमें प्राप्त हुई है। अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत करानेवाले सभी सुधी पाठकों के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

कुछ चयनित प्रतिक्रियाओं से संक्षिप्त अंश हम यहां प्रस्तुत कर रहे है।

—संपादक

गगनाञ्चल का विशेषांक सुनियोजित और सार्थक दिखाई देता है। हिंदी भाषा और साहित्य के विविध पक्षों पर, बिना किसी उलझाव के अच्छी सामग्री का चयन किया गया है जो विश्व हिंदी सम्मेलन की संपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को पाठक के सम्मुख उजागर कर देता है।

विदेशों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की क्या स्थिति है, इसे जानना किसी भी हिंदी समुत्साही के लिए अत्यंत उपयोगी है। विशेषांक के 'विचार खंड' में अमेरिका, बेल्जियम, जापान, रूस, फिनलैंड, उज़्बेकिस्तान, चीन, त्रिनीडाड, नार्वे, पोलैण्ड, हंगरी आदि देशों में हिंदी की क्या स्थिति है, इस दृष्टि से अनेक लेख है जो उनके द्वारा लिखे गये है जो उन देशों में रहकर हिंदी का कार्य कर रहे है। इनमें भारतीय मूल के व्यक्ति भी है और विदेशी मूल के भी। 'रचना खंड' भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यह अंक देखकर आभास होता है कि संपादक के पास दृष्टि है, उसे अवसर की पहचान है और वह पाठक को ऐसी सामग्री देना चाहता है, जिसे वह सहेज कर रखे और जब चाहे संदर्भ-सूची के रूप में उसका उपयोग करे।

—मसिजीवी

(संचेतना)

हिंदी में सरकारी साहित्यिक पत्रिकाएं भी कम नहीं निकलतीं लेकिन साहित्यिक समझ के साथ जो थोड़ी-सी पत्रिकाएं निकलती है, *गगनाञ्चल* उन्हीं में से एक है। छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर इसका एक स्वस्थ एवं समृद्ध अंक आया है। इस विशेषांक की सबसे बड़ी विशेषता इसका खुलापन है। आज जबकि दुनिया में लोकतंत्र युगधर्म बन चुका है, ऐसी स्थिति मे भी हिंदी की बहुत-सी ऐसी साहित्यिक पत्रिकाएं हैं जिनमें 'लोकतंत्र' नजर नही आता।

—राधेश्याम तिवारी

(दैनिक हिंदुस्तान)

गगनाञ्चल विशेषांक में प्रकाशित अधिकांश हिंदी-परक लेखों में हिंदीवालों के स्वर उभरे है, न कि हिंदीभाषियों के। बालगंगाधर तिलक (1905), पं० मदनमोहन मालवीय (1910), गांधी जी (1916) आदि ने जिस हिंदी को (मात्र खड़ी बोली—टकसाली भाषा) भारत की राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय संपर्कभाषा घोषित किया था, हम राष्ट्र-प्रेमी, राष्ट्रसेवी लोगों ने 'वंदे मातरम्' मंत्र की तरह, राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज, राष्ट्र-चिंतन के समान हिंदी को अपनाया। गत 40 वर्षों से हिंदी का प्रचार-प्रसार तमिलनाडु में करते आ रहे हिंदी प्रचारकों में मै भी हूं।

हिंदी का प्रचार गली-गली में करते आ रहे—सैकड़ों प्रचारक-प्रचारिकाएं, हिंदी की वर्णमाला सिखाते समय विद्यार्थियों के मन मे यह विश्वास अंकित कर देते है कि हिंदी किसी प्रांत, जाति, वर्ग की भाषा नहीं, पूरे भारत की राष्ट्रभाषा है। अन्य भारतीय भाषाएं अपने-अपने प्रांतर का प्रतिनिधित्व करनेवाली है। जो भारतीयता को मानते है, उनकी अपनी भाषा-राष्ट्रभाषा हिंदी है।

अब हिंदीवालों को अपने को 'हिंदीभाषी' और हमें 'अहिंदीभाषी' कहना बड़ा अनैतिक, अनर्थकारी है।

—र० शौरिराजन

(चेन्नई)

भारतीयता: इक्कीसवीं सदी की देहरी पर

रमेशचन्द्र शाह

समयचक्र के साथ-साथ इक्कीसवीं सदी में पदार्पण, संपूर्ण विश्व के लिए एक अनिवार्य प्रक्रिया थी। यह समय स्वयं के भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने-परखने का रहा है। भारतीयता की समकालीन स्थितियों में तो इस कालक्रम पर बात करना और भी प्रासंगिक लगता है क्योंकि भारत आज के समय में परंपरा और आधुनिकता की दौड़-छोड़ के द्वंद्व में फंसा है। ऐसे समय में भारत की संस्कृति के भूत-भविष्य की पड़ताल कर रहे हैं, हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकार एवं चिंतक रमेशचन्द्र शाह।

दो अनमेल संस्कृतियों की टकराहट खच्चर सरीखे बांझपन को जन्म देती है—ऐसा इस सदी के एक ऐसे महाकवि का कहना है जो भारत से भावित और प्रभावित रहा है। एक बंगाली प्रोफेसर जब उससे मिलने गए और भारत के लिए उसका संदेश मांगा तो वह चिल्लाया—'कॉनफ्लिक्ट, मोर कॉनफ्लिक्ट!' यह तीसी के दशक की घटना है। उस कवि को 'भारतीय परंपरा की बुझती हुई लौ' (यह उसी का मुहावरा है) से जहां प्रेरणा मिलती थी—दार्शनिक समाधान मिलता था, वहीं स्वयं भारतीय लोगों का पाश्चात्य संस्कृति के प्रति नकलची हीनभाव उसे बहुत विस्मित और विक्षुब्ध करता था।

वह स्वतंत्रता-संग्राम का दौर था जब एक से एक मनीषी और आत्मविश्वास से भरे लोग हमारे बीच मौजूद थे। आज महापुरुषों की—भारतीय संस्कृति के जागृत-

जीवंत प्रतिनिधियों की वह फसल पूरी तरह सूख चुकी है। कोई अरविंद, कोई गांधी, कोई रमण महर्षि... हमारे यहां अवतरित होनेवाला नहीं है। यहां तक कि इनसे कमतर, दूसरी पंक्ति के लोगों—विनोबा, जे० पी०, लोहिया, मुंशी, राजगोपालाचारी जैसे नेताओं तक के लाले पड़ गए हैं। पर हम इस तरह सोचे ही क्यों? औसत भारतीय, औसत चीनी, जापानी या यूरोपियन के बरक्स कहां खड़ा है, यह क्यों नहीं पूछते? महापुरुषों के भरोसे कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय पहचान कायम रख सकता है क्या? लगता है, इतिहास-विधाता की यही इच्छा है कि अब हम अपने ही बूते खड़ा होना सीखें। अपना सामान्य सामूहिक चरित्र ही चमकाकर, उन्नत करके दिखाएं।

यों यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य माना जा सकता है कि समकालीन राजनीति में ही नहीं, शिक्षा, प्रशासन और संस्कृति के क्षेत्रों में अस्तरीय लोगों का बढ़ता वर्चस्व हमारे भ्रष्टाचार-लिप्त चरित्र की पुष्टि करता जान पड़ता है। अक्सर लगता है—हम किस भारतीय संस्कृति की बात कर रहे हैं? सत्य, तप, आवर्तीकाल, अहिंसा, करुणा, आतरिक स्वाधीनता, सहिष्णुता जैसे मूल्य जो हजारों वर्ष इस देश की रीढ़ बने रहे, वे आज हमारे आचरण में कहां प्रभावी हैं? स्थिति हर तरफ विपरीत जान पड़ती है। धर्म, जो हमारे लोक जीवन का नियामक रहा, अध्यात्म जिसने हमें अद्‌भुत-अतुलनीय आंतरिक खुलापन दिया और घोर पराधीनता के लंबे दौर में भी—आत्मविस्मृति और रूढ़िग्रस्तता की दलदल के बीचोबीच भी हमें अपनी पहचान खोने से, आत्महीनता से बचाए रखा, वह धर्म और अध्यात्म स्वयं आज हमारे प्रबुद्ध वर्ग—यानी देश को चलानेवाले हमारे भाग्य-विधाता सरीखे प्रतीत होनेवाले नेताओं, अफसरों, पूंजीपतियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों में कहीं क्रियाशील दीखता है क्या? हमारे साहित्य में न हमारी आस्था दीखती है, न अनास्था दीखती है, न हमारे भीतर जो आध्यात्मिक सूनापन और उजाड़ घर करता जा रहा है, उसी का संताप यहां तक कि, चेतना तक दीखती है। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, यह चिंता भी नहीं दीखती। शिक्षकों तथा साहित्यिक, कलात्मक-वैज्ञानिक बुद्धिजीवियों का आचरण भी जनसाधारण के लिए प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक नहीं प्रतीत होता। उल्टे लगता है, मूल्य-मूढ़ता या कहें मूल्य-विपर्यय का संक्रामक तो उन्हीं को सबसे ज्यादा व्याप रहा है। दहशत होती है देखकर कि हमारा अधिसंख्य बुद्धिजीवी वर्ग—हमारा प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, यहां तक कि लेखक तक सामाजिक संवेदना से इतना शून्य, अपने चुने हुए व्यवसाय के न्यूनतम मानदंडों से भी इतना नीचे, तथा नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टि से इतना दरिद्र हो सकता है।

निश्चय ही ये लक्षण अच्छे नहीं हैं। इतना प्रलोभनीय, इतना बहरा भारत का पढ़ा-लिखा, नौकरीपेशा या व्यापारी वर्ग हो सकता है, इसकी कल्पना आज से सौ या पचास साल पहले सचमुच नहीं की जा सकती थी। याद आता है, महात्मा गांधी ने चालीस के दशक में कभी अपनी 'हिमालयी भूल' स्वीकार करते हुए कहा था कि

उन्होंने जो अपने लोगों की क्षमता को बहुत ऊंचा करके आंका, उन्हें अहिंसा और सत्य के उच्चतम मानदंडों पर खरा उतरने लायक चरित्र का धनी समझा—वह उनकी बड़ी भारी गलती थी, भ्रांति थी। किंतु, गहरे जाने पर एक बात समझ में आती है और वह यह कि जहां यथार्थ के स्तर पर, मानव-स्वभाव की कमजोरियों के यथातथ्य आकलन के स्तर पर उनका यह सोचना और अपने किए-धरे का इस तरह पुनर्मूल्यांकन अपने ही खिलाफ जाते हुए करना बिल्कुल सही था, वहीं भारत के समूचे इतिहास को देखने से यह बात भी सामने आती है कि यह गलती तो उन तमाम ऋषियों-मुनियों ने (भी) की थी जिन्होंने भारतीय संस्कृति को गढ़ा है, उसके अब तक भी जीवित रहे आए स्व-ग को संभव बनाने का अपूर्व, अभूतपूर्व चमत्कार किया है। औसत मनुष्य की क्षम-ग को ध्यान में रखकर कोई संस्कृति नहीं चलती। विश्व की सभी बड़ी सभ्यताएं, मनुष्य से बहुत अधिक की उम्मीद लगाकर ही अपना चक्र चलाती है। सभी संस्कृतियों की चालक शक्ति ऊंचे आदर्शों में निहित होती है।

यूनानियों ने ज्ञान को सबसे बड़ा मूल्य माना। मनुष्य के 'रीजन' को सर्वोपरि रखा। उनके दार्शनिक प्लेटो की कई बातें भारतवासियों के मन की है। कुछ आदर्श प्रारूप ऊपर है—यह जगत् जिनका आभास या छाया है, यह वह कहता है। किंतु प्लेटो तक यह ज्ञान आत्मलक्षी है—वह वस्तु-जगत् यानी मात्र इंद्रियगोचर संसार तक सीमित नहीं होता। प्लेटो के बाद पश्चिम के 'रीजन' की दिशा, ज्ञान के प्रयोजन की दिशा बदल जाती है। नतीजा यह होता है कि ज्ञान का विभाजन-विखंडन हो जाता है दो-टूक। या यूं कहें, धर्म और ज्ञान के बीच दरार या फूट पड़ जाती है। ज्ञान अब अपनी समग्रता से हटकर आत्मज्ञान के मूल लक्ष्य से विचलित और विपथगामी होकर विज्ञान यानी साइंस बनने की दिशा में अग्रसर और विकसित होने लगता है। कुछ इस तरह, कि आज यह कहना ज्यादातर लोगों को वाहियात लग सकता है, पर तथ्य यही है कि ज्ञान की इस तरह की परिणति-संसारधर्मी, संसारोन्मुख, संसारलक्षी परिणति—आखिरकार अणुबम में ही होनी थी और हुई। इसी तरह ज्ञान की जो आत्मज्ञानवाली दिशा थी, अपने को जानने, 'मैं कौन हूं' वाली दिशा—जीवन में सनातन की खोज, वह रीजन से बिछुड़कर, रीजन से विपरीत जाने की अंदरूनी लाचारी के तहत एकेश्वरवादी धर्म यानी 'डॉग्मैटिक रेलीजन' की दिशा में बढ़ी। यह सच है कि बाद में इस रीजन-विरोधी धर्म को अपने को बुद्धिसम्मत बताने, बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए यूनानी दर्शन का सहारा लेना पड़ा—ज्यादातर अरस्तू और किसी हद तक प्लेटो का भी पल्ला थामना पड़ा। पर उस मूल विचलन और आत्म-विभाजन के दुश्चक्र को शायद इस तरह पलटा नहीं जा सकता था। 'रीजन' और 'रेलीजन' के बीच मनुष्य का समग्र भावबोध बंट जाए, खंडित हो जाए, यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहलाएगा।

इसमें शक नहीं कि इस स्थिति का फायदा भी पश्चिमी संस्कृति—यानी भीतर से आत्म-विभाजित एक संस्कृति को मिला। पूरी तरह वस्तुमुखी हो जाने के बाद

आदमी का रीजन तेजी से वस्तु-जगत् को, वातावरण को, दुनिया के सारे विषयों को खोलता, समझता, अपने नियंत्रण में लाता गया। 'प्रकृति को वशीभूत करो'—यह तर्क फलीभूत हुआ। आविष्कारों की बाढ़ आ गई। तो, इसी तरह मोनोलिथिक धर्म संगठन की थियोलॉजी भी खूब पनपी। जल्द ही इन दोनों के बीच टकराहट हुई जो कि होनी ही थी। आखिर वह मूल अंतर्विरोध, मूल आत्म-विभाजन कभी न कभी तो प्रकट होता ही। तो आप देखते हैं कि मध्ययुग में वहां धर्म भयानक ज्ञानविरोधी बन जाता है। चर्च की सत्ता ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों को जिंदा जला देती है, गैलीलियो को अपनी खोज के सच को ही वापस लेना और नकारना पड़ता है। यानी विडंबना देखिए कि एक ही जड़ से उत्पन्न एक ही मानव-समूह की दो उपलब्धियां—धर्म और विज्ञान, एक दूसरे की जानी दुश्मन हो जाती हैं। क्यों? खुद धर्म भी ऐसा छुई-मुई, असहिष्णु तानाशाह बन जाता है कि जिसने उसके केंद्रीय 'डॉग्मा' से जरा भी छेड़छाड़ की; खुद स्वाधीन ढंग से सोचने, प्रश्न उठाने का साहस किया कि उसे भी 'हेरेटिक' कहकर, चिता पर चढ़ा दिया गया। तब वहां धर्म की सत्ता, राज्य की सत्ता जैसी मजबूत ताकतवर थी तो, साइंस की—साइंटिस्ट, तर्कवादी, प्रयोगवादी ज्ञानवृत्ति को सदियां उससे जूझते हुए ही अपना रास्ता निकालना पड़ा। अंत में बुद्धि और तर्क की ही विजय हुई। पहले पुनर्जागरण, फिर रिफॉर्मेशन, फिर एनलाइटनमेंट, फिर रोमांटिक आंदोलन, फिर औद्योगिक क्रांति, फिर ईसाई चर्च पर बढ़ता अविश्वास, अंत में 'ईश्वर मर चुका है' की घोषणा, मार्क्सवाद-पूंजीवाद, फिर मार्क्सवादी चर्च का पतन, फिर यह सूचना-क्रांति और ग्लोबल मार्केट इत्यादि। धर्म की सत्ता—यानी पश्चिम के पुराने आत्म-विभाजित विकास का यह दूसरा पहलू—आज भी भीतर से ध्वस्त है; पर बाहर से किसी तरह अपने को मृत संजीवनी पिलाने की कोशिश कर रहा है।

यह है किस्सा उस यूरोपीय मानव-केंद्रित सभ्यता का—जिसके नए संस्करण, (अमरीकी चौधराहट) की चपेट में आज समूचा विश्व है और इसलिए भारत भी। आप पूछ रहे हैं कि इस चक्रवात में भारत की भारतीयता कहां है और क्या कर रही है? कहीं है भी कि नहीं? रहेगी भी, कि नहीं? कहीं विस्थापित तो नहीं हो चुकी पूरी तरह पश्चिमी बाजारवाद और उपभोक्तावाद से? क्या उसकी नियति भी अंततः सुपर कंप्यूटरीकरण और 'क्लोन'-करण ही नहीं है?

पहली प्रतिक्रिया, जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की होगी—हालात देखते हुए, वह यही होगी कि हां, भारत अब पूरी तरह से इस विश्वव्यापी प्रवृत्ति की चपेट में आ चुका है और अब आगे उतार ही उतार है, गिरावट ही गिरावट है। भारतीयता चौपट हो रही है। वह सिर्फ निर्यात की एक छोटी-सी कमोडिटी-भर रह गई है। आयात तो भोगवादी, होड़वादी, यांत्रिक भौतिकवादी मूल्यों का ही बढ़ता जा रहा है। नई पीढ़ी पूरी तरह इस बाढ़ में बह रही है, पुरानी पीढ़ी भी कुछ कम लालची-पापी नहीं थी।

कुल मिलाकर दृश्य निराशाजनक है।

किंतु ठंडे दिमाग से सोचने पर तथा ठंडे दिमागवाले दूसरे जिम्मेदार बौद्धिकों की राय सुनकर, अपने लोगों के जीवन की असलियत पर तथा भारत के लंबे इतिहास पर आंख गड़ाकर देखने पर तस्वीर इतनी काली नहीं दीखती। ''हिंदुस्तानी महासागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उसमें जो लोग गंदे हो गये हैं, उन्हीं को साफ होना है।'' यह 'हिंद स्वराज' के गांधी ने इस सदी की शुरुआत में कहा था। अब शायद हम ऐसा दावा करने की हालत में नहीं है। गांव-गांव तक गिर चुकी हमारी पतनोन्मुखी राजनीति ने हमारी जनता के उन पारंपरिक गुणों को काफी हद तक दबा दिया है। फिर भी, देखा जाए तो वे पूरी तरह नष्ट नहीं हुए हैं। उनमें मूल्य-विवेक बचा है। उनमें भारतीय परंपरा का लोक शास्त्र सम्मिलित रूप में आज भी जीवित है जैसे-तैसे। बुद्धिजीवियों ने उनके साथ, अपने ही लोगों के साथ विश्वासघात किया है जरूर। परंतु अब उनमें भी एक स्तर पर पश्चाताप और आत्मपरीक्षण के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। राजनीतिक स्तर पर भी हमारा लोकमन बदल रहा है।

जहां तक इस अराजक, मूल्यहीन आपाधापी का सवाल है, कुछ हद तक वह स्वाभाविक, अनिवार्य था। संस्कृति को बचाने के चक्कर में—अपनी भयानक गुलामी की सदियों के दौरान हमारी संस्कृति के रक्षक वर्ग ने—जिसकी रचनात्मक कुव्वत पस्त हो चुकी थी—तरह-तरह की बाड़ें बनाकर, अपनी सुरक्षा करनी चाही। एक बहुत बड़ा हिस्सा आबादी का अवहेलना का शिकार होकर दरिद्र होता गया—दलित अनद्दलित रहा। छुआछूत और जातिप्रथा की अमानवीय परिस्थितियों ने उसका आत्मसम्मान भी क्षत-विक्षत कर दिया। यह बहुत बड़ी कीमत अपने बचे रहने की हमने चुकाई। उधर जो जीवनवादी-आनंदवादी मूलवैदिक धारा हमारे शास्त्र में ही नहीं, लोकविश्वासों में जीवित थी—वह भी संन्यास, निवृत्ति और मोक्ष की तरफ झुक गई। भक्ति ने जहां हमें जबर्दस्त सहारा दिया, वहीं हमें और हमारे दिमागों को पिलपिला भी बना दिया। ज्ञान, भक्ति और कर्म का संबंध हमारे यहां भी गड़बड़ हुआ। क्या बाहर, क्या भीतर में भी हमारा जीवन-दर्शन स्वस्थ-संतुलित न रहकर एकांगी और दुःखवादी, परलोकवादी बन गया। यह स्वयं अपने आपमें भारतीय संस्कृति के सामाजिक-राजनैतिक पराभव और गुलामी का कारण रहा। यही कारण है कि बीसवीं सदी के आरंभ में श्री अरविंद सरीखे द्रष्टा, विचारक और नेता को कहना पड़ा कि जिस तरह पश्चिम के इतिहास ने उसे भौतिकवादी नकार में ला पटका है, उसी तरह भारत के इतिहास ने हमें इसके उल्टे अतिवाद में झोंक दिया—जिसे उन्होंने संन्यासमूलक जीवनद्रोह कहा। और, बिल्कुल ठीक कहा। अरविंद का जीवन और जीवनकार्य इस सदी के भारत की सबसे दूरगामी महत्त्व की घटना है। वे मनुष्य की प्रगति को, वैज्ञानिक आविष्कारों को, पाश्चमी ज्ञान-विज्ञान को बिल्कुल नहीं नकारते। उसे कुल मानवीय उपलब्धि का मूल्यवान अंग मानते हैं, मनुष्य के आध्यात्मिक-

रूपांतरण का भी अनिवार्य अंग मानते है। किंतु साथ में यह भी देखते-दिखाते हैं कि मनुष्य के सर्वोच्च पुरुषार्थ और जीवन की सर्वोच्च चरितार्थता का सपना इसी भारत ने अपनी संस्कृति के प्रारंभिक बिंदु पर ही देख लिया था और वह समूची मानवता के लिए देखा था—किसी एक कबीले या मुल्क या नस्ल के लिए नहीं। सदियों से उत्पीड़ित विराट् जनसमुदाय की दबी हुई भावनाओं का विस्फोट होना ही था। खेद और दुर्भाग्य की बात यह है कि जो भी विकास हुआ है, उसका लाभ निम्नतम स्तरों पर जीनेवाले लोगों तक नहीं पहुंचता। बीच के लोग ही उनका हिस्सा लूटते हैं। उत्पादन बढ़ा पर वितरण न्याय संगत नही हो सका।

भारतीय संस्कृति मनुष्य पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी डाल देती है। मनुष्य नामक जीव से हद दर्जे की ऊंची अपेक्षा करती है। आज हमारा सामूहिक चरित्र उसके निर्वाह में अक्षम प्रतीत होता है। लेख की शुरुआत में हमने यही कहा था कि यूं तो संस्कृति मात्र मनुष्य से बहुत ऊंची अपेक्षा करके ही बनती है और ऊंचे आदर्श ही अपने सामने रखती है, किंतु संस्कृतियों का इतिहास देखते हुए साफ प्रतीत होता है कि भारत जितना ऊंचा लक्ष्य मनुष्य के लिए किसी और संस्कृति ने नहीं रखा। यह अभिजात संस्कृति है जो लोक-संस्कृति का उदात्तीकरण करती आई है। इसमें जीवन की—समूचे चराचर जगत् की पावनता का विचार छुपा हुआ है। मनुष्य को अमृत-पुत्र बताना और चराचर में दिव्यता को ओतप्रोत देखना—इसी संस्कृति का मौलिक आग्रह रहा। इसी से जीवन को भी, भोग को भी—पुरुषार्थ ही माना गया किंतु विषयाशक्ति के चक्कर में आत्मविस्मृत न हो जायें—यह चौकसी रखी गई और धर्म से अविरुद्ध 'काम' को ही स्वीकार किया गया—कामनाओं के पीछे भागने को नही। धर्म की ऐसी व्यापक, गहरी संकल्पना और कहीं नही की गई। मानव की भोग-वृत्ति को भी धर्म की मर्यादा में अकुंठ स्वीकृति दी गई। तो इसमें जीवन के तिरस्कार या इच्छाओं के दमन या जीवन को पापमूलक मानकर आत्मपीड़न का प्रश्न ही नही उठता जैसा कि ईसाइयत के इतिहास में साफ देखा जा सकता है। वहां पर स्पष्ट अंतर्विरोध है: एक ही संस्कृति की दो भुजाएं इस कदर विपरीत है कि एक तरफ असीमित तर्कवाद-बुद्धिवाद है, तो दूसरी तरफ घोर मतवादी कट्टरता। एक तरफ मठ-संन्यास का भयंकर आत्मपीड़न और बंदिशें, दूसरी तरफ संदेहवृत्ति को चरम महत्त्व देते हुए विषय लालसा और प्रकृति विजय की लालसा को उसकी चरम परिणति तक पहुंचा देना।

भारत में यह अंतर्विरोध नहीं प्रकट हुआ तो इसका कारण इस संस्कृति की आध्यात्मिकता ही है। आध्यात्मिक मूल्य, अनुभवजन्य, सार्वभौम और चराचर समस्त जीवन को समाविष्ट करनेवाले होते हैं। उसमें धर्म और दर्शन के बीच वह अनिष्टकारी विच्छेद पैदा होने की गुंजाइश ही नही रहती जिसे हमने ऊपर पाश्चात्य संस्कृति के संदर्भ में पहचाना था। ऐसी संस्कृति लौकिक की उपेक्षा न करते हुए, अलौकिक से मनुष्य को सीधे जोड़ती है और प्रकृति को तथा पृथ्वी के अन्य मानव-समूहों के शोषण

के दुश्चक्र से, साम्राज्यवादी लिप्सा से भी बची रहती है। सत्य और आनृशंस्य (अर्थात् अहिंसा) इसमें अपने अन्य सर्वोच्च जीवन-मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित होते है। आधुनिक यूरोप की ऐंद्रिय भोगमूलक संस्कृति के प्रभाव में इस वक्त भारत बहता प्रतीत होता है। दबाया गया जीवन अपना बदला लेगा ही। ऐसे में आदर्शवाद मिथ्या और यथार्थवाद ही सत्य लगने लगे तो ऐसा लगना लाजिमी है।

यह इतना ऊंचा आदर्श है कि जब तक एक पूरा वर्ग त्याग और संयम और परंपरानिष्ठा का अति कठिन जीवन जीने को प्रस्तुत न हो और इस तरह ऋषि-मुनियों के आदर्श का कुछ 'नमूना' प्रस्तुत करने को तैयार न हो, यह संस्कृति साक्षात् जीवन-व्यवस्था में जीवित नहीं रह सकती। यह काम हमारे यहां समय-समय पर अवतरित हुए संतों-महापुरुषों के अलावा एक अपेक्षाकृत पार्थिव स्तर पर ब्राह्मण-वर्ग ने किया। उन पर वह जिम्मेदारी आई जो बुद्धिजीवी-वर्ग (इंटैलिजेंसिया) की यूरोप में है बल्कि उससे कहीं कठिनतर जिम्मेदारी। हजारों साल पहले इसने अपनी जिम्मेदारी निभाई भी। फिर इसमें ह्रास हुआ। उस ह्रास-युग में भी इसने किसी सीमा तक धर्म को, जीवन पद्धति में उनकी घुलावट को बचाए रखा। शास्त्र को लोक मे जोड़े रखा। किंतु समाज कमजोर होता गया। जाति-व्यवस्था, वर्णाश्रिय धर्म के आदर्श से विछिन्न होकर अपने ही मकड़जाल मे फंस गई और आक्रांताओं से अपनी रक्षा नही कर सकी। इस पराजय के गर्त में स्वाधीन जिज्ञासा कुंठित हो गई, ज्ञान की खोज की सामर्थ्य छीज गई और सृजन के बजाय महज संरक्षण से काम चलाने की लाचारी पैदा हुई। जीवन दरिद्र होता गया—वैराग्य और इहलोक के तिरस्कार की वृत्ति प्रबल हुई। अब जीवन का देवता अपनी उपेक्षा का बदला चुका रहा है—ऐसा लगता है।

भारत इसी स्थिति मे था कि अंग्रेजी राज आया। यह एक नए किस्म का आक्रांता था। अधिक ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, किंतु अधिक प्रच्छन्न आततायी। इससे टकराने पर भारत की जातीय स्मृति का पुनरुद्रेक हुआ। हम देख रहे है कि इस यूरोपीय शिक्षा को, राजनीतिक विचारों को, विज्ञान को हिंदुस्तानियों ने स्वायत्त किया। नए से नए साइंस और तकनीकी को इस भारतीय दिमाग ने पचा लिया है। उस तरह प्रगति खूब हुई है—आधुनिकीकरण भी हुआ है। कई विचारक मानते है कि भारत में आधुनिकता, परंपरा के साथ चल सकती है और चल रही है। वी० एस० नायपाल सरीखे भारत-निंदक भी अब भारत के बारे में अपनी राय बदल चुके हैं। उन्हें लगता है कि भारत ने आखिरकार यूरोप की प्रगति का सबक सीख लिया है और उसका तेजी से कायाकल्प हो रहा है; उसका भविष्य उज्ज्वल है। तकनीकी प्रगति को स्वायत्त करने में कोई बुराई नहीं है। पहले भी भारत ने कैसे-कैसे दुर्दिन देखे। इस धक्के को भी वह पचा लेगा, ऐसा उसे लगता है।

देखना यही है कि कहीं यह प्रगति हमारे पारिवारिक, सांस्कृतिक विवेक की संस्कृति की कीमत चुकाकर तो नहीं हो रही है? लक्षण वैसे ही दिख रहे हैं। मगर जब

हम श्री अरविंद सरीखे द्रष्टाओं की याद करते हैं तो लगता है, भारत नष्ट होने के लिए नही बना है। इतना तो भारत-विभाजन की थ्योरी गढ़नेवाले इक़बाल तक को दिख गया था कि 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'—मगर वह बात क्या है, यह इक़बाल की समझ से बाहर रहा होगा। वह बात गांधी और अरविंद ने समझी और पूरी दुनिया को समझाई है। इंग्लैड की वरिष्ठतम कवयित्री कैथलीन रेन ने मुझे अपने एक व्यक्तिगत पत्र मे लिखा था—'भारत बचेगा तो दुनिया भी बचेगी। विश्व मे भारत ही एक ऐसा देश है जिसकी संस्कृति सही मायनों में विश्वात्मक-विश्वजनीन है। भारत की पावनतामूलक दृष्टि विश्व-मानवता की एकमात्र आशा है। उसकी लौ को बुझने से बचाओ।'

मै समझता हूं, सारे दुर्लक्षणों के बावजूद भारतीयता के बचे रहने की आशा निराधार नही है। किंतु यह एक हवाई आदर्शवादी खामख्याली कहलाएगी—यदि हम समकालीन भारतीय आचरण के यथार्थ मे आंखें मूंदकर यह बात करें। हमें इस वास्तविकता का सामना करना होगा कि जो भी आदर्श, जो भी मूल्य भारतीय संस्कृति को उसकी विशिष्टता मे परिभाषित करते रहे हैं, उनमे से प्रत्येक का ठीक उल्टा आज हम अपने जीवन के सभी क्षेत्रों मे प्रत्यक्ष देख सकते हैं। मैंने इस लेख मे आदर्श और यथार्थ की घिसी-पिटी बात यूं ही नही उठाई थी। यह नहीं कि हमारे पुरखों को मानव-स्वभाव का यथार्थपरक ज्ञान नही था, या कि वे एक असंभव आदर्श के हठ मे सारी जटिलताओं को भुला देने के आदी थे। ऐसा कदापि नहीं है। जिस तरह मनुष्य की नीचता और मनुष्य की दु:खात्मकता का पूरा अहसास उनके सिर पर चढ़कर बोलता था—हमारे महाकाव्य साक्षी है इस बात के, कि जिस ट्रैजिक सेंस के अभाव का आरोप हम पर लगाया जाता रहा है, वह आरोप सर्वथा असंगत और हास्यास्पद जान पड़ता है—महाभारत रचनेवालों के लिए। किंतु यह तथ्य है कि उन्होंने ट्रेजेडी को उस तरह मान्य नही किया। क्यों नही किया, यह गहरे विचार का विषय है—उसमे यहां नही जाऊंगा। इसी तरह जिसे 'ईविल' कहा जाता है, जिसे मूर्त करने के लिए पश्चिमी संस्कृति या धर्म को शैतान की परिकल्पना, ईश्वर की परिकल्पना के साथ ही कर लेनी पड़ी—उसकी जानकारी भारतीयों को नही थी—यह कौन कहेगा? शायद ही पृथ्वी के किसी अन्य देश ने अपने लंबे इतिहास में इतनी विभीषिका, इतना नरसंहार, इतना आक्रमण-दमन, इतना अकारण द्रोह और त्रास भुगता हो, जितना भारत और भारत की सभ्यता ने। फिर भी, यदि हमने देवासुर-संग्राम के रूपक से मानवीय स्थिति को परिभाषित किया, दैवी-आसुरी सम्पद् की ही बात की और असुर की ऊर्जा को ही नहीं, उसकी मुक्ति-पात्रता तक को स्वीकार किया तो यह अत्यंत ऊंची आध्यात्मिक ज्ञान-दृष्टि के कारण ही संभव हुआ। अब, स्पष्ट ही ऐसे आदर्श के धरातल पर जी सकने वाले, उसे समझ सकने वाले लोग किसी भी युग मे कम ही होंगे। अब यदि वे अत्यल्प है, या कही नहीं दीखते तो यह भी सकारण

है। एक हजार साल की मोहनिद्रा से पूर्ण जागृति में पहुंच जाना आसान नहीं होता।

आज हम पाते हैं कि अनासक्ति-अपरिग्रह को सर्वोच्च मूल्य की तरह खोजने-बरतनेवाले भारत के समकालीन नागरिक सबसे ज्यादा भयंकर आसक्ति के शिकार है। पुत्र-मोह, सम्पत्ति-मोह, कीर्ति-मोह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गए दीखते हैं। शायद उच्चतम आदर्श से निम्नतम यथार्थ तक पैंडुलम पहुंचेगा—तभी संतुलन पैदा होगा, ऐसा लगने लगता है। इसी तरह आत्मा, आत्मान्वेषण जिस जाति के लिए मनुष्य का सबसे पहला और आखिरी सरोकार रहा हो, उसके प्रतिष्ठित सदस्यों को हम भयानक आत्मरति में लिथड़े देखते हैं। दूर क्यों जाऊं—साहित्य जैसे पवित्र क्षेत्र में मुझे दहशत होती है—जाने-माने साहित्यकारों से मिलकर—जब देखता हूं उन्हें अपने अलावा किसी में रस नहीं। उनकी यशोलिप्सा मन में जुगुप्सा जगाती है। अनासक्ति न उनके विचारों में नजर आती है, न जीवन में। इसी तरह सत्य और अहिंसा की जगह उनमें झूठ बोलने, अपने ही समानधर्माओं का चरित्र-हनन करने की लाइलाज कुटेव पड़ी दिखती है और वे इस अनाचार को ढकने और बुद्धिसम्मत ठहराने के लिए 'अपना मोर्चा' और 'रणनीति' जैसे मूल्य-निरपेक्ष लफ्फाजी का सहारा लेते हैं। 'अस्तेय' नामक मूल्य की विडंबना तो और भी उजागर है। चोरी सिर्फ सार्वजनिक धन की ही नहीं होती, उस श्रम की भी होती है जिसका वेतन आप भोग रहे हैं। 'मर्यादा' का जहां तक प्रश्न है, वह हर जगह लांघी जा रही है।

कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति[1] है कि विकार को पूरी तरह जाने—स्वीकार किए बिना उसके इलाज की शुरुआत की बात तक नही सोची जा सकती। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो इस तथ्य को याद रखना होगा। समसामयिक भारत के आचरणमत यथार्थ की उक्त चर्चा इसी सिलसिले मे प्रासंगिक है! 'हम अपना घर साफ रखें'—गांधी जी की यह चेतावनी और 'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा'—अज्ञेय के इस आह्वान की भी सार्थकता यही समझ में आती है। □

[1] विकारं परमार्थतोज्ञात्वा नारंभः प्रतीकारस्य।

प्रदूषण की समस्या और लोकसंस्कृति

डॉ० नर्मदा प्रसाद गुप्त

प्रदूषण की समस्या आज अंतरराष्ट्रीय चिंता का विषय है। इसके चलते संपूर्ण विश्व ही नहीं, प्रत्येक जीवधारी प्राणी के अस्तित्व की सुरक्षा पर प्रश्नचिह्न लग गया प्रतीत होता है। भारतीय लोक परंपराओं में प्रदूषण को लेकर एक चिंता और उसके उपचारी आश्वासन के मूलमंत्र बरसों से कायम रहे हैं तथा इस तरह से सुरक्षित और संचरित भी कि वे हमारे दैनिक जीवन के अंग बन गए हैं। पश्चिमी देशों की जीवन शैली की दौड़ में हम अपनी इस धरोहर को क्यों और कितना पीछे छोड़ते जा रहे हैं—इसके अनुमान की एक तथ्यपरक तस्वीर दिखाता है यह विचारगर्भित लेख।

प्रदूषण एक राष्ट्रीय समस्या है, जिसके संबंध में पूरा देश एकमत है कि यह भूमि शीघ्र ही प्रदूषणमुक्त हो। लेकिन कठिनाई यह है कि समस्या के प्रति जागरूकता का अभाव है। औद्योगिक विकास और आर्थिक मूल्य की दौड़ से पर्यावरण-संबंधी विभिन्न समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया है। बढ़ती आबादी के दबाव से वनों की कटाई के कारण और विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधनों के शोषण से स्थिति और भी विषम होती गयी। उदारीकरण से पनपा आर्थिक साम्राज्यवाद और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने वातावरण को विषाक्त करने में सहयोग दिया है।

मानव जीवन के आधारभूत तत्त्वों—मिट्टी, जल, वायु का प्रदूषण सबसे अधिक

हानिकारक है। वायु-प्रदूषण के कारणों में प्रमुख है रासायनिक कारखानों से निकलती जहरीली गैसें, जिनमें से एक ने कुछ वर्ष पूर्व भोपाल की एक बस्ती को गैस चैंबर ही बना दिया था। वैसे तो सभी कारखानों से उत्सर्जित विषाक्त धुएं से अनेक प्रकार की बीमारियों का जन्म होता है। वाहनों से निकलनेवाला धुआं भी प्रदूषण फैलाने में सहायक है। इसलिए प्राणघातक वायु के प्रतिशत बढ़ने से प्राणघातक बीमारियां— हृदयरोग, दमा आदि का प्रकोप उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। प्राथमिक उपचार की दृष्टि से प्रदूषण-नियमों का कड़ाई से पालन और प्रदूषणमुक्त वाहनों की व्यवस्था यथाशीघ्र होना जरूरी है।

जल-प्रदूषण की स्थिति सर्वाधिक भयंकर है। विभिन्न उद्योगों से निकले विषाक्त रसायनों और शहरों के मल-जल को बिना उपचारित किए नदियों-नालों में छोड़ने से 70 प्रतिशत जल प्रदूषित हो गया है, जिससे अनेक रोग फैल रहे हैं। नदियों का जल प्रदूषित होने से खाद्यान्नों और सब्जियों में भी विषाक्त तत्त्व फैलने का भय है। मनुष्य के शरीर में 70 प्रतिशत जल है और प्रदूषित जल पीने से उसमें भी प्रदूषण फैल सकता है। अतएव जल की शुद्धता के लिए उपचारित करने के नियम का पालन करवाना और जल-प्रबंधन आवश्यक है। इसी प्रकार मिट्टी में रासायनिक खादों के प्रयोग, कीड़े मारने के रसायनों और पॉलीथिन को मिट्टी में डालने से मिट्टी में भी प्रदूषण फैल गया है, जिससे भूमि की उर्वरा-शक्ति कम होती जा रही है। अनुसंधानकर्त्ताओं का मत है कि ऐसी ही स्थिति बनी रही, तो भूमि के बांझ होने का खतरा है, अतएव देशी खादों का प्रयोग होना चाहिए।

अन्य प्रदूषणों में ध्वनि-प्रदूषण प्रमुख है। ऊंची आवाज में बजते रेडियो, टी०वी०, लाउडस्पीकर और वाहनों के हॉर्न तथा कारखानों के सायरन आदमी को बहरा और मानसिक दृष्टि से विकलांग बना देते है, अतएव उनके पिच पर नियंत्रण करना जरूरी है। खाने-पीने की सामग्री भी मिलावट के कारण प्रदूषित हो गयी है। यहां तक कि सौभाग्य की प्रतीक मस्तक पर धारित बिंदी मिलावट के कारण त्वचा में सफेद दाग बना देती है, फिर खुजली से घाव हो जाता है। इसी तरह सिंदूर में मिला घटिया रसायन चर्म रोग का कारण है। होलिका-दहन में लकड़ियां जलने, दीपावली पर पटाखे चलने और रोली-गुलाल आदि से भी प्रदूषण फैलता है।

प्रदूषण से धरती का तापमान बढ़ा है, जिससे एक ओर पुरातात्त्विक भवनों, कलात्मक मंदिरों और जीवधारियों के स्वास्थ्य को खतरा है और दूसरी ओर वायुमंडल में ओजोन की क्षमता कम होने से कई रोगों के फैलने की आशंका है। विषाक्त जल और वायु, खाद्य-सामग्री और खाद्य-तेलों में मिलावट तथा वनों के विनाश के कारण अल्पवृष्टि या अतिवृष्टि से घातक बीमारियां फैल रही हैं। इनके अतिरिक्त दूरदर्शन, फिल्मों और नाटकादि में हिंसा, कामुकता, सुखभोग, ऐश्वर्य, शक्ति आदि के भौंडे और अश्लील दृश्य, संवाद और गीत देखने-सुनने से

मानसिकता प्रदूषित होती है, जिससे व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक संरचना विखंडित होती है। नारी के प्रति दूषित मनोभाव, मर्यादाहीन नारीत्व का प्रदर्शन और नारी की विज्ञापित देह-आभा के दृश्यादि मनोग्रंथिजनित मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं।

स्पष्ट है कि प्रदूषण के उपचार के लिए बढ़ती जनसंख्या का नियंत्रण, वनों की सुरक्षा, वृक्षारोपण, ग्रामीण विकास के प्रयास, वर्षा के जल का नदियों, सरोवरों और कुओं में संरक्षण, शुद्ध पेयजल की व्यवस्था, सामाजिक वानिकी की गतिशीलता, पर्यावरण के प्रति जनजागृति, प्रदूषण-नियंत्रण एवं निवारण-मंडलों की सक्रियता, राष्ट्रीय नदी-संरक्षण योजना, प्रदूषित जल को उपचारित करना, कारखानों से निकले विषाक्त रसायनों को उपचारित करना तथा शहरीकरण की सीमाओं का निर्धारण आदि प्रमुख उपचारी साधन हैं। साथ ही प्रदूषण-नियंत्रण की प्रगति हेतु जनसमितियों का गठन, शासन पर पूर्णतया निर्भर न होकर व्यक्तिगत एवं संस्थागत निर्णयों को व्यावहारिक रूप देना, पर्यावरण के समर्थन में एक पूरा ढांचा खड़ा करने के बाद प्रचार-प्रसार, समयबद्ध योजना बनाकर उसके हर चरण की प्रगति में सहयोग लेना आदि कुछ सामूहिक प्रयत्न हैं।

पर्यावरण चेतना की परंपरा

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण-चेतना वैदिक काल से मिलती है। ऋग्वेद में सूर्य जगत की आत्मा के रूप में वर्णित है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चं' (1/115/1)। वायु को औषधीय गुणों से युक्त मानकर प्रार्थना की गयी है कि वायु अपनी औषधियां लाकर हमारे सभी दोषों को दूर करे ('आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि पद्रप:'—ऋग्वेद)। इसी तरह जल में मल-मूत्र, थूक, रक्त या विष जैसे दूषित पदार्थों को विसर्जित करने से रोका गया है ('नाव्सु मूत्रं पुरोषं वा ष्टोवनं सभुटसृजेत। अमेध्यलिप्तभत्यद्वा लोहितं वा विषाणित।')। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में कहा गया है कि शरीर के लिए शुद्ध जल प्रवाहित होता रहे ('शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरंतु')। भूमि या पृथ्वी को माता की मान्यता प्रदान की गयी है—'माता भूमि:पुत्रोऽहं पृथिव्या:'।

उपनिषदों में सूर्य को 'प्राण' कहा गया है—'आदित्यो ह वै प्राण:'। रामायण में सूर्य को सर्वदर्शी माना गया है। महाभारत में सूर्यपुत्र कर्ण की कथा से सूर्य का लोक से जुड़ाव सिद्ध है। चरक जैसे आयुर्वेदाचार्य ने लिखा है कि घर का द्वार पूर्व अथ्वा उत्तर की ओर रखना चाहिए—'प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कृतागारं कारयेत्'। सूर्य को दृष्टिदाता और रोग-निवारक माना गया है। पौराणिक कथा के अनुसार सूर्य की कृपा से कृष्ण के पुत्र सांब का कुष्ठ रोग ठीक हो गया था। मुगल सम्राट अकबर के नये धर्म दीन-ए-इलाही में भी सूर्य की उपासना को अधिक महत्त्व दिया गया था।

हमारी संस्कृति में नदी को माता माना गया है और उनके जल में स्नान करने के पूर्व उनके चरण स्पर्श किए जाते हैं। गंगा जी पवित्र नदी कही गयी है, जिनके जल में स्नान करने से मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है। वृक्षों की भी सुदीर्घ परंपरा रही है। वैदिक और औपनिषिदिक काल में वृक्षों को देवता मानकर उनकी पूजा की जाती थी। पुराणों में सभी वृक्ष की जड़ मे ब्रह्मा, तना में विष्णु और शाखाओं में महेश्वर तथा पत्तों में सभी देवों का वास बताया गया है। ('मूले ब्रह्मा त्वचा विष्णु साखायाम महेश्वरः। पत्तम् सर्वदेवानाम् वृक्षदेव नमोस्तुते।') मत्स्य पुराण मे दस पुत्रों के बराबर एक वृ- का उल्लेख है—'दश पुत्रसमो वृक्षः'। रामायण मे राम, सीता का पता वृक्षों से पूछते हैं। महाभारतकार ने गीता मे 'पीपल' मे भगवान कृष्ण का वास बताया है। उसकी पत्तियां वेद हैं और उन्हें जाननेवाला वेदज्ञ है—'छंदासि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेद विज्ञ'। गौतम बुद्ध को पीपल वृक्ष के नीचे बोध प्राप्त हुआ था, इसलिए उसे बोधिवृक्ष कहा गया था। वृक्षों की पूजा सिन्धु घाटी की संस्कृति से आयी है। सिन्धु घाटी की मुद्राओं पर वृक्ष-पूजा के दृश्य चित्रित हैं। श्रीवृक्ष और कल्पवृक्ष, दोनों भारतीय मूर्तिकला के अद्भुत नमूने है, जिनमे कलाकार की कल्पना उत्कीर्ण हुई है। मौर्यकाल के कल्पवृक्ष को विशाल वटवृक्ष के रूप मे गढ़ा गया है, जिस पर मालाएं, वस्त्र, फल-फूल एवं मुद्राओं से भरे थैलों को लटकता दिखाया गया है। तुलसी का पौधा देवत्व कोटि का माना गया है, क्योंकि उसकी पत्तियों मे कई रोगों को समूल नष्ट करने की क्षमता है।

संक्षेप में, उक्त उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय संस्कृति में पर्यावरण-चेतना वैदिक युग की है और लोकसंस्कृति मे आज तक विद्यमान है। प्रदूषण और लोकसंस्कृति मे निहित उपचारित करनेवाले तत्त्वों को यहां निम्नांकित रूप में अंकित किया गया है:—

वायु-प्रदूषण और लोकसंस्कृति

वायु-प्रदूषण का सबसे उचित उपचार है वृक्षारोपण, जो केवल सौदर्य-सुषमा के लिए नहीं है, वरन् प्रकाश-संश्लेषण द्वारा वातावरण मे व्याप्त कार्बन-डाईऑक्साइड के सोखने और अधिकाधिक प्राणवायु (ऑक्सीजन) मुक्त कराने के लिए रामबाण है। देश के पर्यावरण के लिए सघन वन कितने जरूरी है, इसे अब शासन और जनता, दोनों समझते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि अधिक प्राणवायु देनेवाले वृक्षों को ही रोपा जाये। अब तो विज्ञानवेत्ताओं ने यह भी खोज कर ली है कि पीपल का वृक्ष 24 घंटे प्राणवायु छोड़ता है, लेकिन हम विदेशी वृक्षों के पीछे दौड़ रहे है! प्राणघातक वायु से जन-जन की रक्षा करने के लिए प्राचीन अज्ञात वैज्ञानिकों ने सहस्रों वृक्षों मे से पीपल, नीम और बरगद की हरी संकरी खोजी थी, जिसे आज भी ग्रामीणजन 'हरिसंकरी' कहकर उसे त्रिदेव का रूप मानते हैं। उन्होंने उसे अनिवार्यतः धारण करने

के लिए उपयोगी समझकर लोकसंस्कृति के लोकधर्म में ग्रहण कर लिया था।

हरी संकरी और हरिसंकरी का अंतर देखें। हरी संकरी का अर्थ है हरे-भरे वृक्षों का पुंज (संकर अर्थात् मिश्रण) और हरिसंकरी का अर्थ है विष्णु, ब्रह्म और शिव के त्रिदेव का समन्वित रूप। प्राचीन वृक्षविद्याविदों ने हरी संकरी से पीपल, नीम और वट वृक्षों के योग को सर्वाधिक उपयोगी मानकर बस्ती की हर अथाई में लगाने का प्रस्ताव किया था, जहां गांव-नगर का समूह हर दिन अवकाश के समय जुड़ता था। लोकविद्याविदों ने उसे त्रिदेव की संज्ञा देकर लोकधर्म का अंग बनाया और इस ढंग से हरी संकरी लगाना, ढारने से पानी सीचकर और धार्मिक भाव के कारण उसकी रक्षा अनिवार्य कर दी। अगर सही रूप में समझा जाये, तो लोकसंस्कृति के लोकधर्म का यह समाजकल्याण के उद्देश्य से संपादित कार्य था।

लोकधर्म के अंतर्गत वृक्षों की पूजा बहुत पुरानी थी। पीपल, वट, तुलसी, आंवला आदि की पूजा तो आज भी लोकसंस्कृति का अंग है। पहले तो प्राकृत में 'रुक्खमह' (वृक्षमह, बुंदेली में 'रुख' गांवों में वृक्ष के लिए प्रचलित है) वृक्षों की सामूहिक पूजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के आदि पर्व में (138/25) भी अधिक पत्तोंवाले फलदार वृक्ष को पूजनीय माना गया है। रुक्खधम्मजातक, महावाणिजजातक, रामायण, महाभारत आदि में वृक्ष-पूजा का परंपरित रूप अंकित है। भारतीयों को वृक्षों, लताओं, पुष्पों और समस्त वनस्पति के प्रति लगाव था, इसलिए वृक्षमह से वृक्षोत्सव और उद्यानमह से उद्यानोत्सव का उल्लेख मिलता है। गृहोद्यान और राजोद्यानों की प्रथा प्रचलित थी। यह उद्यान-परंपरा सुल्तनत, राजपूत, मुगल आदि से लेकर वर्तमान रियासतों के राजाओं तक चली आयी है।

वर्तमान में चैत शुक्लपक्ष की दसवी या पूर्णिमा को 'पिपरदसा' के व्रत में पीपल की पूजा, जेठ की अमावस्या को 'वट-सावित्री' के व्रत में वट या बरगद की पूजा, भादों के कृष्णपक्ष की षष्ठी को 'हलछठ' के व्रत में बेरी, कॉस और छेवला की पूजा, भादों के कृष्णपक्ष की अष्ठमी से क्वांर की कृष्णपक्ष की अष्ठमी तक 'मामुलिया' खेल में पुष्पों से सजी देवी की पूजा, कार्तिक पूर्णिमा को तुलसी की पूजा आदि में वृक्षों की पूजा लोकप्रचलित है, जिससे सिद्ध है कि लोकसंस्कृति का लोकधर्म आज भी लोकहित के दायित्व का निर्वाह करता है।

भारत के लोकोत्सवों—गिरिमह, वनमह, मदनोत्सव (वसंतोत्सव), कजरिया, जवारा आदि में पूजन, लोकगीतों और लोकाचारों द्वारा वनस्पति का सम्मान किया जाता है। पूजन में दूब, बेलपत्ती, पुष्पादि का प्रयोग, लोकसंस्कारों में भी केला के पत्ते, पुष्प, पुष्पमालाएं, दूब, मंडप पर जामुन की पत्तियां, आम के पत्तों के बंदनवार आदि, दशहरा और दिवारी में शमी की पत्ती से उनकी उपयोगिता का संकेत मिलता है। घरों, मंदिरों, स्त्रियो की सज्जा-श्रृंगार में भी वनस्पति को उचित स्थान मिला है। देवी तो वन के बीच मढ़िया में वास करना पसंद करती है और उनके देवल मे चारो

ओर सुगंधयुक्त पौधों की बगीची अनिवार्य है—

बागा लगा दओं मैया बेली चमेली, अंगना लाल अनार मां।
बनिया लगा देंव मैया निब्बू नारंगी, मढ़ में आबै बहार मां।।

देवी-देवता वृक्षों पर या वृक्षों के नीचे वास करते हैं। उन्हें वृक्षों के नीचे वास कराने की प्रथा सबसे पुरानी है। कुछ देवताओं को सुगंधित पुष्पों की माला के प्रति रुचि है और कुछ को पुष्प पर आसीन होने की। लक्ष्मी कमलासना कही जाती है, जबकि गणेश पुष्पमाल की हठ करते है—

गनेस देव गजरा खों बिरजे,
अरे गंजरा खों बिरजे, बे तो ठांड़े मालनियां के दोर रे,
गनेस देव हो...।

वृक्षों और लोकजीवन का संबंध बहुत घनिष्ठ रहा है। संबंध का एक रूप पारिवारिक है, जिसे संकेतात्मक शैली में व्यक्त करती है एक पुत्री, अपने पिता से कहती हुई—

निमिया कौ पेड़ौ जिन काटियो बाबुल,
निमिया में चिरई कौ बास मोरे लाल।
चिरई न काऊ दु:ख देय जु बाबुल,
बिटिया चिरइया की नाइ मोरे लाल।
सबरीं चिरइयां उड़इ जैहै बाबुल,
रै जैहै निमिया बिसूर मोरे लाल।
सबरीं बिटियां सासुरे बाबुल,
रै जैहै मइया बिसूर मोरे लाल।

इन पंक्तियों में नीम का माता से और चिड़िया का पुत्री से सबंध स्थापित किया गया है। जिस तरह नीम में चिड़िया का वास रहता है, उसी तरह माता के घर पुत्री का। चिड़ियों के उड़ जाने पर जिस प्रकार नीम विरह-वेदना सहती रहती है, उसी तरह बिटियों के ससुराल जाने पर माता। इसलिए बेटी पिता को नीम काटने से मना करती है। आज का लोककवि भी वृक्षों को काटना उचित नहीं मानता। ईसुरी ने कहा है कि वृक्ष तो काल (मृत्यु) को भी काट देता है—

इनपै लगे कुलरियां घालन, मउआ मानुस पालन।
इनैं काटबो नईं चइयत ते, काट देत जे कालन।।

वृक्ष-प्रेम का ऐतिहासिक उदाहरण है सुलतान महमूद बेगड़ा, जो 15वी सदी के उत्तरार्द्ध में गुजरात के अहमदाबाद की गद्दी पर आसीन था। वह अपने हाथ से वृक्ष लगाता, खाद देता, सींचता और उसकी देखभाल करता था। दो सप्ताह तक वन महोत्सव मनाता, पेड़ रोपनेवालों का सम्मान करता और उन्हें पुरस्कृत करता था। हर वर्ष कुमारी वृक्षारोपण-प्रतियोगिता आयोजित करता और सबसे अधिक वृक्ष रोपने पर

शाही सम्मान से विभूषित करता तथा 'वृक्षों की रानी' उपाधि प्रदान करता था। वृक्ष लगानेवाले को राज्य से सहायता देता था और पानी की व्यवस्था न होने पर वही कुआं खुदवा देता था।

औषधीय वृक्षों—बेल, नीम, पीपल, बरगद, जामुन, महुआ, देशी आम, आंवला आदि लगाने की परंपरा रही है, पर आज तो उन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। इतना अवश्य है कि बेल की पत्ती शिवजी की मूर्ति पर चढ़ायी जाती है और आंवला के नीचे उसकी पूजा के बाद गोट होती है। वसंतोत्सव के फाग गीतों में भी वृक्षों को काफी महत्त्व मिला है, लेकिन एक दिवारी गीत में तो एक वृक्ष ने एकता का जो रूप खड़ा कर दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

एक पेड़ मथुरा जमो, डार गयी जगन्नाथ रे।
फूल जो फूल्यो द्वारिका, फल लागे बद्रीनाथ रे।

जल-प्रदूषण और लोकसंस्कृति

वन जहां वायु-प्रदूषण के नियंत्रण में सहायक है, वहां जल-संचयन, बाढ़ को संतुलित करने और प्रदूषण-नियंत्रण में उपयोगी भूमिका अदा करता है। लोकसंस्कृति में जल को देवता मानकर उसकी पूजा का विधान है। विद्वानों ने जल को उपयोगी और कल्याणकारी ठहराया है, इसीलिए नदीमह, तड़ागमह, सागरमह के लोकोत्सवों में नदी, सरोवर और सागर की पूजा की जाती थी। वैदिक काल में जल को पवित्र मानकर इन लोकोत्सवों को लोकधर्म में सम्मिलित कर लिया गया था। रामायण और महाभारत में सरिताओं को माताएं और फलप्रदा कहा गया है (भीष्म पर्व, 9/37-38)। नदीयात्रा और तड़ागयात्रा का ही समाहार मकरसंक्रांति के स्नान से हुआ है। कुम्भ और अर्द्धकुम्भ या कुम्भी के लोकोत्सव उसी परंपरा के है, जिनको आज भी लोकमान्यता प्राप्त है।

लोक में जल के महत्त्व की मान्यता के साक्षी आज की लोकसंस्कृति में विद्यमान है। मकरसंक्रांति और कुम्भ के स्नान के अतिरिक्त कार्तिक मास में नहानेवाली कतकारीं किसी नदी या सरोवर में स्नान करती हैं, तो उस सामूहिक स्नान के पहले जल में अक्षत डालकर उसकी पूजा करती है। लोकसंस्कारों में कुआं-पूजन, विवाह के पूजन और पितरों के श्राद्ध जल की महत्ता का संकेत करते है। लोकाचारों का निष्पादन जल के बिना पूरा नही होता। इसीलिए अंधे कुआं उघरना और फूटे ताल बंधाना पुण्यकार्य माना गया है।

इस प्रकार लोकसंस्कृति का लोकधर्म और लोकमूल्य शुद्ध जल है। उसके लोकसंस्कारों और लोकाचारों में प्रदूषणरहित जल का महत्त्व है, इसीलिए लड़की के पांव पखारने में गंगा, जमुना और तीर्थराज प्रयाग सभी एक साथ पवित्रता का वातावरण निर्मित कर देते है— *'बिच गंगा बिच जमुना तीरथ बड़े हैं पिराग/जहं बिच*

बैठे बाबुल मोरे देत कुआंरन दान/जो तुम दैहौ स्यामा गैया सुन्नें सीग मढ़ाय/दइयो भैंस जनेई साजन को खोवा खाय/दइयो बैल मलनियां आंगूं दलांकत जाय।' मड़वा के भीतर ही तीर्थ माना गया है—'मड़वा भीत बाबुल गंगा बहत हैं *उतई है तीरथ पिराग*' और अन्य पंक्तियों में गाय, भैंस और बैल के दान में किसानी भौतिकता है। इस प्रकार मांगलिक और आनुष्ठानिक कार्यो मे जल की पवित्रता ही कल्याणकारी है।

ध्वनि-प्रदूषण और लोकसंस्कृति

ध्वनि-प्रदूषण तेज बजनेवाले लाउडस्पीकर और अन्य मशीनो में लगे स्पीकरों की देन ह। लोकसंस्कृति मे ध्वनि के अपव्यय के प्रति सचेतनता थी, इसी का साक्ष्य है वष भर रहनेवाले व्रतों में मौन रहने का संकल्प, कार्तिक नहानेवाली कतकारियां एक दिन सामूहिक मौन धारण करती थी। दिवारी मे मौनव्रत रखनेवाले मौनिया कहलाते हैं। एक ओर दिवारी लोकगीत तार सप्तक मे चरागाही टेर से गाये जाते है और उसकी संगति ढोल एवं नगाड़िया के तीव्र स्वरो से होती है तथा बीच में रमतूला की चीख छा जाती है, तो दूसरी ओर मौनियां नर्तक मौन रहकर नृत्य करते हुए स्पष्ट करते हैं कि ध्वनि के अधिक व्यय से रक्षा हेतु मौन रहना हितकर है।

मत्स्य पुराण में दी गयी देवियों की सूची मे शांतिका और धृति, दो देवियां ऐसी हैं जो शांति और धैर्य की देवी हैं और जिनसे शांति का महत्त्व स्थापित होता है। लोकसंस्कृति के सभी व्रत-उपवास शांति की महत्ता को मानकर पूर्ण होते हैं। उसके लोकमूल्यों में निस्तब्ध साधना की स्वीकृति है, लोकधर्म और लोकभक्ति मे मौन जाप की मान्यता है तथा लोकाचरण मे 'कुठाकुर सेवा' की वर्जना है। ये कर्कश ध्वनियां और ध्वनि-यंत्र 'कुठाकुर' अर्थात् अहितकर स्वामी है, अतएव इनसे सुरक्षित रहने की सीख लोकसंस्कृति मे निहित है।

भूमि-प्रदूषण और लोकसंस्कृति

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त का बीज मंत्र है—'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या:', जिसका अर्थ है कि भूमि हमारी माता है और हम पृथिवी के पुत्र हैं। वैदिक काल मे भूमि को काफी महत्त्व मिला था। वस्तुत: सिन्धुघाटी के क्षेत्र मे मातृदेवी की पूजा लोकप्रचलित थी, जिसकी परंपरा में देवी, मही माता और माताभूमि (भूदेवी) की पूजा आज भी विद्यमान है। बुंदेलखंड जनपद में भूदेवी (भुइयां रानी) की पूजा भादों के माह में शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को होती है। इस प्रकार लोकधर्म मे भूमि का महत्त्व लोकमान्य है।

लोकाचार के रूप में भी भूमि के प्रति श्रद्धा का भाव रहता है। व्यक्ति प्रात: जागने पर भूमि के स्पर्श को मस्तक पर लगाता है, यज्ञ करने और मकान बनवाने मे भूमि-पूजन सबसे पहले किया जाता है तथा हर धार्मिक अनुष्ठान में भूमि-पूजन को

प्राथमिकता दी जाती है। कृषिपरक लोकोत्सवों में भूमि की पूजा इसलिए होती है कि वह अधिक उपज देने की कृपा करे। अखाड़े में कुश्ती लड़नेवाले पहलवान भूमि-रज को अपने मस्तक पर लगाते हैं। आशय यह है कि लोकसंस्कृति में भूमि को श्रद्धा की दृष्टि से महत्त्व दिया गया है, अतएव उसे प्रदूषणमुक्त करना भी लोक का दायित्व है।

मिट्टी की मूर्तियां बनाने के लिए लोककलाकार जब मिट्टी लेने जाता है, तब वह मिट्टी की खदान का पूजन करता है। मांगलिक कार्यों विवाहादि में चूल्हे, वेदिका आदि के लिए स्त्रियां समूह में मिट्टी लेने जाती है, तो पहले भूमि का पूजन करती है और हल्दी, अच्छत, दूब चढ़ाकर गुड़-घी का भोग लगाती है तथा पृथिवी को आमंत्रित करती है। लोकगीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार है—

सात सुहागिन पौची खदनियां, बिन्ती करत कर जोर हो।
चांवर चंदन फूल चढ़ाउत, घी गुड़ के भोग लगाउत
हम माता तुमें न्योंतन आये, चलियो अंगना बीच हो।
तुम बिन माता काज न हुईहै, बिन्ती करत कर जोर हो।

अन्य प्रदूषण और लोकसंस्कृति

खाद्य सामग्री और श्रृंगार-प्रसाधन में मिलावट का विरोध लोकसंस्कृति ने दो प्रकार से किया है—एक तो शुद्धता के मूल्य का समर्थन करते हुए और दूसरा मिलावट के फल अर्थात् दंड को लोकसाहित्य द्वारा अभिव्यक्त करते हुए। दोनों की बानगी एक बुंदेली लोककथा में मिलती है, जो आज भी भादों की कृष्णपक्ष की षष्ठी को हलछठ व्रत में कही जानी है। उसके कथानक में एक कृषक गूजरी या अहीरन दूध में मिलावट कर बेचती है, जिसके कारण खेत में हल से पेट फट जाने पर उसका बच्चा मर जाता है। लेकिन जब वह अपना दूध बिना मिलावट के बेचने का संकल्प करती है, तो चिकित्सा से बच्चे का पेट जुड़ जाता है और वह जीवित हो जाना है। इस तरह अहीरन के पश्चात्ताप और शुद्धता की प्रतिज्ञा से बच्चे को जीवन मिलना मिलावट के प्रदूषण का कथाशैली में विरोध है, जिससे उपदेशात्मकता के कारण कोई प्रतिक्रिया खड़ी नहीं होती। लोककथाएं पूरे परिवार के एक विद्यालय हैं।

मानसिक प्रदूषण और लोकसंस्कृति

लोककथाएं दादा, नानी और माता के द्वारा कही जानेवाली वे कथाएं हैं, जो सोते समय बच्चों को सुनाकर उन्हे भविष्य के लिए दीक्षित किया जाता है। वे बच्चों को अप्रत्यक्ष रूप में सीख देकर उनकी मानसिकता बदलकर उनके सामाजिक व्यक्तित्व को तैयार करती हैं। इस कारण वे सही और लोकोपयोगी मानसिक वृत्तियों के स्वामी बन जाते है और उन्हें दूषित वृत्तियों से हिचक होती है। भौतिकता के दबाव में बेईमानी, शोषण और काला बाजारी, बेरोजगारी के कारण लूट-खसोट, अपहरण

और आतंकी गतिविधियां तथा गरीबी की मजबूरी में चोरी, डाकेजनी और हत्या से व्यक्ति दूर रहता है, अवसर मिलने पर भी उसकी आत्मा नहीं मानती तथा अपराध करने पर भी वह समर्पण कर देता है।

सांस्कृतिक प्रदूषण और लोकसंस्कृति

सांस्कृतिक प्रदूषण वह है, जो परंपरित संस्कृति के लोकोपयोगी स्वरूप में हस्तक्षेप कर अहितकर मूल्यों और आचरण को थोपता है। यह प्रक्रिया दो रूपों में घटित होती है। एक तो संक्रमण-काल में जब पुराने मूल्य नये समाज के लिए उपयोगी नहीं ठहरते और नये मूल्य (उपयोगी या अनुपयोगी) घुसपैठ करते है। दूसरे जब कोई विदेशी संस्कृति पहले की संस्कृति पर हमला करती है, तब अनुपयोगी मूल्य और आचरण, खासतौर से परंपरित संस्कृति से अनमेल होने पर भी प्रतिष्ठित होने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप भौतिक मूल्यों का अनपेक्षित दबाव और नये फैशनों को अपनाने से अर्द्धनग्न सौंदर्य के कारण बढ़ती भोगमूलक प्रवृत्ति एक नये परिवर्तन को इंगित करती है, जिसके कारण बलात्कारों के प्रकरण प्रतिदिन समाचार-पत्रों की सुर्खियों में होते है।

लोकसंस्कृति का फैलाव ही उपचार है इस सांस्कृतिक प्रदूषण का। लोककथाओं के उपचार का एक उदाहरण दिया जा चुका है, जो बचपन से ही बच्चों को संस्कारित करता है। उनसे बच्चे की सांस्कृतिक मानसिकता इतनी दृढ़ और पुष्ट (स्वस्थ) हो जाती है कि वह सांस्कृतिक प्रदूषण से रक्षा करने के लिए कड़ा संघर्ष करती है और विजयी भी होती है। वस्तुत: मानसिक दृढ़ता ही ऐसी केंद्रक शक्ति है, जो प्रदूषण पास नही आने देती। व्रतकथाओं में 'सत्यनारायण' का सत्य, 'हरितालिका' की साधना-तपस्या, 'सोमवती अमावस की कथा' में पातिव्रत्य, 'भैयादूज' में भ्रातृप्रेम, 'आसमाई' में आशा-आस्था, 'गणगौर' में सद आदि लोकमूल्य किसी भी प्रदूषण की राह में दीवार की तरह खड़े हो जाते हैं। 'फूलनदे रानी' और 'बनखंडी रानी' का संदेश है कि कुकर्मों का फल अवश्य मिलता है। 'दिवारी' की कथा में शराब पीना, जुआ खेलना और वेश्यागमन की वर्जना है। वर्जनापरक और भी लोककथाएं हैं।

एक दूसरा उदाहरण 'नौरता' खेल का है, जो क्वांर की 'नौदेवी' को नौ दिन खेला जाता है। उसमें सभी क्वांरी लड़कियां चौक पूरती अर्थात् विभिन्न रंगों में चित्रांकन करती हैं, मूर्ति बनाती हैं और नाचती-गाती है। सभी लोककलाओं की शिक्षा अनुकरण द्वारा स्वयंमेव प्राप्त होती है। बड़ी लड़कियों को देखकर छोटी लड़कियां नौ दिन बार-बार वही दुहराती हैं, जिससे चित्र लिखने, मूर्ति बनाने, नृत्य और संगीत की प्रक्रिया समझ में आ जाती है। ये लोककलाएं भारतीय प्रतीकों और पद्धतियों का पारंपरिक रूपायन है। इस प्रारंभिक सीख के बाद कोई भी कलाकार भारतीय पद्धति पर ही आधारित रहेगा।

□

आयु के चौथे चरण में

डॉ० बरमेश्वरनाथ राय

वर्ष 1999 को अंतरराष्ट्रीय वृद्ध वर्ष घोषित किया गया था। हो भी क्यों न, इस वर्ष तो शताब्दी और सहस्राब्दि ही बूढ़ी हो गई हैं। मगर वास्तव में वृद्ध कौन है, कितना है, और है तो क्यों... और आज इस भागती-दौड़ती जिंदगी में वृद्धों के लिए कितनी जगह रह गई है और कितनी जगह उनके लिए होनी चाहिए, इन सवालों के साथ प्रस्तुत है यह लेख जिसमें यह समस्या ही नहीं, इसका समाधान भी दिया गया है।

अनुभव यह कहता है कि वृद्ध अस्सी वर्ष का जरठ व्यक्ति भी हो सकता है और तीस वर्ष का जवान भी। वृद्धता मात्र आयु-सापेक्ष नहीं होती; इसका दूसरा छोर कहीं न कहीं ज्ञान और अनुभव के साथ भी जुड़ता है। 'रघुवंशम्' का एक श्लोक है:

''अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना।'' 1/23

अर्थ है: विषय-वासनाओं से असंपृक्त, समस्त विद्याओं में पारंगत और धर्म में अनुरक्त राजा दिलीप आयु से बूढ़े न होने पर भी वृद्ध हो गये हैं। 'वृद्धत्वं जरसा विना'—बुढ़ापे के बिना ही वृद्धता; युवावस्था में ही वृद्धता के लक्षणों का प्रकट हो जाना। इंद्रिय-निग्रह, विद्वत्ता और धर्मपरायणता, वृद्धता के ये ही नित्य लक्षण हैं। यह उक्ति किसी साधारण व्यक्ति की नहीं, कविकुलगुरु कालिदास स्वयं ऐसा कह गए है।

'वृद्ध' शब्द का शाब्दिक अर्थ होगा—'वृद्धि से संपन्न', 'वृद्धि से युक्त';

ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'शुद्ध' का अर्थ होता है 'शुद्धि से संपन्न' और 'बुद्ध' का 'बुद्धि से संपन्न'। यह वृद्धि आयु की भी हो सकती है और विद्या, धर्म अथवा अनुभव की भी। इसलिए जिस व्यक्ति मे आयु, विद्या, धर्म अथवा अनुभव की वृद्धि हो गयी है, वही वृद्ध है। वृद्धता का लक्षण, मात्र आयु का अधिक हो जाना नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि शब्दकोश भी करते है जिनमें 'वृद्ध' का एक अर्थ 'साठ वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति' दिया गया है तो दूसरा अर्थ 'विद्वान' और 'अनुभवी' भी। सामान्य लोकाचार में भी, आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और अनुभववृद्ध की चर्चा आ जाती है। यह बात अलग है कि जनसाधारण मे 'वृद्ध' शब्द का व्यवहार 'आयुवृद्ध' के संकुचित अर्थ में ही किया जाता है। अपने सामान्य और बहुप्रचलित अर्थ मे यह उस व्यक्ति के विशेषण के रूप मे आता है जो साठ वर्ष की आयु पूरी कर चुका है अथवा इंद्रियों के शिथिल पड़ जाने के कारण साठ से ऊपर का दिखता है। यह मान्यता 'जीवेम शरदः शतम्' के आदर्श पर आधारित है। यदि एक स्वस्थ व्यक्ति की औसत आयु सौ वर्ष है तो उसके वृद्ध होने की निम्न सीमा साठ वर्ष स्वीकृत करना अनुचित नहीं है। इसी मान्यता के आधार पर सरकारी अथवा अर्द्धसरकारी सेवाओं मे कार्यरत अधिकांश कर्मचारियों को साठ वर्ष की आयु पूरी करते ही कार्यमुक्त कर दिया जाता है। किंतु, 'वृद्ध' का अर्थ मात्र 'आयुवृद्ध' करना, इस शब्द को विकलांग बना देना है।

वृद्धो की मूलतः दो कोटियां है—आयुवृद्ध और ज्ञानवृद्ध। अनुभववृद्ध की कोई अलग कोटि नही होती। आयुवृद्ध भी अनुभववृद्ध हो सकता है और ज्ञानवृद्ध भी। अनुभव तो आयु और ज्ञान के साथ-साथ अपने आप बढ़ता जाता है। आयुवृद्ध होने के लिए जराग्रस्त होना आवश्यक है, किंतु ज्ञानवृद्ध के लिए इसकी कोई बाध्यता नही।

अनादि काल से अपनी जययात्रा पर निकला हुआ मानव ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति और भाषा के जिन नये ध्रुवों पर झंडा फहराता आया है; समाज-व्यवस्था, राजनीति-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था से संबंधित जिन वैज्ञानिक नियमों का आविष्कार करता आया है, उन सबको नई पीढ़ी तक पहुंचाने का कार्य, मौखिक और लिखित दोनों रूपों मे, समाज के वृद्ध लोग ही करते रहे है। मनुष्य, लाखों और करोड़ो वर्षो के संचित ज्ञान और अनुभव को बड़ी सहजता से अपने माता-पिता, बड़े-बुजुर्गों एवं गुरुजनों से प्राप्त कर लेता है। यदि हर युग के हर व्यक्ति को नये सिरे से ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग करने पड़ते तो आज भी हम जंगलों और पर्वतों की गुफाओं में रहकर वन्य-जीवन बिताने को बाध्य होते। शक्ति और सामर्थ्य के जिस उच्च शिखर पर आरोहण करके आज हम गर्व का अनुभव करते है, उस ऊंचाई तक पहुंचाने का श्रेय हमारे वृद्ध-वर्ग को ही है। अभिनव मनुष्य अपने पूर्वजों की उपलब्धियों तक इन्हीं वृद्धजनों को सेतु बनाकर पहुंचता है। बिना इनकी सहायता के

वह अपने अतीत से कटकर अधर में लटक जाएगा। इनके माध्यम से प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों का हमारे पास कोई प्रतिदान नहीं है। बस, इसके लिए हम इनके कृतज्ञ हो सकते हैं। इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए ही हमें 'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव' और 'आचार्य देवो भव' का उपदेश दिया गया है और प्रकारांतर से समस्त वृद्ध-वर्ग के प्रति सम्मान-भाव रखने की सलाह दी गयी है।

विडंबना यह है कि आज पुरानी पीढ़ी के प्रति हमारी बुद्धि निरंतर क्षीणतर होती जा रही है। अपने बड़े-बुजुर्गों का तिरस्कार एवं उपेक्षा करना आधुनिक समाज के लिए आम बात हो गयी है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने हमारे चिंतन को इतना प्रतिगामी और कुंद बना दिया है कि अपनी सभ्यता और संस्कृति के सारे उच्चादर्शों को हम कौड़ी का तीन मानने लगे है। युग-युगांतर की अथक साधना से अर्जित अपने पुराने जीवन-मूल्यों और नैतिक मान्यताओं से हमें वितृष्णा होने लगी है। भारतीय संस्कृति की मौलिक उपलब्धियों और इसके उदात्त तत्त्वों के प्रति सम्मान भाव रखने में बुर्जुआ और रूढ़िवादी कहे जाने का खतरा हमें भयभीत करने लगा है। कुटुंब अथवा परिवार का स्थान आज फेमिली ने ले लिया है। परिवार, अर्थात् खून के रिश्ते में बंधा हुआ एक भरा-पूरा लघु समाज, जिसका हर सदस्य एक-दूसरे के लिए अपनी जान तक देने के लिए तत्पर रहता था, और जिसमें पितामह-प्रपितामह से लेकर पौत्र-प्रपौत्र तक कम से कम चार-पांच पीढ़ियां समाहित रहती थीं। किंतु, फेमिली इतनी उदार नहीं। वह इतने लोगों का बोझ नही ढो सकती। पति, पत्नी और उनके बच्चे, बस। वह इतना ही समा सकती है। अब तो बच्चे भी फेमिली की परिधि से बाहर होते जा रहे है। जब अपने ही बच्चे फेमिली से बाहर कर दिए गये तो फिर बड़े-बूढ़ों को कौन पूछता है? जीवन की सांध्य-वेला में वे अपने ही परिवार में, अपने ही बाल-बच्चों यानी पौत्रों-पुत्रों से तिरस्कृत होकर 'निर्वासन' और 'आउट साइडर' का अभिशाप झेलने को विवश है।

वृद्ध हमारे समाज के सिर है। सिर अर्थात् पहचान। सिर काट दीजिए, पहचान गायब हो जाएगी। हमारी पहचान आज इसलिए खोती जा रही है कि हमने अपने सिर को ही धड़ से विच्छिन्न करना शुरू कर दिया है। जीवन के श्रेय और प्रेय से परिचय करानेवाले अपने गुरुजनों को ही अपने से अलग करना शुरू कर दिया है। जब हमारे समाज का मस्तिष्क ही विकल है, वृद्ध-वर्ग ही लांछित और प्रताड़ित हो रहा है, ऐसे में यदि हमारा वर्तमान रोग, शोक, कुंठा और संताप से ग्रस्त है तो इसमें आश्चर्य क्या? हम कही अपने लक्ष्य से भटक न जायें, हमारे शरीर और आत्मा पर कोई खरोंच न लग जाए और हमारा जीवन-पथ कही अंधकाराच्छन्न न हो जाए, इसके लिए दिन-रात अपने को जलाकर जीवन-ज्योति बिखरनेवाले, पल-प्रतिपल कच्छप की तरह हमें छापकर बैठनेवाले, करुणापूरित नेत्रों से वात्सल्य और आशीर्वाद की अनवरत वर्षा करनेवाले पितामहों-प्रपितामहों के प्रति कृतज्ञ न होना—हमारी सांस्कृतिक

दरिद्रता के लक्षण है। और दरिद्रता, चाहे जैसी हो, हमारी आत्मा को कमजोर अवश्य करती है। हम यह भूल गये हैं कि चावल जितना ही पुराना होता है, उसमें सुगंध उतनी ही अधिक होती है। सोने में सुगंध की कल्पना यदि कहीं की जा सकती है तो मात्र वृद्धों में ही। ये एक ही साथ स्वर्ण भी हैं और सुगंध भी। इनके अगाध अनुभव एवं ज्ञान-समृद्धि के स्वर्ण में शील और सदाचार की लोकोत्तर गंध मिली हुई है। इनके प्रति श्रद्धा और पूज्यबुद्धि की प्रतिष्ठा किए बिना हमारे जीवन में मंगल की अवतारणा नहीं हो सकती। स्वयं को ऊर्जस्वित और महिमा-संपन्न बनाने के लिए हमें अपने कर्त्तव्य-कर्मों को समझना ही होगा; अपने दायित्वों के प्रति जाग्रत होना ही होगा। इसके अतिरिक्त हमारे त्राण का कोई दूसरा उपाय नहीं।

वृद्ध-वर्ग के प्रति हमारे दायित्व मुख्यत: दो तरह के है। एक का संबंध इनकी मानसिक संतुष्टि और सुख-शांति से है और दूसरे का जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से। मानसिक संतुष्टि और सुख-शांति के लिए इन्हें आदर चाहिए, सम्मान चाहिए, श्रद्धा चाहिए, पारिवारिक सुख-शांति चाहिए, सामाजिक अंतरंगता चाहिए। और ये सब चाहिए इसलिए कि ये ज्ञान और अनुभव से समृद्ध है, मानव-जाति द्वारा अर्जित अब तक की समस्त विद्याओं के जानकार है। हमारा व्यक्तित्व इन्ही का कृतित्व है, जिसे अपना खून-पसीना एक करके बड़ी तन्मयता से इन्होंने गढ़ा है। हमें अपने जीवन का संपूर्ण पाथेय इन्ही से प्राप्त हुआ है। इनके प्रति अभिवादनशील होकर हम अपने को ही समृद्ध करेंगे; अपनी जीवनदृष्टि को व्यापक बनाकर वैयक्तिकता की क्षुद्र सीमा से बाहर निकल सकेंगे; उच्च मानव-मूल्यों के प्रति विश्वास पैदा कर सकेंगे, आयुष्मान, विद्वान, यशस्वी और बलिष्ठ हो सकेंगे :

''अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन:।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।'' मनु स्मृति/2/121

अद्‌भुत है यह श्लोक। श्लोक नही मंत्र है यह। 'अभिवादनशीलस्य' और 'वृद्धोपसेविन:' मात्र दो पदों के माध्यम से वृद्ध-वर्ग के प्रति हमारे समस्त दायित्वों के सूत्र उपस्थित कर दिए गये हैं। अपने पुराण-पुरुषों के प्रति अभिवादनशील होकर और सेवा-भाव रखकर हम इन्हें सभी समस्याओं से मुक्त कर सकते है। ये चीजें ऐसी हैं जिनके लिए न समय की जरूरत है, न श्रम की। अर्थ की भी अपेक्षा नही है इसके लिए। हमें कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे इन्हें लगे कि परिवार और समाज के लिए ये फालतू और बेकार हो गये है और इसीलिए इन्हें उपेक्षित, तिरस्कृत और अपमानित किया जा रहा है।

हमारा दूसरा दायित्व है वृद्ध-वर्ग के पोषण का; उनकी स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति का। हमें वृद्धोपसेवी होने का उपदेश इसी संदर्भ में दिया गया है। 'वृद्धोपसेविन:' शब्द के यहां दो अर्थ है—वृद्धों के समीप रहकर उनकी सेवा

करनेवाले, और वृद्धों के समीप रहकर उनके ज्ञान और अनुभव का सेवन करनेवाले। निहितार्थ है कि वृद्धों के समीप रहकर उनकी सेवा करने से एक ओर जहां उनके भौतिक कष्टों और तात्कालिक आवश्यकताओं पर पल-प्रतिपल नजर रख सकेंगे, वहीं उनके ज्ञान और अनुभव से निरंतर अपने को समृद्ध करने का अवसर भी प्राप्त करते रहेंगे।

विचारणीय यह है कि वृद्ध-वर्ग की स्थूल समस्याएं किस तरह की है और उन समस्याओं के समाधान के लिए किस तरह की सेवा की उन्हें आवश्यकता है? इन प्रश्नों का उत्तर पाना कठिन नहीं है। चूंकि वयोवृद्धता का प्रथम लक्षण शारीरिक शैथिल्य है, अतः सेवा की शुरुआत शरीर के स्तर से ही होनी चाहिए। वृद्ध होने पर शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। शक्ति क्षीण हो जाती है, अंग शिथिल पड़ जाते हैं, नेत्र-ज्योति मलिन और श्रवण-शक्ति मंद पड़ जाती है। ऐसी दशा में इन्हें सहारे की जरूरत होती है। यह सहारा कौन देगा? हम और आप ही तो!

वृद्ध-वर्ग की शेष समस्याएं किसी न किसी रूप में अर्थ से जुड़ी हुई हैं। भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, आवास आदि मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ की अनिवार्यता अपरिहार्य है। इसलिए आर्थिक समस्या के उचित समाधान हेतु यह आवश्यक है कि सामाजिक और आर्थिक स्थिति के आधार पर वृद्ध वर्ग को दो श्रेणियों में विभक्त कर लिया जाए। पहली श्रेणी ऐसे वृद्धों की होगी जो आजीवन कृषि, मजदूरी अथवा निजी व्यवसाय में लगे रहे और अब वय के अधिक हो जाने के कारण शारीरिक श्रम करके अपने लिए रोजी-रोटी जुटाने में असमर्थ हो गये है। दूसरे प्रकार के वृद्ध वे है जो किसी सेवा से निवृत्त होकर पेंशन प्राप्त कर रहे है। स्पष्ट ही, पेंशन-भोगी वृद्ध-वर्ग के समक्ष अर्थ की कोई समस्या नहीं है। इन्हें पेंशन के रूप में इतनी धनराशि अब भी मिल जाती है जितने में उनकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति उनके सामाजिक स्तर के अनुरूप हो सकती है। यह अलग बात है कि कुछ ऐसे भी कुपुत्र हैं जो पेंशन की धनराशि को हड़पने के उद्देश्य से ही अपने वृद्ध माता-पिता को प्रताड़ित और आतंकित करते रहते हैं। अर्थ की मौलिक समस्या केवल प्रथम वर्ग के वृद्धों के समाने ही है जो श्रमजीवी रहे हैं, किंतु अब श्रम करने की स्थिति में नहीं हैं। ऐसे वृद्धों के लिए कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

वृद्ध-वर्ग के पोषण से संबंधित उक्त दोनों प्रकार की समस्याओं (शारीरिक और आर्थिक) के निराकरण हेतु जो दायित्व हमारे ऊपर आते हैं, उनका निर्वाह करना सहज नही है, खासकर आर्थिक दायित्वों का। वृद्ध-वर्ग की समस्या मात्र एक व्यक्ति अथवा परिवार की समस्या नही है, यह एक राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय समस्या है। अतः इसका निदान भी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय धरातल पर ही संभव है। इस दिशा में ठोस उपलब्धि अर्जित करने के लिए तीन स्तर पर प्रयास करने होंगे—वैयक्तिक

स्तर पर, सामाजिक स्तर पर और शासन के स्तर पर।

शारीरिक सेवा का सुपरिणाम मूलतः व्यक्तिगत धरातल पर ही संभव है। हर परिवार के हर एक वृद्ध के पास दिन-रात बैठकर उन्हें उठाने-बैठाने, नहलाने-धोने और खिलाने-पिलाने का काम न तो समाज कर सकता है और न ही शासन-प्रशासन। इस दायित्व का निर्वाह तो घर के सदस्य ही कर सकते हैं। यदि हर परिवार अपने-अपने घर के बड़े-बूढ़ों की शारीरिक सेवा के दायित्व का पालन ईमानदारी से करने लगे तो वृद्ध-वर्ग को अपरिमित सुख मिल सकता है। इसलिए हमें चाहिए कि अपने माता-पिता के पास रहकर अथवा अपने पास उन्हें रखकर, उनकी अधिक से अधिक सेवा करने का प्रयास करें। इस निमित्त पति अथवा पत्नी तथा बच्चों को भी प्रेरित करें।

यह सही है कि घोर यांत्रिकता के इस युग में दिन-रात वृद्धों के समीप बैठकर उनकी शारीरिक सेवा कर पाना सबके लिए संभव नही है, खासकर ऐसे व्यक्तियों के लिए जो किसी सेवा अथवा व्यवसाय में लगे हुए है। फिर भी इसके लिए कुछ समय तो निकाला ही जा सकता है, और साथ ही इस बात का विश्वास तो उनके अंदर भरा ही जा सकता है कि अहर्निश समीप रहकर उनकी सेवा न कर पाना परिस्थितिजन्य है, उपेक्षा अथवा तिरस्कार का परिणाम नही। यह विश्वास पा लेना भी उनके लिए काफी संतोषप्रद होगा। शारीरिक सेवा का सामाजिक पक्ष मात्र इतना है कि कठिनाई या संकट में पड़े हुए किसी वृद्ध की सहायता करने के लिए हम सदा तत्पर रहें, भले ही वह अपरिचित हो। विश्वास रखिए, इतना कर देना भी मानवता की दृष्टि से आपको बहुत ऊंचा उठा देगा।

वृद्ध-वर्ग की आर्थिक समस्या का समाधान व्यक्तिगत धरातल पर संभव नही है। इसके लिए सामाजिक संगठनों, स्वयंसेवी संस्थाओं और शासन के स्तर से ही कुछ किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व बैंक जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की भी प्रभावी भूमिका हो सकती है। चूंकि आर्थिक समस्या मुख्य रूप से उन्हीं वृद्धों के साथ जुड़ी हुई है जो पहले किसान, मजदूर या व्यावसायिक मजदूर रहे हैं, इसलिए इनमें से अधिकांश लोगों के परिवारों की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। ऐसी दशा में इन परिवारों के कमाऊ सदस्य अपने बड़े-बुजुर्गों के लिए उचित खान-पान, वस्त्र और चिकित्सा की व्यवस्था कर पाने में समर्थ नही है। यह अलग बात है कि उदारमना कुछ संपन्न लोग कुछ वृद्धों की आर्थिक मदद कर दें, किंतु ऐसे लोगों की संख्या इतनी नहीं है कि राष्ट्रीय धरातल पर वे इस समस्या का समाधान कर सकें।

सामाजिक स्तर पर स्वयंसेवी संस्थाओं या अन्य सामाजिक संगठनों के माध्यम से इस दिशा में कारगर कदम उठाए जा सकते है। ये संस्थाएं दो रूपों में वृद्धों की सेवा कर सकती हैं। सेवा का पहला तरीका यह हो सकता है कि वे 'वृद्ध-सेवासदन' और 'वृद्धाश्रम' जैसी वृद्ध-कल्याणकारी संस्थाएं खोलकर समाज अथवा परिवार द्वारा

पीड़ित, प्रताड़ित, उपेक्षित और परित्यक्त वृद्धों की सेवा, खान-पान, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करें। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि वे अपनी संस्था को पंजीकृत कराकर केंद्र सरकार एवं राज्य सरकारों से वित्तीय अनुदान प्राप्त करने की कोशिश करें। अन्य स्रोतों से भी धन एकत्रित करें। और इस तरह वृद्ध कल्याण-कोष की स्थापना करके उसके माध्यम से समाज के निर्धनतम वृद्धों को मासिक या त्रैमासिक सहायता प्रदान करें। इस योजना को सफल और चिरस्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कोष में धन नियमित रूप से आता रहे। संस्था से संबद्ध सभी पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की नीयत साफ हो और लाभार्थियों तक धन के पहुंचने की व्यवस्था दोषरहित तथा पक्षपातविहीन हो। फिर भी इतना कहना पड़ता है कि सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से बहुत कम वृद्धों को आर्थिक सहायता दी जा सकती है। हर गांव और हर नगर में इस तरह की व्यवस्था कर पाना प्राय: असंभव है।

वृद्ध-वर्ग की आर्थिक समस्या के निराकरण में सबसे प्रभावी भूमिका केंद्र सरकार और राज्य सरकारों की हो सकती है। इस दिशा में ये सरकारें प्रयत्नशील भी है, किंतु ये प्रयत्न पर्याप्त नही हैं। एक तो इनके यहां से इतना धन नहीं मिलता कि सभी जरूरतमंदों को आर्थिक सहायता दी जा सके। जिनको मिलता भी है, उनके लिए वह पर्याप्त नही होता। केंद्र और राज्य सरकारों को चाहिए कि वे सर्वेक्षण के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त करें कि देश में कितने ऐसे वृद्ध है जिन्हें आर्थिक मदद की जरूरत है और विभिन्न प्रांतों, जिलों, तहसीलों, ब्लाकों और गांवों में इनकी संख्या का अनुपात क्या है? फिर इस तथ्य का पता लगायें कि वह न्यूनतम धनराशि कितनी होगी जितने में वर्तमान बाजार-भाव पर एक वृद्ध की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी हो सकती है। और इस तरह वृद्धों की संख्या के अनुपात में प्रांतों, जिलों, तहसीलों, ब्लाकों और गांवों तक धनराशि पहुंचा दी जाए। किंतु, फिर भी सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि यह सहायता गांव के आखिरी वृद्ध तक पहुंचे।

निकट भविष्य में कोई ऐसी व्यवस्था दिखाई नहीं देती जिससे वृद्ध-वर्ग की आर्थिक समस्या का संपूर्णत: निदान हो सके। सच तो यह है कि इस समस्या का मूलोच्छेद हो ही नहीं सकता। फिर भी उक्त उपायों से इसे काफी हद तक कम किया जा सकता है।

□

गंधर्व और अप्सराएं

ॉ० एन०पी० कुट्टन पिल्लै

गंधर्वों और अप्सराओं के वर्णन के बिना संपूर्ण भारतीय वाङ्मय अधूरा रह जाता है। इतना ही नहीं, अनेक भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य में भी इन महाकल्पित व्यक्तित्वों को पूरा सम्मान और स्थान मिलता है। इन दोनों को किस प्रकार से प्रतिष्ठा मिली—इस प्रतिष्ठा में विस्तार के क्या-क्या कारण तथा संबंध रहे—संदर्भों सहित उल्लेख दिया गया है, डॉ० पिल्लै के इस आलेख में। इन वर्गों की मानसिकता और वृत्तियों की शोध इस आलेख की अतिरिक्त उपलब्धि है।

प्राचीन काल से भारतीय वाङ्मय गंधर्वो तथा अप्सराओं संबंधी कल्पनाओं को प्रश्रय देता आ रहा है। वेदों से लेकर वर्तमान भारतीय साहित्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारतीय जनता की आस्था एवं कल्पना को वे चिरकाल से प्रभावित करते आ रहे हैं। ऋग्वेद में 'अप्सरस्' का संकेत मिलता है और उसकी व्याख्या भी। केरल की एक आर्ष कृति 'केरल माहात्म्यम्' के अनुसार परशुराम ने केरल प्रदेश को ब्राह्मणों से आबाद किया तथा उनके सहयोगार्थ तृशूर, तलिप्परम्पु आदि स्थानों में स्वर्गांगनाओं को लाकर बसा दिया। पुरुरवा-उर्वशी का आख्यान इतना आकर्षक रहा कि इसने वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाभारत आदि से लेकर वर्तमान भारतीय भाषा-साहित्य में भी स्थान प्राप्त किया है। कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीयम्' प्रसिद्ध है ही और उसे उपजीव्य बनाकर रचित कृतियां भी कम नही है।

गंधर्व अर्द्धदेवताओं में गिने जाते हैं; उनके जन्म के संबंध में विभिन्न विचार

प्रचलित हैं। *विष्णुपुराण* में उन्हें ब्रह्मा की नासिका से उत्पन्न कहा गया है तो *वायुपुराण* (66.73) में वे कश्यप तथा भद्रा के पुत्र कहे गये हैं। *महाभारत* के आदिपर्व में उल्लेख आया है कि कश्यप के अरिष्टा के गर्भ से सुबाहु, हाहा, हूहू तथा तुंबुरु नामक चार गंधर्व पुत्र उत्पन्न हुए थे। मतांतर से ये गंधर्व कश्यप तथा प्राधा के पुत्र हैं। अन्यत्र गंधर्वों को दक्षपुत्री कपिला की संतान कहा गया है। वे दिव्यशक्ति-संपन्न तथा भूमि एवं आकाश के बीच भ्रमणशील माने जाते है। वे आकाश स्थित मायापुरी में रहते है, जो मेघाच्छादित है। वे देवगायक है और देवताओं के लिए सोमरस के निर्माता हैं। अप्सराएं उनकी पत्नियां हैं और चित्ररथ उनके अधिपति है।

अथर्ववेद में 6333 गंधर्वों का उल्लेख है। इन गंधर्वो के अभ्राज, अंधारि, रंभारि, सूर्यवर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, मूर्द्धवान्, महामना, विश्वावसु और कृशानु नाम के ग्यारह गण है। वेदों में गंधर्वों के दो प्रकार बताये गए हैं—द्युस्थानीय गंधर्व या दिव्यगंधर्व तथा अंतरिक्ष स्थानीय गंधर्व। दिव्य गंधर्व सूर्यसारथी तथा सोमरक्षक होते है और दूसरे गंधर्व नक्षत्र-प्रवर्तक कहे गये हैं (*ब्रह्माण्डपुराण*, 2.23.27)। उपनिषदों में गंधर्वों के देवगंधर्व तथा मनुष्यगंधर्व—दो वर्ग है। वे औषधियों तथा वनस्पतियों के विशेषज्ञ है। *महाभारत* में गंधर्व एक जंगली जाति है। *रामायण* मे भरत द्वारा गंधर्वो को पराजित किये जाने की बात लिखी हुई है। गंधर्व संगीत-विद्या में निपुण है। तभी तो संगीत का गंधर्व-विद्या नाम पड़ा है।

महाकवि कालिदास ने अपने काव्य में गंधर्व को अवतरित किया है। *रघुवंश* में प्रियंवद नामक गंधर्व आया है। चित्ररथ तथा नारद भी गंधर्व हैं। गंधर्वराज चित्ररथ कश्यप की पत्नी मुनि का पुत्र है। *महाभारत* में चित्ररथ को पांडवों का सहायक बताया गया है। कौरवों ने पांडवों का वध करने के उद्देश्य से तालाब के जल में विष मिलाया तो इससे अवगत इन्द्र ने कौरवों से प्रतिशोध लेने के लिए चित्ररथ को भेजा। चित्ररथ तथा कौरवों के बीच हुए युद्ध में चित्ररथ ने कौरवों को बंदी बना दिया। पांडवों ने ही उन्हे बंधन-मुक्त किया।

गीता में भगवान कृष्ण ने नारद को देवर्षि कहा है, फिर भी प्राचीन ग्रंथों में वे गंधर्व हैं। पुराणों में नारद के सात जन्मों का उल्लेख है। प्रथम जन्म में वे ब्रह्मा-पुत्र थे, पर सृष्टिकर्म से विरत होने के कारण ब्रह्मा ने शाप देकर उन्हें उपबर्हण नामक गंधर्व बना दिया। एक बार हिमालय में तपस्यारत उपबर्हण पर चित्ररथ की कन्याएं मुग्ध हो गयी, तो उन राजकुमारियों के संग राजमहल में उसने दीर्घकाल तक सुखमय जीवन बिताया। यह याद रहे कि कालिदास ने हिमालय प्रदेश को देवभूमि की संज्ञा दी है। वेदों में कई जगह नृत्य, गान, काम, सुगंध, सोमलता से संबंधित गंधर्वों तथा अप्सराओं का जिक्र आया है। स्वयं कामदेव गंधर्व थे। 'कंदर्प' शब्द गंधर्व का प्राकृत रूप है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में गंधर्व तथा कामदेव में अभिन्नता है। गंधर्व लोकों में घूमते रहते हैं। कई प्रसंगो में उन्हें ऋषियो तक को उपदेश देते दिखाया गया है।

शतपथ के अनुसार यमवत्, उद्दालमत् और अन्तर्वत् नामक तीन गंधर्वों ने सप्तर्षियों को यज्ञानुष्ठान की त्रुटियों-कमियों से अवगत कराया है।

महाभारत में सौगंधिक के लिए सरोवर में उतरे भीम से युद्ध करनेवाले गंधर्वों का जिक्र है, जिन्हें मारकर भीम ने पुष्प प्राप्त किया था। दुर्योधन को एक गंधर्व ने बांध रखा था। विचित्रवीर्य के भ्राता चित्रांगद को उसी नाम के एक गंधर्व ने मारा था। *रामायण* में वर्णित किरात, विराध, ताटका आदि भी शाप-ग्रस्त राक्षस-गंधर्व ही थे। वह गय भी गंधर्व था, जिसके आकाश मार्ग से जाते हुए अश्व के मुख का फेन उदक-क्रिया निरत भगवान कृष्ण की अंजलि के तर्पण-जल मे गिरा था, जो कृष्णार्जुन युद्ध का कारण बना था। पुराणों में तुंबुरु नामक गंधर्व का उल्लेख आया है। प्राय: नारद के साथ तुंबुरु का भी नाम आता है। वह ब्रह्मा की सभा का प्रसिद्ध गायक एवं संगीतज्ञ है।

एक बार पुरुरवा की उपस्थिति मे रंभा का नृत्य हुआ। नृत्य के बीच पुरुरवा को हंसते देखकर कारण पूछा गया तो पुरुरवा ने रंभा के नृत्य की ही नही, रंभा के गुरु तुंबुरु की भी कड़ी आलोचना की। इस पर क्रुद्ध तुंबुरु ने पुरुरवा को उर्वशी-वियोग का शाप दिया। तुंबुरु पांडवों का हितैषी था और कई प्रसंगों पर उन्हें तुंबुरु का सान्निध्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ था। गंधर्व लोग स्त्रियों के विशेष अनुरागी है। उपनिषदों में गंधर्व बाधित स्त्रियों का उल्लेख है। मद्र देश के पांतजलकाप्य की पत्नी तथा पुत्री सुधन्वांगिरस् नामक गंधर्व से बाधित हुई थी।

अपने रूप-लावण्य एवं अनुपम सौंदर्य के लिए अप्सराएं प्रसिद्ध है। 'अप्सरस्' शब्द का व्युत्पत्यर्थ संभवत: जल में विचरण करनेवाली है (*यास्क* 5-13)। उन्होंने 'अप् सारिणी' से व्याख्या की है। अत: 'अप्सरस्' एक जलीय दिव्यांगना है, जो ऋग्वेद तक आते-आते गंधर्व नामक अर्द्धदेवता की पत्नी मान ली गयी। बाद मे *वाजसनेयी संहिता* (15.15.19) में एकाधिक अप्सराओं का उल्लेख है। संस्कृत ग्रंथो में 'अप्सरस्' बहुवचन में प्रयुक्त है। स्पष्ट है, वे गणों रहती है। *रामायण* तथा पुराणों के अनुसार समुद्र-मंथन से उत्पन्न चौदह रत्नों मे से एक अप्सरा भी थी। क्षीरसागर-मंथन पर अप् (जल) में उसके रस से उत्पन्न होने से उन सुंदरियों का नाम अप्सरा है। पर उन्हें देव या असुर स्त्री रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं हुए, क्योंकि उनका शुद्धीकरण नहीं हुआ था। अत: वे सब की रह गयीं। मनु के अनुसार अप्सराएं सप्त मनुओं द्वारा रचित हैं। उत्पत्ति प्रसंग में वे कहते है—*यक्षरक्ष: पिशाचांश्च गंधर्वाप्सरसोऽसुरान्* (*मनुस्मृति* 1.37)। *भागवत* में पारिजात के उपरांत (समुद्र-मंथन के समय) अप्सराओं के उत्पन्न होने का वर्णन है। वहां कहा गया है कि वे सुंदर वस्त्रों से सुसज्जित एवं गले में स्वर्णहार पहने हुए थीं। वे अपनी मनोहर चाल एवं विलासभरी चितवन से देवताओं को सुख पहुंचानेवाली हुईं।

अप्सराएं संख्या में साठ करोड़ बतायी गयी है। *महाभारत* के आदिपर्व मे लिखा

है कि कश्यप तथा अरिष्टा से अलंबुषा, मित्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रंभा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरजा, सुरता और सुप्रिया नामक तेरह अप्सराओं का जन्म हुआ है—

अरिष्टा सूत सुभगा देवि देवर्षितः पुरा
अलंबुषा मित्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा
अरुणा रक्षिता चैव रंभा तद्वत मनोरमा
केशिनी च सुबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः
तुंबुरुश्चेति चत्वारा स्मृता गंधर्वसत्तमा।

प्रकारांतर से ये प्राधा की कन्याएं है। बाणभट्ट ने '*कादंबरी*' में गंधर्वो तथा अप्सराओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार अप्सराओं के चौदह वर्ग है। ब्रह्मा, वेद, अग्नि, वायु, अमृत, जल, सूर्यरश्मि, चंद्ररश्मि, भूमि, विद्युत, मृत्यु, कामदेव तथा अरिष्टमुनि से चौदह कुलों की उत्पत्ति हुई, जिनमें से अंतिम दो कन्याओं के है। उन्होंने गंधर्वराज चित्ररथ तथा हंस से विवाह किया। कादंबरी तथा महाश्वेता उन्हीं की संतान हैं।

मत्स्यपुराण के अनुसार अप्सराएं हिमालय पर गंधर्वो के साथ क्रीड़ारत रहती है। पृथ्वी रूपी गौ के दोहन के समय उन्होंने गंधर्वो का साथ दिया था। अप्सराओं के दैविक और लौकिक दो भेद है। मेनका, रंभा, उर्वशी आदि लौकिक कोटि में आती है। *वायुपुराण* के अनुसार चौतीस अप्सराएं इन्द्र की सेवा में निरत है। *ब्रह्माण्ड पुराण* (2.15.49) के अनुसार वे मेरु में रहती हैं और कामदेव उनके अधिपति हैं। ये ही अप्सराएं कृष्णावतार के समय गोपिकाओं के रूप में जन्मी थी (*ब्रह्माण्ड पुराण* 4.2.26)। अप्सराएं मानवों से प्रेम करती है। उल्लिखित सर्वश्रेष्ठ छह अप्सराएं है—उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, घृताची और विश्वाची। आकाश में रहनेवाली अप्सराएं गंधर्वो की पत्नियां मानी जाती है।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में सखियां मेनका के सौदर्य को उन्मादक कहती हैं। अप्सराएं अपने रूप सौदर्य, हाव-भाव, नृत्य आदि को अपना हथियार बनाकर मन को वशीभूत करती है। तीर्थो में भक्तों के स्नानादि कर्मानुष्ठानों के समय वे उपस्थित होती है। ऐसे प्रसंगों में मेनका, सानुमती आदि का उल्लेख आया है। भारत के कई तीर्थो के नाम उर्वशीतीर्थ, अप्सरातीर्थ आदि है ही।

हिंदी के कवि सुमित्रानंदन पंत को अप्सराओं ने प्रभावित किया है। पंत जी की अप्सरा मानसी प्रतिमा है, कल्पनामयी है। वह शैशव की चिर सहचरी है और माता बनकर नवशिशुओं को दुग्धपान कराती है। वह अगोचर अकथ है कि छिपे-छिपे अपनी थपकियों से शिशुओं को नींद सुलाती है तथा उनके मधुर अधरों पर हास बनकर चमकती है। वही अप्सरा रूप-मदिरा से उन्मद यौवन में उद्दाम प्रेयसी के अंग-

प्रत्यंग से लिपटकर, उसके हृदय में रहस्य बनकर मन को हरती है (*गुंजन*, 'अप्सरा' गीत):

तड़ित चकित चितवन से चंचल
कर सुर-सभा अपार।
नग्न देह में सतरंग सुरधनु
छाया पट सुकुमार।
खोंस नील नभ की वेणी मे
इंदु-कुंद-द्युति-स्फार।
स्वर्गगा में जल-विहार जब
करती बाहु-मृणाल।

मलयालम काव्य मे अप्सरा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय गान-गंधर्व चंगम्पुषा कृष्णपिल्लै को है। अप्सरा की सहज स्पष्ट एवं कोमल अभिव्यक्ति वयलार रामवर्मा की कविता में प्राप्त होती है। उनकी अप्सराएं कुंकुम माला-चर्चित मधुर कोमलांगियां हैं। उनके सौंदर्य के विभावन के लिए मंदार की कोंपलो, वसंत की शुभ्र तारिकाओं की छतरी धारण करती इंदुकला आदि उपमान प्रस्तुत करते है। वे मंद-स्मित नौका मे सवार होकर आती हैं।

भारतीय वाङ्मय मे सर्वाधिक चर्चित उर्वशी के जन्म के संबंध मे समुद्र-मंथन के अतिरिक्त एक अन्य कथा भी मिलती है, जिसके अनुसार वह नारायण मुनि के उरु से जन्मी है। उर्वशी के कई शाब्दिक अर्थ हैं—नारायण मुनि के उरु से जन्मी, मनुष्य के उर में बसनेवाली तथा उर का वशीकरण करनेवाली। उर्वशी-संबंधी आख्यान *ऋग्वेद*, *महाभारत*, *श्रीमद्भागवत महापुराण* तथा अन्य कई पुराणों मे उपलब्ध है।

एक बार नारायण मुनि ने बद्रिकाश्रम मे घोर तपस्या की तो उससे आशंकित इन्द्र ने उनकी तपस्या भंग करने के लिए अप्सराएं भेजीं। उन अप्सराओं ने मुनि को मोहित करने का बहुत प्रयत्न किया तो क्रुद्ध मुनि ने अपना उरु ठोंककर एक सर्वांग सुंदरी नारी की सृष्टि की, जिसके सामने सारी अप्सराएं निस्तेज हो गयीं। यही नारी उर्वशी कहलायी। मुनि ने उसे इन्द्रलोक ले जाने का अप्सराओं से आग्रह किया।

एक बार इन्द्रसभा मे नृत्यरता उर्वशी प्रतिष्ठानपुर के राजा पुरुरवा पर मोहित हो गयी, जिससे उसके नृत्य में व्याघात पड़ गया। इन्द्र ने कुपित हो उसे मर्त्यलोक में रहने का शाप दिया। ऋग्वेद में पुरुरवा एक मानव और उर्वशी अप्सरा है। उर्वशी चार वर्ष पर्यंत पृथ्वी पर पुरुरवा की पत्नी बनकर रही और गर्भवती होने पर विलीन हो गयी।

पुरुरवा एक सरोवर में जलीय अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करती हुई उर्वशी को ढूंढ पाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में उर्वशी तीन शर्तों पर पुरुरवा की पत्नी बनती है :

(1) समागम काल को छोड़ अन्य किसी समय वह पुरुरवा को नग्न न देखने पाये। (2) उसके मेष सुरक्षित रहें तथा (3) घृत ही उसका आहार हो। उर्वशी को पृथ्वी पर गये पर्याप्त समय व्यतीत हुआ। उससे वंचित देवों की प्रेरणा पर गंधर्वों ने एक रात उर्वशी के मेष चुरा लिये। इससे दु:खी उर्वशी चिल्ला उठी। तुरंत ही नग्नावस्था में राजा पुरुरवा सोते से जाग उठा और मेषों को छुड़ा लाने निकल पड़ा। इसी समय गंधर्वों ने बिजली चमका दी, जिसके प्रकाश में उर्वशी ने राजा को नग्न देखा तो शर्त के अनुसार वह तुरंत विलीन हो गयी। पुरुरवा उसे खोजते हुए एक सरोवर में अन्य अप्सराओं के साथ उसे ढूंढ पाता है। पर वह उसके साथ रहने को तैयार नहीं होती। *शतपथब्राह्मण* के अनुसार वर्ष में एक बार मिलन की बात उर्वशी ने मान ली। परिणामस्वरूप उन दोनों का पुत्र आयु पैदा हुआ।

राजा स्थायी रूप से उर्वशी का साथ चाहता था तो उर्वशी ने राजा से गंधर्व बनने का आग्रह किया। गंधर्व-प्रदत्त अग्नि थाली में यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर कर्मानुष्ठान करके वह गंधर्व बना। *श्रीमद्भागवत महापुराण* के अनुसार पुरुरवा तथा उर्वशी के छह पुत्र हुए। पुरुरवा-उर्वशी को अरणी और आयु को अग्नि संकल्पित कर मंत्र वेदों में उपलब्ध है। पुरुरवा को सूर्य तथा उर्वशी को उषा मानकर व्याख्या मिलती है।

महाकवि कालिदास ने *'विक्रमोर्वशीयम्'* में कथा को थोड़े परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। एक बार केशी नामक राक्षस ने उर्वशी और उसकी सखी का अपहरण किया तो राजा पुरुरवा ने केशी का वध करके उन्हें बचाया। फलत: उर्वशी उस पर अनुरक्त हुई। नाट्याभिनय में गलती होने पर भरत-शाप से वह पृथ्वी पर आयी। गंधमादन में उसके भटकते रहने का कारण प्रणय-कलह था और पुत्र-दर्शन उसके विरह का कारण बना। उर्वशी ने पति या पुत्र में से एक की शर्त रखी थी। महेन्द्र के प्रसाद से पुरुरवा उर्वशी को सदा के लिए प्राप्त कर सका। अत: उसके गंधर्व बनने की आवश्यकता नहीं रही। तमिल के शिलपतिकारम की माधवी उर्वशी-वंशजा है। *महाभारत* के अनुसार उर्वशी तथा पूर्वचित्ति का वास स्थान मलयाद्रि है—

ततस्समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम्
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवते।

बांग्ला कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'उर्वशी' स्वर्गीय सौंदर्य का प्रतीक है, पर तेलुगु के कृष्ण शास्त्री की 'उर्वशी' में मधुर कल्पना-विलास, गीतिमत्ता एवं प्रवाहमयी शैली अपनी पराकाष्ठा पर है। मलयालम के कवि डॉ० अय्यप्प पणिक्कर का 'उर्वशी' गीतिनाट्य भारतीय संस्कृति के गरिमामय आदर्शों से ओतप्रोत है। नारायण मुनि द्वारा शापित उर्वशी पृथ्वी पर पुरुरवा के बाहुपाश में आबद्ध हो लौकिक सुखों में तल्लीन हो जाती है। पर गंधर्वों के छल से उसे कुछ समय के उपरांत ही लौकिक संसार छोड़ जाना पड़ता है। उसके वियोग से आक्रांत पुरुरवा को स्वप्न में उर्वशी

समझाती है कि मोहग्रस्त प्रेम चिरंतन आनंद नहीं दे सकता; मोह प्रेम की पवित्रता को कलुषित करता है। मोहरहित प्रेम अमरत्व का पर्याय है और वही सत्य है। धर्मार्थ काम, मोक्ष में से किसी एक में तल्लीन रहना दु:खदायक होता है, विधिवत् पुरुषार्थों का पालन करने में ही मनुष्य की पूर्णता है। स्वप्न दर्शन के उपरांत पुरुरवा शाश्वत आनंद की प्राप्ति के लिए हिमवत् पार्श्व में पहुंचकर नारायण मुनि के समान तपस्यालीन हो जाता है। पणिक्कर की इस कविता में कलासौष्ठव की गरिमा के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के अमर संदेश की अनुगूंज भी विद्यमान है। हिंदी कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' के 'उर्वशी' गीतिनाट्य में काम के उदात्तीकरण को महत्त्व मिला है। उर्वशी अपना परिचय देती हुई कहती है—

जन-जन के मन की मधुर वह्नि,
प्रत्येक हृदय की उजियाली।
नारी की मैं कल्पना चरम,
नर के मन में बसने वाली।

अप्सरा तिलोत्तमा के जन्म के संबंध में यह कथा प्रसिद्ध है कि उसकी सृष्टि सुंद-उपसुंद के निग्रहार्थ हुई है। निकुंभ के पुत्र सुंद और उपसुंद ने ब्रह्मा जी का तप करके यह वर पाया था कि वे अन्य किसी के हाथों नहीं मरेंगे। वर-प्राप्ति पर वे इतने घमंडी हो गये कि उनके आतंक से त्रिलोक कंपित हो उठे। संत्रस्त देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा जी ने समस्त चराचर वस्तुओं के सार भाग मिलाकर देवशिल्पि से एक अतीव कमनीय कन्या की सृष्टि करायी और उसका नाम तिलोत्तमा रखा। तिलोत्तमा को सुंद-उपसुंद के पास भेज दिया। जाने के पहले वह आशीर्वाद के लिए देवों—त्रिमूर्तियों के पास पहुंची। उसका सौंदर्य इतना मोहक था कि उसे चारों तरफ से देखने हेतु भगवान शिव के चार मुख हुए, तो देवराज इन्द्र सहस्रमुख बने। जब वह सुंद-उपसुंद के पास पहुंची तब दोनों उस पर इतने मुग्ध हो गये कि दोनों उसे अपनाना चाहते थे। दोनों में स्पर्धा इतनी बढ़ी कि वे परस्पर लड़ मरे। देवताओं को शांति मिली। देवकार्य पूरा करके तिलोत्तमा सूर्य के मार्ग पर चली गयी। वह माघ मास में अन्य सौर गणों के साथ सूर्यरथ की स्वामिनी है। एक अन्य जगह तिलोत्तमा के संबंध में कहा गया है (*विष्णुपुराण* 2.10.16) कि दुर्वासा-शाप से वही बाण-पुत्री उषा के रूप में जन्मी है।

गंधर्व और अप्सरा अंतरिक्ष देवता हैं। वे तिरस्करणी विद्या से परिचित हैं, उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त है। अमृत और घृत उनके भोजन है। पुराणों में गंधर्वाप्सराओं की कथा है। *महाभारत* में लिखा है कि पांडवों को गंगा-जल में अप्सराओं के साथ क्रीड़ारत एक गंधर्व ने रोका था, जो अर्जुन के द्वारा पराजित हुआ। पौराणिक कल्पना के अनुसार सूर्यदेव पूर्व से पश्चिम की ओर रथयात्रा करते रहते हैं। उनके रथ पर प्रत्येक

मास में पृथक्-पृथक् आदित्य, ऋषि, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, नाग तथा राक्षस आरूढ़ रहते हैं।

वेदों में गंधर्वों, अप्सराओं का कामुक-कामुकी रूप में प्रतीकात्मक वर्णन मिलता है। *शतपथ* में लिखा है—मन गंधर्व है तो ऋक् और साम अप्सराएं हैं; यज्ञ गंधर्व है तो दक्षिणा अप्सरा; वायु गंधर्व है तो पानी अप्सरा, चंद्रमा गंधर्व तो तारिकाएं अप्सराएं है। मेनका ऊर्णायु नामक गंधर्व की पत्नी थी, रंभा नलकूबर की। गंधर्व गंध से और अप्सराएं रूप-लावण्य के साथ संचरण करते हैं। अर्थात् मिथुनीकरण के लिए गंध और रूप को चाहते है। *शतपथ* के अनुसार गायक तथा नर्तक को स्त्रियां चाहती है। अप्सराओं के इसी रूप-लावण्य के सामने कितने ही यक्ष, किन्नर, राक्षस, देव, नर, मुनि विचलित हुए है। पुराण साक्षी है कि कई देवांगनाओं के साथ मानवों का संपर्क रहा है।

कई अप्सराओं को किसी-न-किसी अपराध पर शापित हो दु:खमय जीवन बिताना बड़ा है। हनुमान की माता अंजना पूर्वजन्म में पुंजिकस्थला नामक अप्सरा थी। एक बार इन्द्रसभा में दुर्वासा मुनि की उपस्थिति मे उसे इधर-उधर बेचैनी से आते-जाते देख, क्षुब्ध दुर्वासा ने उसे बंदरी बनने का शाप दिया (*भागवत* 12.8.26)। वेदव्यास की माता सत्यवती भी ब्रह्मा जी के शाप का शिकार बनी थी। वह पूर्वजन्म मे उपरिचर बसु की पत्नी अद्रिका थी जो ब्रह्मा जी के शापवश मत्स्य रूप मे कालिंदी के जल में पड़ी थी (*वायुपुराण* 69.6)। नृत्य में बेजोड़ अलंबुषा विधूम पर मुग्ध हो काम चेष्टाएं करने लगी तो क्रुद्ध ब्रह्मा जी ने उसे शाप देकर मानवी बना दिया। राजा कृतवर्मा के यहां वही मृगावती के रूप मे जन्मी और चक्रतीर्थ मे स्नान करके वह शाप मुक्त हुई (*कथा सरितसागर*)।

अप्सराएं स्वतंत्र नहीं, वे मात्र आज्ञानुवर्ती है। ऋषियों तथा मुनियों को तपस्यारत देखकर इन्द्र शंकालु हुआ करते हैं कि वे संभवत: इन्द्रपद पाने के लोभ में आकर तपस्या कर रहे है। फिर क्या है, स्वार्थसिद्धि हेतु शंकालु इन्द्र अप्सराओं को अपना हथियार बनाकर उनका तप भंग किया करते है। इन्द्र अप्सराओं को अपनी प्रणिधि कहते है। जासूसी करनेवाली, यही 'प्रणिधि' शब्द का अर्थ है। बेचारी अप्सराएं इन्द्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। इंदुमति का पूर्व रूप हारिणी नामक अप्सरा थी। हारिणी तृणबिंदु से कहती है कि अप्सराएं स्वयं कुछ न करके मात्र आज्ञा का पालन करती है, इसलिए निर्दोष है। तृणबिंदु त्रेतायुग के प्रसिद्ध ऋषि थे, जिनका तप भंग करने के लिए हारिणी इन्द्र द्वारा नियुक्त हुई तो ऋषि द्वारा शापित हो वह मानवी बनी। नर-नारायण की तपस्या भंग करने आयी अप्सराएं अपने कार्य मे असफल हुईं। महर्षि विश्वामित्र ने राजर्षि से देवर्षि बनने के विचार से घोर तप किया तो वह इन्द्र के लिए चिंता का विषय बना। उन्होंने तप भंग करने के लिए पहले रंभा को भेजा; मुनि ने शाप देकर एक हजार वर्ष तक उसे पाषाणी बना छोड़ा। फिर इन्द्र ने मेनका

को भेजा। मेनका पर मुग्ध विश्वामित्र का तप भंग हुआ। दोनों मिलकर एक हजार वर्ष तक साथ रहे और परिणास्वरूप शकुंतला का जन्म हुआ (*भागवत* 9.20.13, *महाभारत*)।

प्राचीन काल में वेदज्ञ ऋषियों में श्रेष्ठ कण्डु हुए, जिन्होंने गोमती-तट पर घोर तपस्या की तो इन्द्र ने प्रम्लोचा नामक सुंदरी अप्सरा भेजी। उसके रूप-सौदर्य पर चंचलचित्त ऋषि ने उसके संग सौ वर्ष तक जीवन बिताया और दोनों के मारिषा पुत्री हुई। इन्द्र ने मार्कंडेय ऋषि का तप भंग करने हेतु पुंजिकस्थला को भेजा, पर अप्सरा अपने प्रयास में सफल नहीं हुई। एक बार शरद्वान के तप में बाधा डालने के उद्देश्य से देवराज ने ज्वालावती को भेजा। अर्धनग्न अप्सरा का मोहक सौदर्य देखते ही मुनि का वीर्यपात् हुआ तो शरस्तंभ में गिर पड़ा जिससे बालक कृप तथा बालिका कृपी का जन्म हुआ। शंतनु ने दोनों का पालन-पोषण किया (*भागवत* 9.21.35)। ऋषि दधीचि की तपस्या भंग करने के लिए नियुक्त अलंबुषा के रूप-लावण्य पर मुग्ध ऋषि का वार्य स्खलित हो सरस्वती नदी के जल में गिरा और उससे सारस्वत का जन्म हुआ (*वायुपुराण* 65.90)।

अप्सरा-संबंधी उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मोह के दु:ख से मुक्त हैं। कोई भी अप्सरा अपनी संतान को साथ ले जाने को तैयार नहीं है। उर्वशी पुत्र-जन्म के साथ पति-पुत्र दोनों को छोड़ चली जाती है। रंभा तथा सुषेण के प्रेम के फलस्वरूप उत्पन्न पुत्री थी सुलोचना। रंभा उसे सुषेण के पास छोड़कर चली जाती है; मेनका अपनी पुत्री शकुंतला को वन में छोड़ देती है। वे उन्मुक्त प्रेम की पुजारिन हैं। एक बात उनमें विशेष रूप से दिखाई देती है, वह है सौतिया डाह का अभाव। कोई अप्सरा कभी किसी पुरुष की विवाहिता पत्नी का विरोध नही करती। इसलिए कि वे स्वच्छंद प्रकृति की हैं, आज यहां तो कल वहां। स्थायी प्रेम से वे अनभिज्ञ हैं। वे हमें प्राचीन गणराज्यों में वर्णित वार वनिताओं या दक्षिण की पुरानी देवदासियों का स्मरण कराती हैं।

□

सोमरस: आर्यों का पेय

योगेश चन्द्र शर्मा

भारतीय प्राचीन ग्रंथों में सोमरस का प्रयोग अनेक बार आता है जिससे प्राय: ध्वनि निकलती है कि यह पेय देवताओं के अधिकार-क्षेत्र का रहा है तथा इसमें अनेकानेक गुण हैं जो असीमित ऊर्जा और शक्ति के संचार से मानव देह का नवीकरण करते हैं। यह एक जिज्ञासापूर्ण विषय है जिस पर रोचक अध्ययन और शोध इस आलेख में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राचीन आर्य संस्कृति मे सोमरस की चर्चा बार-बार पढ़ने को मिलती है। विश्व के प्रथम ग्रंथ *ऋग्वेद* मे इसका प्रयोग लगभग एक हजार बार हुआ है। वैदिक आर्यो का यह प्रिय पेय था। इससे उन्हें अत्यधिक शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्त होती थी। सोमरस एक विशेष प्रकार की बेल से प्राप्त होता था, जिसे सोमवल्ली या सोमलता कहते थे। सोमरस और सोमलता के बारे मे हमें अब उतनी ही जानकारी है, जितनी प्राचीन साहित्य से प्राप्त होती है। उस जानकारी के आधार पर सोमलता की काफी खोज की गयी है और अलग-अलग पौधों को सोमलता के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये गए है।

सोमरस के बारे मे *ऋग्वेद* मे जिस विस्तार से चर्चा है, उससे यह प्रमाणित होता है कि सोमरस का प्रयोग आर्यो में *ऋग्वेद* की रचना से भी पहले से किया जाता रहा होगा। सोम का उल्लेख *ऋग्वेद* के अतिरिक्त *देवत संहिता, चंडी कवचम, सुश्रुत संहिता, चरक संहिता, कात्यायन सूत्र* तथा ब्राह्मण ग्रंथों में विस्तार से मिलता है। इससे

यह प्रमाणित होता है कि सोमरस का प्रयोग वैदिक युग के बाद भी पर्याप्त मात्रा में किया जाता रहा था। बाद में किसी कारण से सोमरस तथा सोमवल्ली की चर्चा पुस्तकों तक सिमट गयी और आम लोगों के लिए यह एक भूली-बिसरी बात हो गयी।

सोमरस तथा सोमलता के बारे में नये सिरे से जिज्ञासा उत्पन्न हुई सन् 1974 के बाद उस समय, जब गुजरात में पत्थर की वे विशाल ओखलियां (उलूखल) प्राप्त हुई, जिनके बारे में यह दावा किया गया कि ये वही ओखलियां है, जिनमें वैदिक आर्यजन सोमलता को कूटकर सोमरस निकाला करते थे। इन ओखलियों को ढूंढने का श्रेय मिला एक वरिष्ठ आई०ए०एस० अधिकारी श्री कृष्ण चन्द्र सगर को। सन् 1974 में श्री कृष्ण चन्द्र सगर की नियुक्ति गुजरात में जामनगर के कलेक्टर के रूप में हुई। उस समय वहां भयानक सूखा पड़ा हुआ था और लोगों को राहत कार्यों पर लगाया जा रहा था। इन राहत कार्यों के सिलसिले में श्री सगर को अक्सर दौरे पर दूरस्थ इलाकों में जाना पड़ता था। विद्यार्थी जीवन से ही उनकी पुरातत्त्व में रुचि थी, इसलिए रास्ते में उन्हें जहां भी प्राचीन मंदिर, जलाशय या टूटी-फूटी इमारतें मिलती, उन्हें वे गहरी रुचि के साथ देखते। इन्हीं यात्राओं के दौरान उन्हें अत्यंत दुर्गम और निर्जन स्थान पर पत्थर की बनी भारी ओखलियां मिलीं। उनके निकट किसी पुरानी बस्ती के तो लक्षण दृष्टिगत नहीं हुए, परंतु जीर्ण-शीर्ण मंदिर और सूखे जलाशय के अवशेष अवश्य थे। उन्हें लगा कि शायद ये वही ओखलियां है, जिनमें आर्य सोमलता को कूटते थे। वयोवृद्ध इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता डॉक्टर जयन्तीलाल ठक्कर ने उनके इस शोध-कार्य में विशेष सहायता दी और सभी दृष्टियों से जांच-पड़ताल करके उन्होंने श्री सगर के इस अनुमान को सही माना। बाद में वैज्ञानिक जांच-पड़ताल से यह भी सिद्ध हो गया कि ये ओखलियां जिस पत्थर की बनी हुई है, उस पर किसी प्रकार की जलवायु का कोई असर नहीं होता। इन ओखलियों के बीच का गड्ढा और ऊपर गोलाई में बनी किनारी यह स्पष्टत: संकेत करती है कि इनमें कोई ऐसी चीज कूटी जाती थी, जिसके छलककर नीचे गिरने का डर रहता हो। इनके विशाल आकार को देखते हुए यह स्वीकारा गया कि ये ओखलियां न तो अनाज कूटने की हो सकती हैं और न सोमरस के अतिरिक्त अन्य किसी काम की।

सोमरस बनाने की प्रक्रिया ऋग्वेद (नवम् मंडल) तथा अन्य प्राचीन साहित्य में विस्तार से दी हुई है, जिसमें इस प्रकार की विशाल ओखलियों का स्पष्ट उल्लेख है। दिये गए विवरण के अनुसार, सोमरस निकालने का कार्य बस्ती से बाहर प्रकृति की गोद में किसी निश्चित दिन समारोहपूर्वक किया जाता था। सोमस्थल पर पहाड़ों से सोमलता लाई जाती और आवश्यकतानुसार उसके पत्ते, जड़ या डंठल निकाल लिये जाते। पत्ते, जड़ या डंठल के अलग-अलग रस निकाले जाते। संभवत: उनके स्वाद और गुणों में भी कुछ अंतर होता था। उल्लेखनीय है कि सोमरस के कई भेदों की

चर्चा प्राचीन ग्रंथों में है। *ऋग्वेद* के अनुसार सोमरस पांच प्रकार का, और *सुश्रुत संहिता* के अनुसार वह चौबीस प्रकार का होता है। तद्नुसार सोमलता के भी कई भेद होते होंगे। सोमलता के संबंधित अंश को पवित्र जल से धोकर, अठारह अंगुल चौड़े और छत्तीस अंगुल लंबे काठ के भारी टुकड़ों पर काटा जाता था और उन्हें फलक नाम के पात्र में रखते थे। कटे हुए टुकड़ों को अंशु कहते थे। इन टुकड़ों को ओखलियों में डालकर ग्रावा नामक पत्थर के मूसलों से उस समय तक कूटा जाता था, जब तक वह गाढ़ी लुगदी न बन जाए। साधारणतया कूटनेवाले दो व्यक्ति होते थे। कुटे हुए इस पदार्थ को ऊन के कपड़े में डालकर निचोड़ा जाता था जिसे पवमान या 'पुनान' कहते थे। निचोड़ने से गाढ़े सोमरस की एक-एक बूंद इस तरह निकलती थी जैसे शिवलिंग पर एक-एक बूंद पानी टपकता है। एक अन्य उल्लेख के अनुसार अंशु को दबाने से उसमें से वैसे ही सोम निकलता है जैसे गाय के थन से दूध। संभव है यह अंतर सोम के अलग-अलग अंगों (फल, फूल, पत्ते आदि) के आधार पर रहा हो। पवमान का अर्थ होता है स्वच्छ द्रव। इस पवमान को पत्थर के ही एक छोटे पात्र में रखा जाता था, जिसमें उसकी 90 से 100 तक बूंदें आती थीं। यह शुद्ध सोमरस होता था, जो अत्यंत तीक्ष्ण कसैले स्वादवाला होता था। स्वाद के अतिरिक्त इसे सीधे रूप में पचाना भी कठिन होता था। इसलिए इसमें, शुद्ध जल, मधु, जौ, चावल का पानी या दूध मिलाया जाता था और उस मिश्रण को एक बड़े कलश 'द्रोण' में रखा जाता था। इस मिश्रण को 'आशिर' कहते थे और यही पीने योग्य सोमरस था। इसमें सुमेरु पर्वत से बहनेवाले खनिज जल को भी मिलाने का उल्लेख है। सोमरस को बनाने में काम आनेवाली ओखली, कूटने का मूसल तथा काटने के लिए नीचे रखनेवाले काठ के दो टुकड़ों की चर्चा *ऋग्वेद* के इस मंत्र में भी स्पष्ट रूप में की गयी है:

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल:।।

अर्थात्—हे इन्द्र! जहां सोमरस चुआने के लिए बड़े मूलवाला पत्थर उठाया जाता है, वहां ओखल से निचोड़े गये सोमरस का पान करो।

सोमरस को बनाने की पद्धति सरल नहीं थी। इसमें हर कार्य के विशेषज्ञ होते थे। सर्वप्रथम तो असली सोमलता के चयन में ही विशेष ज्ञान की आवश्यकता थी। इसके उपरांत उसे सही ढंग से काटने, कूटने और निचोड़ने में भी विशेषज्ञों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। सोमरस निकालने का कार्य सामूहिक मंत्रोच्चारण के साथ होता था और उस समय सर्वत्र उत्सव जैसा माहौल होता था। इस समारोह की अध्यक्षता वरिष्ठ और विद्वान ऋषि करते थे। सोमरस तैयार होने के उपरांत उसे सर्वप्रथम मंत्रों के साथ देवताओं को अर्पित किया जाता और उसके उपरांत 'चामस' नामक पात्र में लोग सोमरस का पान करते थे। अधिकतर लोग मधुमिश्रित जल के

साथ सोमरस का पान करते, मगर वृद्धजन प्राय: जौ के पानी के साथ इसे पीते थे। सोमरस को सोमस्थल से बाहर ले जाने का नियम नहीं था। उसका वहीं सेवन किया जाता था। सोमरस को बचाकर भी नहीं रखा जाता था। खराब हो जाने से वह बाद में उपयोग में नहीं आता था।

सोम समारोह का यह आयोजन विशेष अवसरों पर किया जाता था। यह विशेष अवसर कोई त्यौहार, नई फसल, विजयोत्सव या किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन का होता था। यह आयोजन प्राय: संध्याकाल के उपरांत चन्द्रमा के प्रकाश में किया जाता था। देवराज इन्द्र को किसी भी समय सोमरसपान का अधिकार था, मगर जनसाधारण को नहीं।

सोमरसपान से पूर्व उसे वायु तथा इन्द्र आदि देवताओं को अर्पित किये जाने के संदर्भ में *ऋग्वेद* के प्रथम मंडल का यह प्रार्थना-मंत्र दृष्टव्य है:

वायवायहि दर्शतिमे सोमा अरकृंता:।
तेषां पाहि सुधी हवम्।।

अर्थात्—हे शुभदर्शन वायुदेव, आप हमारे इस यज्ञकर्म में पधारें। आपके लिए यह सोमरस, आसवन आदि संस्कार के साथ तैयार किया गया है। सोमपान के निमित्त किये जानेवाले हमारे आह्वान को आप सुनें और अपना भाग ग्रहण करें।

महर्षि सुश्रुत ने अपनी प्रसिद्ध कृति *'सुश्रुत संहिता'* में सोमसेवन की विशेष विधि का वर्णन किया है। इससे मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है और वह दस हजार वर्षों तक स्वस्थ जीवन जीता है। उनके अनुसार सोमसेवन से पहले वमन, विरेचन आदि पंचकर्म किये जाने चाहिएं। सोम का सेवन तीन घेरेवाले घर में किया जाना चाहिए। अर्थात् घर के चारों ओर बरामदे, फिर बरामदेवाले घर के चारों ओर बरामदे और इसके बाद उस घर के भी चारों ओर बरामदे। सोमसेवन की संपूर्ण अवधि में उसे इसी घर में रहना चाहिए। सोम कंद में छेद करके स्वर्णपात्र में उसका रस एकत्रित किया जाना चाहिए और मंत्रोच्चारण के साथ उसका सेवन करना चाहिए। *'भाव प्रकाश निघंटु'* के अनुसार सोमरस के लिए सोमलता के पांचों अंग अर्थात्—फल, फूल, पत्ता, छाल और मूल काम में आते हैं और इन सबके अलग-अलग प्रभाव हैं। महर्षि सुश्रुत के विवरण से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने जिस विधि की चर्चा की है, वह सोमलता के मूल (कंद) से तैयार किये गए सोमरस के लिए ही है। उनके अनुसार सोमसेवन से शरीर के सभी विषाणु बाहर निकल जाते है और इससे कुछ समय के लिए व्यक्ति अस्थि-कंकाल मात्र रह जाता है। उसके नख, केश आदि भी झड़ सकते है। इसके बाद ही उसका कायाकल्प होता है और उसके शरीर में अद्‌भुत शक्ति का संचार होता है।

सोमरस पान के लाभ का वैदिक साहित्य में विस्तार से वर्णन किया गया है। *ऋग्वेद* में सोमरस को अमृत-तुल्य माना गया है। यह बुद्धि, बल और पौरुष बढ़ानेवाला तथा स्फूर्तिदायक है। इन्द्र द्वारा वृत्रासुर वध किये जाने के लिए भी सोम को ही श्रेय दिया गया है। इससे बुद्धि तीव्र हो जाती है और मन को शांति मिलती है। इससे ऋषि-मुनियों को वह अपूर्व शांति प्राप्त होती थी, जो उनके ध्यान और समाधि के लिए आवश्यक थी। इसमें मनुष्य को अमर बनाने की अद्भुत क्षमता है। औषधि के रूप में यह अंधों को दृष्टि देता है, लंगड़ों को चलने की क्षमता देता है, असाध्य रोगों को दूर करता है और शरीर का कायाकल्प करता है। स्वर-तंत्री के विकार और हृदय रोगों की यह अचूक दवा है। इसके सेवन से स्वर्ग के आनंद की अनुभूति होती है। सोमरस को सभी औषधियों का जनक माना गया है।

सोमरस की प्राप्ति सोमवल्ली या सोमलता से होती थी, जिस पर अभी तक रहस्य का आवरण पड़ा हुआ है। यह बेल कैसी थी और कहां पायी जाती थी, इसके बारे में निश्चितत: कुछ कहना कठिन है। आज यह बेल उपलब्ध है या नहीं, उसके बारे में कोई निश्चित मत नहीं है। अनेक विद्वानों ने इस पर अपने-अपने ढंग से शोध की है और विभिन्न पौधों को सोमलता बतलाया है। मगर अभी तक कोई सर्वमान्य और पूर्णत: प्रमाणित पौधा नही मिल पाया है।

प्राचीन साहित्य में सोमलता का रंग हरा बतलाया गया है, मगर कही-कही इसे लाल या काले रंग का भी बतलाया गया है। संभव है कि सोमलता के फूल लाल होते है और उसकी जड़ या अन्य कोई अंग काला होता हो। इस बारे में सभी विद्वान एक-मत है कि सोमलता का चन्द्रमा की कलाओं से गहरा संबंध है और इसी कारण से इसका नामकरण चन्द्रमा (सोम) के नाम पर हुआ। विद्वानों के अनुसार इसमें केवल पंद्रह पत्ते होते है। पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला के क्षय के साथ प्रतिदिन इसका एक पत्ता गिरता चला जाता है और अमावस्या को वह पर्णविहीन हो जाती है। इसके बाद प्रतिपदा से प्रतिदिन इसमें एक नया पत्ता आता जाता है और पूर्णिमा को पूरे पंद्रह पत्ते हो जाते है। *ऋग्वेद* में सोम को पर्जन्य (मेघ) का पुत्र तथा उसी के द्वारा संवर्धित बतलाया है। *अथर्ववेद* के अनुसार सोम की उत्पत्ति स्वयं विराट पुरुष से हुई है। *ऋक्संहिता* (10-34-1) के अनुसार सोमलता हिमालय के उत्तर में मौजवंत पर्वत पर उगती है—'सोमस्येव मौजवन्तस्य भक्ष:'। *ऋग्वेद* के एक अन्य उल्लेख के अनुसार सोम, पर्वत की चोटी पर पाया जाता है और यह वृक्षों पर आरोही जैसा फैलता है। काश्मीर के क्षुद्रमानस नामक सरोवर में भी सोमलता के उगने की बात कही गयी है। इस विवरण से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सोमलता ऐसे पहाड़ी क्षेत्रों में उत्पन्न होती होगी, जहां पर्याप्त वर्षा होती हो।

गुजरात में जब श्रीकृष्ण चन्द्र सगर को सोमलता को पीसनेवाली ओखलियां प्राप्त हुई तो उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि यही सोमस्थल था तो इसके आसपास

कहीं सोमलता भी मिलती होगी। डॉ० जयन्तीलाल ठक्कर की सहायता से उन्होंने निकट के पहाड़ी और दुर्गम क्षेत्रों में खोजबीन की तो थूहर की झाड़ी पर फैली हुई एक कठोर बेल उन्हें दिखलाई दी। कुछ वर्ष पूर्व उन्हें यही बेल द्वारका से पांच किलोमीटर दूर स्वर्णतीर्थ में भी दृष्टिगत हुई थी। उन्होंने इसका प्रयोग और परीक्षण किया तो उन्हें लगा कि यही बेल सोमलता है। कुछ बीमारियों में उन्होंने इससे लाभ भी महसूस किया। वैज्ञानिकों ने सोमलता जैसी लगनेवाली अन्य अनेक प्रजातियों का भी परीक्षण किया है और उनमें सोम जैसे गुण पाये है। कोंकण, कर्नाटक, कांची, पुरी औ. केरल में पाये जानेवाले मदार कुल के एक पौधे को भी सोमलता के रूप में कुछ विद्वानों ने स्वीकारा है। यह फैलनेवाला और ऊपर चढ़नेवाला आरोही पौधा है। वनस्पति शास्त्र में इसका अंग्रेजी नाम 'सार कोस्टेमा एसिडम' है। इस पौधे को संस्कृत, हिंदी और बांग्ला में सोमलता के ही नाम से पुकारा जाता है। मलयालम में इसे 'कोडापला' कहते हैं। वर्ष 1994 में जोधपुर (राजस्थान) में जो सोमयज्ञ का आयोजन किया गया था, उसमें केरल से इसी सोमलता को मंगवाया गया था। पंजाब, हिमालय, अफगानिस्तान और बलुचिस्तान में भी मदार कुल के दो अन्य पौधों (पेरीप्लोका एफाइला और सिरोर्पिजिया ट्यूबरोसा) को भी सोम के नाम से जाना जाता रहा है और उनमें कुछ औषधीय गुण भी हैं। सिन्धु नदी में प्राप्त होनेवाली चन्द्रमा नाम की बेल को भी सोमलता कहा गया है। अमरीकी वैज्ञानिक डॉ० रिचर्ड गार्डन की बहुचर्चित पुस्तक *'सोम द डिवाइन मशरूम आफ इमार्टेलिटी'* में लिखा गया है कि सोम कोई पुष्पित पौधा न होकर 'अमानिता मस्कारिया' नामक एक कवक यानी फंगस है, जो गीले पर्वतों पर पाया जाता है। इसका रंग वैदिक ऋचाओं में बतलाये गये रंगों (हरा, लाल या काला) से काफी मिलता-जुलता है। इस फंगस से कई प्रकार की शराब बनाई जाती है। स्पष्ट ही इस फंगस को सोमलता के रूप में स्वीकारना कठिन है।

कुछ भारतीय विद्वानों ने ब्राह्मी को ही सोम माना है। भाष्यकार सायण ने *अथर्ववेद* वैध कल्प (5-3-52) में बतलाया है कि सोम ब्राह्मी नामक भेषज है। कुछ कोशकारों ने भी ब्राह्मी को सोम का पर्याय माना है। *'भाव प्रकाश'* में ब्राह्मी को 'त्वाष्ट्री' कहा गया है। महर्षि चरक ने अनेक स्थानों पर सोम और ब्राह्मी शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। ब्राह्मी का औषधीय गुण सर्वज्ञात है।

विद्वानों ने अनेक पौधों को सोमलता के रूप में देखने और अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। लेकिन अभी वह समय शायद काफी दूर है, जब हम सोमलता के संपूर्ण लक्षणों और गुणों से युक्त असली सोमलता को प्राप्त कर सकेंगे।

□

भारत का सांस्कृतिक परिदृश्य

डॉ० इन्दु वीरेन्द्रा

संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति मूलतः 'संस्कार' शब्द से हुई है। संस्कार का सामान्य और व्यावहारिक अर्थ परंपराओं का पालन तो है ही, उन सबका शुद्धिकरण भी है। इसलिए जो व्यक्ति सुसभ्य है, जिसकी रुचियां परिष्कृत हैं, जिसका व्यवहार समग्र मानवीयता के महत्त्व के सांचे में ढला होता है, जिसके चित्त में अच्छी परंपराओं के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं अपनत्व के भाव भरे रहते हैं, जिसकी रुचियां कलात्मक होती हैं और सबसे बढ़कर जो जीवन जीने की कला जानता है, उसे प्रचलित शब्दों में सुसंस्कृत व्यक्ति कहा जाता है।

भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न नद-नदियों, पर्वतों तथा वन-वनांतरों से भारत अनेक खंडों में विभाजित अवश्य है, किंतु यह विभाजन केवल शरीर से है, न कि उसकी आत्मा से। राष्ट्र की आत्मा उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति बाह्य आचार-व्यवहारों, या वेश-भूषा से नहीं, परंतु महान् प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं तथा विचारधाराओं से संबंधित है। इस दृष्टि से समग्र भारत की आत्मा अर्थात् संस्कृति एक है।

भारत मां अठारह भाषाएं बोलनेवाली अवश्य है, किंतु उनके द्वारा एक ही विचार अभिव्यक्त होता है—यही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यह स्नेह भावना भारतीय संस्कृति की मौलिकता है जो भौतिक विषमताओं के बावजूद समग्र भारत के जनमानस में प्रतिष्ठित है।

भारत धर्मप्राण राष्ट्र है। दर्शन-चिंतन भारतीय मनीषियों की जन्मजात प्रवृत्ति है।

उत्तर में सरस्वती के तट पर ज्ञान, जीवन-तत्त्व, मानव-दर्शन तथा आत्मा की अपरिमितता आदि तत्त्वों को मूल में लिए रहनेवाले ज्ञानपुंज वेदों का संकलन हुआ था। उनके द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चतुर्विध पुरुषार्थ की उपलब्धि का दिशाबोध कराया गया है। इसी दार्शनिक परंपरा में भगवान या परब्रह्म की अनन्यता एवं अनुपमेयता का विवेचन करते हुए भारतीय मनीषी यही बताते आ रहे है कि ब्रह्मतत्त्व घट-घट मे व्याप्त है, किंतु जीव सांसारिक माया में पड़कर अपने सत्य-स्वरूप को विस्मृत कर देता है। माया यवनिका के आवरण से वह संसार में यंत्रवत् जीवन-यापन करता है। इस तथ्य को *कठोपनिषद्* इस प्रकार कहता है—*अंगुष्ठमात्रः पुरुष मध्ये आत्मनि तिष्ठति।* संत कवि कबीर भी कहते है—

घट-घट में वह साई रमता,
कटुक बचन मत बोल रे।

अर्थात् जीव घट-घट में व्याप्त ईश्वर के अंतर्यामी स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि 'मैं ब्रह्म का अंश हूं।' अज्ञान के कारण उसे यह मालूम नहीं होता कि 'मुझे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए।' यह आध्यात्मिक चिंतन-पद्धति भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है और यह विभिन्न भाषा-माध्यमों से भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्त हुई है।

भारतीय संस्कृति में विभिन्न विचारों को अपने में समाहित कर लेने की अभूतपूर्व शक्ति है। वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि पंथों की विचारधाराओं ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में अमूल्य योग दिया है। इन सभी पंथों का प्रचार-प्रसार उत्तर और दक्षिण में समान रूप से हुआ है। जातक, त्रिपिटक, समयसार, स्वार्थसिद्धि आदि बौद्ध एवं जैन कृतियों द्वारा इन पंथों के सिद्धांतों का प्रचार जैसे उत्तर में हुआ, वैसे ही दक्षिण में भी। वस्तुतः बौद्धों और जैनों ने अनेक विहारों की स्थापना दक्षिण में की। वे अपने सिद्धांतों का प्रचार दक्षिणवासियों के बीच करते थे। इसके प्रमाणस्वरूप ईसा के पश्चात् दूसरी और चौथी सदी के मध्य तमिल में रचित बौद्ध महाकाव्य *शिलप्पधिकारम* और *मणिमेखलै* तथा जैन-काव्य *जीवक चिन्तामणि* का उल्लेख किया जा सकता है। *शिलप्पधिकारम* के एक स्थल पर इस बात का उल्लेख है कि नायक कोवलन योल प्रदेश छोड़ विष्णु मंदिर एवं बौद्ध-जैन विहारों को पार कर पाड्य राज्य की ओर चल पड़ा। दक्षिण की कांची नगरी वैष्णवों, शैवों, बौद्धों तथा जैनों का प्रमुख केंद्र मानी जाती है, आज भी वहां इस तथ्य के प्रमाण उपलब्ध है।

राम एवं कृष्ण की कथाएं समस्त भारत में परिव्याप्त रही। रामायण और *महाभारत* का समादर सारे भारत में होता है। इन्होंने भी भारतीय चिंतन-पद्धति की अनन्यता के निर्माण में योग दिया है। वाल्मीकि की *रामायण*, भवभूति का *उत्तर रामचरित*, तुलसीकृत *रामचरित मानस*, कंबन की तमिल रामायण, कन्नड़ की पम्प *रामायण*, मलयालम की अध्यात्म रामायण, तेलुगु की रंगनाथ *रामायण*, भास्कर

रामायण आदि इस तथ्य के साक्षी हैं। वास्तव में उत्तर का चिंतन तुरंत ही दक्षिण पहुंच जाता था और इसी प्रकार दक्षिण में उत्पन्न विचारों और चिंतन से उत्तर के विद्वानों को प्रेरणा मिलती थी।

भारत के दक्षिण में स्थित केरल में जन्मे शंकराचार्य ने सारे भारत में अद्वैत सिद्धांत का प्रचार कर तत्कालीन समस्त नास्तिक वादों को उखाड़ फेंका। शांकर मत का ऐसा गंभीर प्रभाव उत्तर पर पड़ा कि आज भी बद्रीनाथ के मंदिर में उसी नंबूदिरि ब्राह्मण कुल का व्यक्ति पुजारी के पद पर रहता है जिनमें शंकर जन्मे थे। इसी प्रकार भक्तिधारा को लिया जा सकता है। आर्यों की प्रकृति-पूजा और कर्मकांड के पीछे उनका भक्तिभाव दबा पड़ा रहा। ज्ञानप्रधान आर्यों की भक्ति को कोमल भावप्रधान प्रवृत्तिमयी बनाया दक्षिण ने। मध्यकालीन भारत में जब सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तब दक्षिण ने भक्ति की स्निग्ध ज्योति लेकर उत्तर का मार्गदर्शन किया।

उत्तर भारत में ईसा की चौथी शती से लेकर, छठी शती तक साम्राज्य के उत्तम शासनकाल में वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म का जो प्रचार हुआ, उसकी सम्राट हर्षवर्धन एवं उनके परवर्ती शासकों के समय में उपेक्षा होने लगी और भक्ति की धारा वहां सूखती गयी। उस समय दक्षिण में शैव भक्त कवि नायनमारों और वैष्णव भक्त कवि आलवारों के द्वारा वह भक्तिभावना पल्लवित और पुष्पित होने लगी। विशेष रूप से वैष्णव भक्ति की समर्पणमयी स्निग्ध भावधारा चौथी शती और नौवीं शती के बीच बारह आलवार कवियों की गीतात्मक रचनाओं द्वारा दक्षिण के जनमानस को आत्मविभोर करती रही। इस भावुक भक्तिभावना को दार्शनिक दृष्टि से चिंतन की प्रक्रिया द्वारा भक्ति-आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया अनेक आचार्यों ने। उनमें प्रमुख थे नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुज। इन आचार्यों ने उत्तर भारत की यात्राएं कीं और वहां आलवारों के भक्ति-सिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रंथों तथा भाष्यों का प्रणयन किया। परिणामतः शरणागति मूलक भक्ति की यह तरल धारा समस्त भारत के हृदय को आंदोलित करने लगी। इसी वैष्णव भक्ति की धारा को आत्मसात् कर वल्लभ संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय आदि कई भक्ति संप्रदायों का उद्भव हुआ और तुलसीदास, सूरदास एवं अन्य अष्टछाप के कवि उत्तर में हुए तथा जनता के शुष्कप्राय मानस में भक्ति के माध्यम से आशा, विश्वास, जीवन की उपादेयता और शरणागति की महत्ता की चेतना जगायी। आलवारों और हिंदी के भक्तकवियों की भावात्मक समानता क्या यह स्पष्ट नहीं करती कि उत्तर और दक्षिण की वैचारिक सांस्कृतिकता आज के समाज के लिए अमूल्य धरोहर के रूप में उपलब्ध है?

जो सरस भक्तिधारा उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक धरोहर है, इसे भारतीय जनता को प्रदान करने में इन भक्तकवियों के अतिरिक्त रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी

आदि दक्षिणी आचार्यों, दक्षिण में जन्म लेकर उत्तर में पुष्टि मार्ग की स्थापना करनेवाले वल्लभ, रामानन्द, चैतन्य, श्रीहितहरिवंश हरिदास आदि उत्तर भारतीय आचार्यों का अभूतपूर्व योगदान रहा। इस सांस्कृतिक धरोहर को अपने-अपने क्षेत्र तक सीमित रखे बिना समस्त भारतीयों को प्रदान करने के उद्देश्य से ये आचार्य समग्र भारत की यात्रा करते थे। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि बंगाल को भक्तिरस से आप्लावित करनेवाले गौड़ीय संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य ने भारत के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया और विशेष रूप से वे श्रीरंगम, कुंभकोणम, तंजौर जैसे तमिल प्रदेश के वैष्णव क्षेत्रों में भी गये। इस मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ने सारे भारत को सांस्कृतिक एकात्मकता की जो धरोहर प्रदान की है उसके निर्माण में महाराष्ट्र के एकनाथ, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, पंजाब के नानक, गुजरात के नरसी मेहता, कर्नाटक के पुरन्दरदास आदि संतों का भी प्रदेय महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय सामाजिक आचार-विचार भी संस्कृतिमूलक है। यहां की कलाएं सांस्कृतिक गरिमा की प्रतीक हैं। उत्तर भारत में पर्व-अवसरों पर जैसे शहनाई का महत्त्व है, वैसे ही दक्षिण में नादस्वरम् का। संगीत के क्षेत्र में कर्नाटक संगीत एवं हिंदुस्तानी संगीत एक ही भाव-लय पर आधारित है। भले ही कालांतर में उनकी अनेक विधाएं हो गयी हों, फिर भी भावना, कल्पना, लय, ताल, गति आदि की दृष्टि से उन दोनों की भूमिका एक समान है। चित्र, वास्तु आदि कलाओं की भी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अनेक निर्मितियां हमें धरोहर के रूप में उपलब्ध है। एक ओर खजुराहो और दूसरी ओर महाबलिपुरम; अन्यत्र अजंता और एलोरा की गुफाएं तथा मध्यप्रदेश के जोगीमारा की गुफा और उनमें विद्यमान असामान्य चित्र एवं शिल्प और साथ ही नागार्जुन कोंडा की शिल्प रचनाएं, उभरे चित्रों से अलंकृत शिलाफलक आदि; इनके साथ ही तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर, मदुरै का मीनाक्षी मंदिर, काशी का विश्वनाथ मंदिर, पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर आदि अद्भुत कलासृष्टियों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी शिल्प, वास्तु तथा चित्रकलाओं के माध्यम से सांस्कृतिक कलाकारों की उदात्त भाव-गरिमा आज तक भारतीय प्रांगण में गूंज रही है।

यदि समाज में प्रचलित पर्व-त्यौहारों को लिया जाये तो वहां भी भारतीयों की सांस्कृतिक एकात्मता पायी जा सकती है। काश्मीर का वसंतोत्सव, ब्रजभूमि का दोलोत्सव, केरल का झूला उत्सव, सारे देश में मनाये जानेवाले उत्सव दशहरा, दिवाली, मकर संक्रांति आदि समस्त भारतीयों की चिर-सांस्कृतिकता के प्रमाण हैं, भले ही इन उत्सवों के मनाये जाने की प्रक्रिया में स्थान-भेद के कारण थोड़ा-सा अंतर क्यों न दिखाई पड़े। ये उत्सव आनंद, उल्लास, कर्मण्यता, कल्पना, ज्योति की कामना, लोक कल्याण की भावना आदि तत्त्वों के प्रतीक हैं जो भारतीय संस्कृति के अमर तत्त्व हैं।

वस्तुत: भौतिक, मानसिक, साहित्यिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों में उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकात्मता के ये प्रतिमान धरोहर के रूप में हमारे बीच आज भी विद्यमान हैं। इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण उत्तर और दक्षिण में सदियों से चली आनेवाली यह उक्ति है जिसमें हिमालय से उद्‌भूत गंगा से लेकर, सुदूर दक्षिण की कावेरी नदी तक व्याप्त भौगोलिक परिवेश में विकसित संस्कृति-प्राण प्रतिध्वनित हो रहा है—*गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती/नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरू।'*

संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति मूलत: 'संस्कार' शब्द से हुई है। संस्कार का सामान्य और व्यावहारिक अर्थ परंपराओं का पालन तो है ही, उन सबका शुद्धिकरण भी है। इसलिए जो व्यक्ति सुसभ्य है, जिसकी रुचियां परिष्कृत है, जिसका व्यवहार समग्र मानवीयता के महत्त्व के सांचे में ढला होता है, जिसके चित्त में अच्छी परंपराओं के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं अपनत्व के भाव भरे रहते हैं, जिसकी रुचियां कलात्मक होती हैं और सबसे बढ़कर जो जीवन जीने की कला जानता है, उसे प्रचलित शब्दों में सुसंस्कृत व्यक्ति कहा जाता है। इन समस्त गुणत्त्वपूर्ण अर्थों के आधार पर भी हम संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को परिभाषित नहीं कर सकते, क्योंकि उसका स्वरूप अत्यधिक सूक्ष्म, स्निग्ध एवं कोमल है। फिर भी यहीं प्रतिमान एवं मूल्य ही संस्कृति के स्वरूप का निर्धारण करने में सहायक हो सकते हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे समस्त स्वच्छ एवं स्वस्थ मानवीय भावनाएं, धारणाएं एवं चेतना ही वास्तव में संस्कृति की परिचायक है जो सब प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर, मानव में मानवत्व का संचार करती रहती हैं। इस दृष्टि से समूची मानव-सभ्यता की संस्कृति वस्तुत: एक है। देश और काल की सीमाएं तो बाद में आती है, उन सबसे ऊपर मानव है और मानव मूलत: एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत प्राणी है, इसमें कोई संदेह नही। उसकी सुसंस्कृत सुरुचियों का ही परिणाम साहित्य, संगीत तथा अन्यान्य ललित कलाएं हैं, ज्ञान-विज्ञान के अन्यान्य सभी क्षेत्र भी उसी के अंतर्गत आते हैं। मानव-संस्कृति का मूल उत्स भी एक है। बाद की भौगोलिक, प्राकृतिक, वैचारिक एवं देशकाल की परिस्थितियों ने ही उसे विभिन्न सीमाओं में विभाजित कर दिया है। यह विभाजन ही मानव एवं उसकी मानवता को अंतरराष्ट्रीयता के स्तर से नीचे, राष्ट्रीयता के स्तर पर ला छोड़ता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक देश-काल की संस्कृति में भिन्नता हो जाती है, यद्यपि उनमें अन्त:धारा एक ही प्रवाहित रहती है। विभाजित रूप से ही सही, प्रत्येक देश-काल की अपनी संस्कृति रहती है। उसकी चेतना को प्रत्येक देश-काल का व्यक्ति धरोहर में प्राप्त करता है और फिर उसकी रक्षा तथा संवर्द्धना करके अगली पीढ़ियों को हस्तांतरित करके स्वयं अतीत हो जाता है। उसके अतीत हो जाने पर भी सूक्ष्म अंत:सूत्रों से वह वर्तमान के साथ तो बंधा ही रहता है, उसका सूक्ष्म और कोमलकांत संस्पर्श भविष्य को भी रोमांचित करता

रहता है। उसकी सूक्ष्म उजली छाया भविष्य को भी प्रतिच्छायित करने की क्षमता रखती है और प्रतिच्छायित करती भी है। इसी कारण हमने संस्कृति के स्वरूप को अत्यंत कोमल, सूक्ष्म के साथ-साथ शाश्वत भी कहा है। संस्कृति की साधना ही वास्तव में मानव-सभ्यता और राष्ट्रीयता की सच्ची साधना है।

संस्कृति के मूल की आत्मा की हत्या को सांस्कृतिक चेतनाओं मे संयत साहित्य ही बचा सकता है। साहित्य का वास्तविक पोषण एवं संवर्द्धन सांस्कृतिक तत्त्व ही कर सकते हैं। दोनो एक-दूसरे के मूर्तरूप भी है और अमूर्त प्राणतत्त्व भी। किसी भी राष्ट्र के राष्ट्रीय एवं जाति के जातीय व्यक्तित्व को मुखरता संस्कृति और साहित्य मे ही प्राप्त हुआ करती है। यदि इन दोनों के परस्पर सुसंबद्ध आधार पुष्ट एवं प्राणवान है तो समझो कि राष्ट्रीयता एवं जातीयता भी प्राणवान है। इनकी सजीवता और प्राणवंता के अभाव में कोई भी राष्ट्र और जाति खड़ी नही रह सकती।

भारतीय संस्कृति की जड़े गहरी है—इस दृष्टि से हमारे जातीय एवं राष्ट्रीय साहित्य की पैठ भी गहरी है। इसी कारण एक नहीं, अनेक झंझावातों, विषमतापूर्ण विभेदों और विभिन्नताओं के हिचकोलों में भी यह राष्ट्र और इसका जातीय भाव अडिग रहा है। हमारे जातीय एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व का स्वरूप अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता रहा है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में, ''हमारा एक जातीय व्यक्तित्व है। वह हमारी जातीय मनोवृत्ति, जीवन-मीमांसा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, उठने-बैठने का ढंग, चाल-ढाल, वेशभूषा, साहित्य, संगीत और कला में अभिव्यक्त होता रहता है।' इस अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सजीव एवं सशक्त माध्यम है—भाषा। वह भी साहित्य की सुसाधित एवं सुललित भाषा। वास्तव मे अन्य सभी तत्त्व बाद में, क्योंकि वे उत्पादन भी बाद के हैं। किंतु संस्कृति मानव की सहजात मूल चेतना है—साधनाओं का शुभारंभ है और व्यापक अर्थों में साहित्य-साधना भी संस्कृति की समस्त साधनाओं का सुसाधित एवं प्रबल स्वर साहित्य में ही मुखरित तथा रूपायित होता है।

संस्कृति का मूलभूत विकास पहले 'लोक' में ही होता है, इसी कारण किसी भी जाति या राष्ट्र में लोक-संस्कृति का अत्यधिक महत्त्व है। लोक में सांस्कृतिक चेतना, धरती की सौंधी सुगंध के साथ तो जुड़ी ही रहती है, प्रकृति के पत्ते-पत्ते एवं व्यापक जीवन के कण-कण से भी जुड़ी रहती है। इसी कारण लोक-जीवन में संस्कृति की व्यापकता के दर्शन प्रत्येक सुविज्ञ विचारक ने किए है। सभ्यता एवं बौद्धिक तत्त्वों का विकास ही नागर संस्कृति का निर्माण करता है, उसके स्थूल रूप को परिवर्तित भी कर देता है, जबकि उसकी मूल संचेतना अपरिवर्तित ही रहा करती है। यह भी सत्य है कि समय और जीवन के परिवर्तन एवं नव्यान्वेषणों के कारण उसमें नवतत्त्वों का समावेश भी होता जाता है, पर आत्मा वही रहती है—मानवीयता की सुरुचि-संपन्न चेतना। साहित्य समय की इसी गति एवं परंपराओं के संवर्द्धित एवं विकसित भावों, स्वरूपों, धारणाओं एवं विचारों को शब्दों के सुसाधित पर्यावरण में रूपायित करता

चलता है। साहित्य की वास्तविक आत्मा का निर्माण और विकास सांस्कृतिक तत्त्वों के पोषण से ही होता है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जब-जब देश मे सांस्कृतिक संकट आया, तब-तब साहित्य ने ही आगे बढ़कर उसे उस प्राणघाती संकट से उबारा। इसी प्रकार जब-जब साहित्य की प्राण-पोषक धारा बाह्य उपलक्ष्यों के रेगिस्तान में भटकने लगी, तब-तब सांस्कृतिक तत्त्वों से संयत चेतनाओं ने ही आगे बढ़कर उस धारा को भटकने एवं सूखने से बचाया। उसे जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं तत्त्वों की हरियाली प्रदान की। उसे सुघड़ तटबंध प्रदान किए जिनके सुघड़ हरियाले अंतराल मे साहित्य की धारा तो अपने शाश्वत कल-निनाद को बनाए ही रही, जीवन की गतिविधि भी अबाध प्रवाहित हो सकी। यहां हम मध्यकालीन स्थितियो का उदाहरण ले सकते हैं। वास्तव मे वह युग सांस्कृतिक दृष्टियों से तो विघटन का युग था ही, साहित्यिक विघटन की संभावनाएं भी उभर रही थी। तब पावन और महत्तम निज सांस्कृतिक चेतनाओं को लेकर ही तुलसीदास जैसे संस्कृति के साधक साहित्यकार सामने आए। समूचा मध्यकालीन साहित्य वास्तव मे सांझी संस्कृति की साधना का ही साहित्य है और इसी कारण उसे 'स्वर्ण' युग का साहित्य कहा जाता है।

संस्कृति की साधना और व्याख्या करते समय इस बात की सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि उसके साथ किसी प्रकार के पूर्वाग्रह का भाव नही जुड़ा होना चाहिए। संस्कृति का अर्थ अंध-रूढ़ियों का पालन और मान्यता कभी भी नहीं रहा है। संस्कृति का अर्थ कट्टर धार्मिकता भी नहीं है और अध्यात्म-साधना भी नहीं है, यद्यपि ये भी उसके अंग अवश्य है। किसी परिस्थिति-विशेष मे यदि किसी देश की संस्कृति किसी पर्वत, वन, वृक्ष या पशु को महत्त्व देती है तो इसका अर्थ यह नहीं कि यह महत्त्व सार्वकालिक हो गया या इनका महत्त्व मनुष्य से भी बढ़कर हो गया। नहीं, मनुष्य और मनुष्यता का भाव ही सभी कालो मे संस्कृति-साधना मे सर्वोच्च है। पूर्व स्वीकृत, उत्तम माने जानेवाले तत्त्व यदि किसी युग में उपयोगी नहीं रहते या उनके कारण सहज मानवता का महत्त्व कम होना या किया जाने लगता है, तो उसे हम संस्कृति का सत्स्वरूप कभी नही कह सकते। क्योंकि सांस्कृतिक चेतना और मान्यताएं मानव-विनिर्मित है और मानव की मानवीय समृद्धि के लिए है। अत: संस्कृति किसी भी प्रकार के आग्रह या दुराग्रह की अपेक्षा कभी नही करती। परंपराओं को संस्कृति मानकर चलना भी वास्तव मे संस्कृति की साधना नही है। युगीन परिवेश में कुछ परंपराएं घातक—अतएव अमान्य भी हो सकती है। क्योंकि मुख्य चीज है मानव और उसकी मानवीयता की रक्षा। साहित्य इस दृष्टि से वास्तव मे संस्कृति की शल्य-क्रिया करता है। वह युग-परिवेश मे अनुपयोगी दिखाई देनेवाले तथाकथित सांस्कृतिक तत्त्वो की तराश-खराद करके अन्य उपयोगी तत्त्वों को सान देता रहता है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय है—यह जीवन मे योग तथा

त्याग का समन्वय करती है। यह सबको सुखी और प्रसन्न देखना चाहती है। यह वसुधा को ही कुटुंब मानने में विश्वास रखती है। भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषता यह है कि वह आनंद प्रधान है। यह सिखलाती है कि सुख-दुःख में, हानि-लाभ में, जय-पराजय में, उत्थान-पतन मे, हर्ष-विषाद में, मानसिक संतुलन और समभाव बनाए रहो। यही गुण इस संस्कृति को माननेवाले मनुष्यों मे बहुत सीमा तक रहा है। शायद यही कारण है कि जहां यूनान, मिस्र, रोम आदि की संस्कृतियां संसार से मिट गई, वहां भारतीय संस्कृति सदैव बनी रही। एक अन्य विशेषता है, कर्मवाद। यहां किसी को कर्म से मुक्ति नहीं—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों के लिए नियत कम आजीवन करते रहने का आदेश है और वेद ने जो आदेश दिया था कि—'सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की इच्छा करें', वह आदेश बराबर दोहराया जाता रहा है। भारतीय संस्कृति में विचारों की स्वतंत्रता रही है। यहां वेदों के एकेश्वरवाद को, उपनिषदों के ब्रह्मवाद को, पुराणों के अवतारवाद को, बौद्धों के शून्यवाद को, संतों के निर्गुणवाद को विकसित होने की खुली छूट रही है।

इसी विशाल हृदय स्वतंत्रता तथा उदारता के कारण इस देश में सर्व-धर्म समभाव पनपता आया है। मत या विचार को लेकर यहां शस्त्र प्रयोग नही हुआ बल्कि शास्त्रार्थ होते रहे हैं। वेदों और उपनिषदों की उदारता, दर्शनशास्त्रों, जातक-ग्रंथों, *रामायण* और *महाभारत* में भी दिखाई पड़ती है। यहां के महाकवि—अश्वघोष, कालिदास, भास और भवभूति आदि मानव-मात्र की कल्याण-कामना करते आए है। भारत में शक, हूण, कुषाण, ग्रीक, पारसी, यहूदी, मुसलमान आदि अनेक जातियों के लोग आये और इस संस्कृति में सबके-सब समाते गए। कबीर, नानक, चिश्ती, बुल्लेशाह आदि संत फकीर इस संस्कृति मे समन्वय लानेवाले हुए और उन्होंने विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया। आधुनिक काल मे राजाराममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गोखले, महात्मा गांधी, लाजपतराय आदि महानुभावों ने इस संस्कृति में पुनः प्राणों का संचार किया। उन्होंने भी यही दोहराया—'निर्वैरः सर्वभूतेषु,' अर्थात् सब प्राणियों के प्रति बैर-रहित भावना होनी चाहिए। सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याण के कार्य देखें, कोई भी प्राणी दुःखी न हो—में ही भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व छिपा है। भौतिकता से ऊबा हुआ पश्चिम आज भारतीय संस्कृति की ओर संभवतः इसीलिए आशाभरी दृष्टि से निहार रहा है।

□

समकालीन साहित्य के संकट

डॉ० अर्जुन शतपथी

द्रुत संचार तथा आवागमन की सघन सुविधाओं ने पूरे विश्व को मानो एक छत के नीचे लाकर खड़ा कर दिया है। मानव स्वभाव, रहन-सहन, आचार-विचार तथा अन्य अनेक विभिन्नताओं के चलते विश्व-कुटुंब के लोग और उनकी संस्कृति-संस्कार एक-दूसरे से मेल नहीं खा पा रहे हैं और तमाम देश अपनी संस्कृति के प्रसार अथवा अपहृत होने के रोग-शोक से ग्रसित हैं। ऐसे में भारतीय साहित्यकार की क्या भूमिका होनी चाहिए—विचार कर रहे हैं डॉ० अर्जुन शतपथी।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि जीवन और समय का संबंध अनन्य है, दोनों एक-दूसरे से ओतप्रोत हैं। समय की अपनी विशेष प्रवृत्तियां होती हैं जो समूचे सामाजिक जीवन को प्रभावित कर गतिवृत्तियों को बदल डालती हैं। कल तक जो प्रवृत्तियां वर्तमान थी, आज के संदर्भ में वे पुरानी मानी जाती है। इस प्रकार समय के प्रभाव से समाज निरंतर परिवर्तनशील है। प्रत्येक प्रबुद्ध समाज ने इस परिवर्तन को रेखांकित करने का प्रयास किया है। वह प्रयास साहित्यिक चिंतन का भी अंग है। अतीत की जीवनधारा से अलग अस्तित्व की मांग करना समकालीनता है। यह सर्वमान्य है कि भारत-जैसे देशों में परंपरा और प्राचीनता को समाज के जीवनदायी तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जब कभी इन तत्त्वों पर बाहरी शक्ति से आक्रामक स्थिति पैदा हो जाती है, तब संतुलन बिगड़ जाता है जिसे दूसरे शब्दों में समसामयिक संकट कहा जा सकता है।

यह किसी को बताने की जरूरत नही है कि आज का भारतीय समाज तथाकथित आधुनिकता से बुरी तरह ग्रस्त है। आधुनिकता क्या है? भारतीय जीवन के शाश्वत मूल्यबोध को बाधित करती क्रिया-प्रक्रिया और प्रयास को आधुनिकता माना जा सकता है। हमारी पारंपरिक व्यवस्था का विघटन, आधुनिकता के प्रवेश का पहला चरण है। दूसरे चरण में आधुनिकता ने राष्ट्रीय स्वाभिमान के उन सारे वैभवपूर्ण किलों एवं महलों को क्षति पहुंचाई है जिन्हें हमारा अतीत गौरव के बतौर मूल्यवान स्मारक मानता था। संप्रति हमारे जीवन में आधुनिकता की मौजूदगी बेबाक है। इन दिनों वैश्विक प्रवृत्ति को अपने कमरे तक खींच लाने का प्रयास निरंतर जारी है। क्षितिज से क्षितिज तक मार करनेवाली मिजाइल के समान, वैचारिक टकराव भी देश की भौगोलिक सीमाएं लांघकर अंतरराष्ट्रीय स्वरूप लेने लगा है। सागर की लहरों को उमड़ने के लिए स्वतंत्रता चाहिए। जहां एक ओर अपनी परिधि में विश्व सिमटता जा रहा है, वहीं दूसरी ओर चिंतन का दायरा बढ़ता जा रहा है। वैश्विकता के इस विस्तार से एक 'परिणाम' यही निकला है जिसे दुष्परिणाम कहना अधिक सार्थक लगता है। आज मानव का समझौता मानव से न होकर, वस्तु से होने लगा है। वस्तु के संपर्क में आनेवाला मनुष्य स्वयं वस्तुरूप बनने के लिए विवश हो गया है। अतः मानव धर्म को मानवता के रूप में परिभाषित करने का इरादा भी अप्रासंगिक हो उठा। मानवता, जिसकी श्रेष्ठता के सामने इतर धर्म मलिन-से लगते थे और जिसे क्रियात्मक स्वरूप देने के लिए कठोर साधना अपेक्षित होती थी, अब वह सिर्फ उपदेश देने के लिए रह गई है। और यही अंतरराष्ट्रीय वैमनस्य का बीज भी है। प्रस्तुत वैश्विक प्रवृत्तियों का अनायास फैलाव मानव जाति के इतिहास में एक बहुत बड़ी दुर्घटना है।

अपनी झूठी जिजीविषा को ओढ़कर जिस वर्तमान को आज का समाज जी रहा है, वस्तुतः वह एक विलक्षण स्थिति है। उस स्थिति की एक अभिव्यक्ति है प्रचुरता यानी वस्तु की प्रचुरता, उत्पाद की प्रचुरता, मांगों की प्रचुरता आदि। प्रचुरता का खतरा मोल लेना हमारी नियति है। उसकी चिल्लाहट है परिवेश का प्रदूषण। उत्पादन को रोक देने से आयात बंद हो जाता है और हमारे बाजार में आयातित वस्तुएं खुलेआम और भारी मात्रा में बिकती हैं। निदान यह है कि विदेशी चीजों की मांग बढ़ती जा रही है। भारतीय साहित्य में प्रचलित वाद आयातित है और अब भी आयातित हो रहे हैं। आज हमारे देश में देशी भाषा के बदले विदेशी भाषा (अंग्रेजी) की मांग बढ़ रही है। हमारे देश के लोग विदेशों में निर्मित थैली में भर-भरकर विदेशी मान्यताओं को ससम्मान अपने घर ले आ रहे है।

आधुनिकता की एक और मांग है—नारी स्वातंत्र्य। नारी स्वातंत्र्य का अर्थ है एकाधिकार जो आज तक पुरुष को भी नहीं मिला है। भारत के संदर्भ में स्त्री में तीन मौलिक विशेषताओं को नारीत्व कहा जाता है—गति, छंद और लय। संयोगवश, अच्छी कविता के लिए भी ये तीन चीजें ही अपेक्षित हैं। जब से कविता को इन

विशेषताओं से 'मुक्ति' मिली—कविता 'स्वतंत्र' हो गई और उसकी असमय मौत भी! उधर नारी का नारीत्व भी समाप्त हो गया। संत और भक्त कवियों ने अपने आपको नारी सम्मान के सजग प्रहरी के रूप में स्थापित किया था। वे कभी भी नारी के विरोधी नहीं थे। पर आज की स्थिति कुछ और है। तात्पर्य यही है कि आयातित विचार हमारा आज का सबसे बड़ा संकट है।

संप्रति प्रत्येक कविता पर यथार्थवाद की मुहर चिपकाई जाती है। यथार्थ में जीना और यथार्थवादी रचना करना कोई अपराध नहीं है। वस्तुसत्य को जीवन सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना, यथार्थ नही है। वस्तु को जीवन मे उतारना आसान है, पर उसे रचनाधर्म नही माना जा सकता क्योंकि वस्तु में वे तत्त्व विद्यमान नही है जो मनुष्य में है। तुलसी ने कही भी वस्तुसत्य को प्राधान्य नहीं दिया है। जीवन के तत्त्व उनके प्रत्येक छंद में झलकते है। कारण है, काव्यधर्म की उन्होंने कभी अवहेलना नहीं की। साठोत्तरी कविता के स्वरूप मे सभी ने गद्यात्मकता को प्रमुखता दी। लयात्मकता नि:शेष हो गई। परिणामत: कविता असंवेदनशील होती गई। भाव, छंद और लयविहीन कविता भी यथार्थ हो सकती है—इसमे दो मत नहीं है, किंतु यथार्थ ही कविता का सब कुछ नहीं हो सकता। नई कविता ने जिन नये छंदो को अपनाया है—वे है प्रतीक और बिंब। इसमे संदेह नहीं कि इन दोनो ने कविता को एक नितांत जटिल प्रक्रिया से गुजरने को बाध्य कर दिया है, फलत: कविता का कवित्व समाप्त हो गया लगता है। ध्यातव्य है कि व्यक्तिवादी चिंतन असंवेदी कविता को जन्म देता है। कविता को जड़ता का जामा पहनाकर यह कतई दावा नही किया जा सकता है कि यही कविता है। गहन आत्मबोध की कविता को समझने के लिए कई दशक बीत सकते है। महाप्राण निराला गद्य कविता के जनक है। प्रसाद ने भी गद्य कविताएं लिखी है किंतु उनकी कविता के स्वरूप मे और अन्य तथाकथित आधुनिक कवियो की कविता के स्वरूप मे मौलिक अंतर यह है कि यदि एक मे भारतीय परंपराबोध है तो दूसरे मे वस्तुसत्य। हिंदी कविता की दुनिया में अलग-थलग पड़ी कविता सबसे बड़ा संकट आज भी है।

आश्चर्य है, आज के अधिकांश कवि यह नही समझते या समझना नहीं चाहते कि भावसंवेदना और विचारसंवेदना की जमीन भिन्न है। बौद्धिक संवेदना और सिर्फ विचार तक सीमित रह जाना कविता की सार्थकता नही है जो पिछले कई दशको से होता आ रहा है। भावसंवेदना के तहत रसात्मकता की और विचारसंवेदना के तहत दार्शनिकता की सदा अपेक्षा रहती है। संप्रति जीवन का मौलिक दर्शन भी टुकड़ों में बंटकर बिखर गया है। जीवन के केंद्र से उत्पन्न होकर जो दर्शन जीवन को दिशा देता था, वह अपने केंद्र से हट गया है। अत: जीवन से जन्मा साहित्य भी जीवनधर्मी नही हो पाता। आज की कविता जीवन और जीवंतता से पलायन की कविता है। यदि जटिल जीवनजिज्ञासा से बचने का मार्ग अभिव्यक्ति है तो आज की कविता उसका

माध्यम है। रचनाकार के रचना-संघर्ष को रचना के तत्त्व के रूप में स्वीकार करना आज की आवश्यकता है। इससे रचना जीवंत भी बनेगी और वास्तविक यथार्थ को द्योतित भी करेगी।

आधुनिक जीवन में आत्मसंघर्ष को लेकर काफी बहस होती रही है जिसका प्रतिफलन साहित्य में भी हो रहा है। आत्मसंघर्ष को युगीन प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर लेना बहुत बड़ी भूल है। मानव सभ्यता की यात्रा जब से शुरू हुई है, आत्मसंघर्ष उसके साथ निरंतर रहा है। वह मानवीय चेतना का अंग है। जाने कितने आत्मसंघर्षों के बाद कविता का जन्म होता है। कबीर के प्रत्येक छंद में वह झलकता है। कबीर आत्मसंघर्ष से लहूलुहान था, क्योंकि वह समझौता करना जानता ही नहीं था। कविता का रक्तबीज सहस्त्राब्दियों से पोषित संस्कार की भूमि से अंकुरित होता है और भूमि को चीरकर ही तो अंकुर फूटता है। कालिदास, कबीर और केशव ऐसे ही नही बने थे। समय और समाज के साथ गहरी प्रतिबद्धता ने ही उनको सफल कवि बनाया था। मध्यकालीन कवियों ने भले ही जीवन से पलायन किया था, पर कला से नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन कवियों ने तो दोनों से पलायन किया है—कला से भी और जीवन से भी। इसलिए आज की अधिकांश कविताएं सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति न होकर, असामान्य जटिल जीवनबोध की कृत्रिम प्रस्तुति बन गई है।

अद्यतन संदर्भ में कालिदास, कबीर या केशव की अपेक्षा नही है। कालिदास ने अलंकारगर्भित काव्य सौष्ठव का निर्माण किया, कबीर ने क्रांतिकारी विचार दिए और केशव ने भक्ति में रीति को जोड़कर कलात्मक समन्वय की संभावना दी। इनकी पृष्ठभूमि में एक महान् संस्कृति थी जिसकी दस्तक उनके रचनाकार मानस पर लगती थी। आज के रचनाकार के सामने नई एवं परिवर्तित जीवन परिस्थितियां है और नई-नई मांगे भी। जैसे देश की सीमा पर वीरों ने प्राणो की बाजी लगाई, वैसे ही लेखक और कवि कलम चलाएं और संपुष्ट वैचारिक क्रांति की धारा प्रवाहित करें। आज साहित्य विचारवादी, व्यक्तिवादी और प्रेमवादी बनता जा रहा है। जो साहित्यकार सांप्रतिक भारतीय महास्रोत से हटकर, सस्ती और समझौतावादी रचना कर रहे है वे निश्चय ही साहित्य और समाज को अपंग बनाने के लिए कुचक्र की रचना कर रहे हैं। जिस देश में स्वयं रचनाकार संकट बन जाता है, वहां प्रचलित सारी विधि व्यवस्थाएं भी खोखली हो जाती है। फलतः आज एक ऐसे वर्ग का उदय हो गया है जो समकालीनता को ही सब कुछ मानता है और उसमें भविष्य के लिए कोई सपना नहीं है। फलतः जीवन से साहित्य कट गया है, संस्कार और संस्कृति से विलग हो गया है। आज की आवश्यकता है, राष्ट्रप्रेम को व्यापक करने के साथ-साथ हम अपनी कला, कीर्ति और संस्कृति के विकास हेतु पथ प्रशस्त करें।

[

यूक्रेन में हिंदी साहित्य

मारिया मैस्ले

भारतीय भाषाओं की जननी कही जानेवाली संस्कृत भाषा का साहित्य विश्व के अनेक देशों के साहित्यकारों तथा भाषाविद्‌ों की रुचि का क्षेत्र रहा है। संस्कृत के अनेक ग्रंथ विदेशी भाषाओं में अनूदित हुए जिनसे भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासा की एक परंपरा शुरू हुई। इसके बाद हिंदी का क्रम आता है जो अपनी साहित्यिक अनुपमता की वजह से विशिष्ट बनी रही है। यूक्रेन में भारतीय साहित्य की स्थिति पर एक आत्मीय चित्रण इस आलेख में प्रस्तुत है।

यूक्रेन मे भारत-विद्या की स्थापना आधुनिक काल मे न होकर, पूर्वकाल मे ही हो गई थी। सन् 1731 में हार्किव कोलेगिऊम को उपहार के रूप में एक पुस्तक मिली थी जिसमे ईसाइयो की एक प्रार्थना के अनुवाद सौ से अधिक भाषाओं में दिये हुए थे। इन भाषाओं में से एक संस्कृत थी। लगभग उसी काल से ही हार्किव के पुस्तकालय में हिंदू तथा बौद्ध धर्म के बारे मे ग्रंथ भी मिल जाते हैं।

यूक्रेन मे भारतीय सभ्यता के साथ, भाषा विज्ञान की तुलनात्मक प्रगति से ही प्रत्यक्ष रूप मे तथ्य सामने आता है। यह विचारधारा जो यूरोप में 18-19वीं शताब्दी मे प्रचलित हुई, अपने प्रथम चितक को फ्र० बॉप्प के नाम से जानती है। किंतु सन् 1833 में हार्किव विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर बेगर्द डोर्न (1805-1881) ने स्लाव भाषाओं तथा संस्कृत के बारे में अपना वैज्ञानिक निबंध प्रकाशित किया। इस मौलिक रचना को दुनिया-भर में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। साथ ही फ्र० बॉप्प की रचना पहले

ही से प्रकाशित थी।

आजकल यह कल्पना करना भी कठिन है कि किसी समय में यूक्रेन के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के भाषा-विज्ञान के विभागों के विद्यार्थियों को संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य रूप में दी जाती थी। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में संस्कृत साहित्य के आदर्श उदाहरण प्रयुक्त करते हुए विद्वानों ने स्वर-विज्ञान, व्याकरण, शब्द-रचना आदि के रूप सीखे थे और इसी के साथ साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद भी किया करते थे। ऐसे विद्वानों में से प्रथम स्थान हार्किव विश्वविद्यालय के डॉ० शेर्त्सल का ही है जिनके वैज्ञानिक निबंधों में संस्कृत साहित्य के सुंदर नमूने भी प्रस्तुत किये हुए हैं। इसमें भी अद्भुत बात यह है कि डॉ० शेर्त्सल के 'संस्कृत-व्याकरण' (1873) में पहले कई पन्ने देवनागरी लिपि में छपे हुए थे। चूंकि यह पुस्तक केवल भारत-विद्या के विभाग के विद्यार्थियों के लिए नहीं, बल्कि भाषा-विज्ञान के सभी विद्यार्थियों के लिए निर्धारित थी, इसलिए भविष्य में इस पुस्तक में रोमन लिपि का प्रयोग किया गया।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अतिरिक्त, तुलनात्मक पद्धतियों का लोक-साहित्य, समाज शास्त्र, संस्कृति तथा साहित्य के अध्ययन में भी प्रयोग किया जाता था। यूक्रेन की सीमाओं से काफी दूर तक हार्किव विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पोतेब्न्य (1835-1891) का नाम प्रसिद्ध है। भाषा-विज्ञान में उन्होंने मनोवैज्ञानिक पक्ष की स्थापना की जो दुनिया-भर में फैला हुआ था। संस्कृत के ज्ञाता डॉ० पोतेब्न्य ने अपनी रचनाओं में विस्तृत रूप में भारतीय साहित्य, हिंदुओं की परंपराओं तथा उनके विश्वासों के उदाहरण दिए हैं।

डॉ० पोतेब्न्य के शिष्यों में से हार्किव विश्वविद्यालय के ही संस्कृत विशेषज्ञ प्राध्यापक ओव्स्यान्निको-कूलिकोव्स्किय (1853-1920) का नाम प्रसिद्ध है। उनकी रुचि भारत में दार्शनिक चेतना के आविर्भाव में, वेदों में पृथक-पृथक धार्मिक प्रतीकों के अर्थ, देवताओं के स्थान अथवा कार्य-भार आदि विषयों में थी। इसी प्रकार अपने पूर्वगामियों के विपरीत डॉ० ओव्स्यान्निको-कूलिकोव्स्किय ने संस्कृत के साहित्य के उदाहरण, न केवल व्याकरण तथा भाषा के विविध रूपों को सीखने के लिए बल्कि प्राचीन भारतीय सभ्यता को समझने के लिए भी प्रयोग किये।

पूर्व शताब्दी में हार्किव विश्वविद्यालय के प्राध्यापक म० लूनिन (1807-1844), ओ० रोस्लाव्स्किय-पेत्रोवस्किय (1816-1870) आदि विश्व इतिहास पढ़ाते समय भारतीय इतिहास तथा दर्शन-शास्त्र को अधिक ध्यान देते थे। इन विषयों के ऊपर न केवल उनकी पाठ्यपुस्तकों में पृथक खंड लिखे हुए थे बल्कि विशेष पुस्तकें भी समर्पित की हुई थीं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि यूक्रेन में पूर्व शताब्दी में भारत-विद्या का केंद्र हार्किव विश्वविद्यालय में था और इसमें भारत-विद्या का अपना संकाय बना हुआ था।

काफी समय तक इसकी विशेषता यह थी कि संस्कृत साहित्य यहां अध्ययन का मुख्य उद्देश्य न होकर, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, इतिहास आदि विषयों के अध्ययन में ही केवल साधनारत रहता था। इस स्थिति में परिवर्तन हार्किव विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर पाव्लो रीत्तेर (1872-1932) ने किया। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, पाली तथा आधुनिक बांग्ला साहित्य के अध्ययन तथा अनुवाद को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, रामायण, जातक-कथाओं के खंड, कालिदास, भर्तृहरि के कई नाटक आदि शास्त्रीय साहित्य के सुंदर नमूने, उनके यूक्रेनी तथा रूसी अनुवाद अभी तक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं। सन् 1982 में उनके अनुवादों का अलग संग्रह छपा था, जिसका नाम था—'प्राचीन भारत की वाणी।'

हार्किव विश्वविद्यालय के अतिरिक्त कीव विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन कार्य की परंपरा भी पुरानी थी। यहीं के प्रोफेसर फ़० क्नाऊएर ने सन् 1908 में संस्कृत की पाठ्यपुस्तक छपवायी जिसका प्रयोग पूरे रूस में किया जाता था।

कीव विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापकों में से प्रोफेसर प्र० कलिनोविच (1888-1949) का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते हुए तीन शोध-निबंध लिखे। 'प्राचीन भारतीय नाटकों मे प्रकृति तथा रहन-सहन' (1916) में कलिनोविच ने प्राचीन नाटकों के प्राकृतिक प्रतीकों का सविस्तार अध्ययन किया है और इसमें भी ध्यान दिया है कि यूरोप के साहित्य से भारतीय प्राचीन साहित्य में खुशबू के आभा-भेदों पर अधिक बल दिया जाता है। 'भवभूति श्रीकंठ' (1918) में लेखक ने भवभूति की रचनाओं के आधार पर उनकी जन्म-भूमि, माता-पिता, रचनाओं के लिखने के क्रम के बारे में नयी जानकारी दी तथा उनके जन्म-काल के बारे में अपना विचार बताया। 'भारतीय विचारधारा के केंद्र बिंदु' (1928) में प्र० कलिनोविच ने भारतीय साहित्य की प्रगति पर तीन हजार साल के दौरान काल्पनिक कथा की, धार्मिक, दार्शनिक विचार-धाराओं के रूप में विचार किया है।

भारत-विद्या के कार्य-क्षेत्र में ल्वीव विश्वविद्यालय के प्र० हय्वोरोन्स्किय (1885-1927) ने भी अपना योगदान दिया है। उन्होंने एक निबंध लिखा जिसमें शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम्' तथा दण्डी के उपन्यास 'दशकुमारचरितम्' के भाषिक प्रश्नों का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सन् 1912 में संस्कृत तथा बौद्ध साहित्य के अध्ययन की पुस्तक प्रकाशित कराई तथा सन् 1932 मे संस्कृत की पाठ्यपुस्तक लिखी।

वैज्ञानिक परंपरा के अलावा यूक्रेन में भारतीय साहित्य अनुवाद तथा अध्ययन मे एक और दिशा थी जो लेखकों, कलाकारों की रुचि से उत्पन्न की हुई थी। इस पर प्र० द्रगोमानोव (1841-1895) ने, जो सोफ़िया तथा वियना के विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर रह चुके थे, काफी प्रभाव डाला। उनके सुझाव से उनकी भानजी सुप्रसिद्ध यूक्रेनी कवयित्री लेस्य उक्रइन्क (1871-1913) ने ऋग्वेद के कई अंशों का अनुवाद

का आधुनिक हिंदी साहित्य से परिचय हुआ है। वर्तमानकाल मे डॉ० नलिवायको दासियों किताबों तथा सैकड़ों कहानियों से अधिक हिंदी साहित्य के अनुवादों के प्रस्तोता हैं। प्रेमचंद के 'गोदान' तथा कहानी-संग्रह 'प्रेम की होली', नागार्जुन के उपन्यास 'वरुण के बेटे', भीष्म साहनी के उपन्यास 'बसंती', रमेश बक्षी की उपन्यासिका '27 डाउन', मणि मधुकर, राजेन्द्र अवस्थी आदि लेखकों की कहानियों के अनुवाद भी किये गए। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध लेखकों के विभिन्न शैलियों में लिखे हुए उपन्यासों, लघु-उपन्यासों, कहानियों, कविताओं के अलावा डॉ० नलिवायको लोक-कथाओं, पौराणिक कथाओं, कहावतों तथा लोकोक्तियों, चुटकुलों आदि के भी अनुवादक है। इनके अतिरिक्त डॉ० नलिवायको के अनुवाद में बाल-साहित्य की कई पुस्तकें भी छपी हुई है; इनमें से प्रेमचंद कृत 'बालरामायण' के अनुवाद का विशेष स्थान है।

इस सीमित आलेख में हम विस्तृत रूप से यूक्रेन में हिंदी साहित्य के प्रवेश का वर्णन नहीं कर सकते थे। हमारा उद्देश्य सिर्फ संक्षिप्त रूप में इस क्षेत्र के मूल चरित्र तथा अवस्थाओं का वर्णन करना ही था। इसलिए निष्कर्ष निकालते समय हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि यूक्रेनी पाठक हिंदी साहित्य से परिचित हैं। हिंदी साहित्य यूक्रेन में न केवल अनूदित हुआ है बल्कि इसने यूक्रेनी लेखकों के कृतित्व पर भी प्रभाव डाला। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्व सोवियत संघ में शास्त्रीय साहित्य के अलावा, अनुवाद करने में केवल प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था—अर्थात् उन लेखकों की रचनाएं जो गरीबों की जिंदगी का चित्रण किया करते थे। इसलिए अभी तक यूक्रेन में हिंदी साहित्य की विविधताओं की जानकारी नही हो पाई है।

□

देवनागरी लिपि : सर्वश्रेष्ठ होने की बात

दया प्रकाश सिन्हा

इस देश की सर्वाधिक प्रचलित और लोकमान्य भाषा हिंदी जिस लिपि में लिखी जाती है वह है देवनागरी लिपि। संसार की भाषाओं के समकक्ष हम जब इस लिपि को रखते-परखते हैं तो यह पाते हैं कि अपनी भाषाई क्षमता के कारण यह संसार की श्रेष्ठतम लिपि है। 56 व्यंजन और 12 स्वरोंवाली इस समृद्ध लिपि में दुनिया की किसी भी भाषा को, उसके स्वरानुकूल लिखने की क्षमता है। इस श्रेष्ठता के प्रमाण में भावुक नहीं, सत्य कथन प्रस्तुत कर रहे हैं हिंदी के सुप्रसिद्ध नाट्यकार-लेखक दया प्रकाश सिन्हा।

सबको अपनी बोली, अपनी धरती की मिट्टी और अपना आकाश सबसे ज्यादा अच्छे लगते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। यदि हिंदीभाषी लोगों को भी अपनी लिपि देवनागरी संसार की सभी भाषाओं की लिपियों से सर्वश्रेष्ठ लगे तो आश्चर्य क्या? किंतु सच भी यही है कि देवनागरी वास्तव में संसार की सभी भाषाओं की लिपियों से श्रेष्ठ है। यह कथन भावना या भावुकता से प्रेरित नहीं है बल्कि प्रामाणिक और विज्ञान-परीक्षित है।

जब मैं स्कूल में पढ़ता था, तो मुझे सबसे कठिन अंग्रेजी की वर्तनी लगती थी। रट-रटकर अंग्रेजी शब्दों की वर्तनी याद करनी पड़ती थी, क्योंकि अंग्रेजी वर्तनी किसी सिद्धांत पर आधारित नहीं है। अंग्रेजी में पी०यू०टी०—'पुट' होता है, तो बी०यू०टी०—'बुट' क्यों नहीं होता? 'बट' क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज तक मुझे कोई नहीं दे सका। अंग्रेजी-प्राध्यापक तक नहीं।

प्राथमिक कक्षाओं में ही पढ़ाया जाता है कि अक्षर दो प्रकार के होते हैं—स्वर तथा व्यंजन। व्यंजन को अंग्रेजी मे 'कोन्ज़ोनन्ट' कहते हैं तथा 'स्वर' को 'वोवॅल'। क-ख-ग से क्ष-त्र-ज्ञ तक के अक्षर व्यंजन कहलाते हैं तथा अ-आ, से अं-अः तक स्वर। स्वर ही व्यंजनों में मात्रा के रूप में लगाए जाते हैं, जिससे अक्षरों को विभिन्न ध्वनियों में प्रकट किया जा सकता है। हिंदी मे 56 व्यंजन हैं और 12 स्वर। इसके समक्ष अंग्रेजी में केवल 21 व्यंजन (कोन्ज़ोनन्ट) और 5 स्वर (वोवॅल) हैं। कदाचित् इसी कारण रोमन लिपि में उन अधिकांश ध्वनियों को नहीं लिखा जा सकता जिन्हे देवनागरी लिपि में व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हिंदी व्यंजन 'त' रोमन लिपि के माध्यम से नहीं लिखा जा सकता। 'सतीश' नाम रोमन लिपि में सदैव 'सटीश' ही लिखा जाएगा। रोमन लिपि में 'त' व्यंजन को व्यक्त करने के लिए कोई अक्षर नहीं है। रोमन लिपि का 'टी' अक्षर देवनागरी के 'त' अक्षर के निकटतम है, अतएव अंग्रेजी भाषी 'त' के स्थान पर 'ट' उच्चारित करके काम चला लेते हैं। अंग्रेजी बोलनेवालों के लिए 'तारा' हमेशा 'टारा' रहेगी और दिव्या हमेशा 'डिव्या' रहेगी। इसी तरह 'खेत' हमेशा 'केट' रहेंगे और 'घर' हमेशा 'गर' रहेंगे। रोमन लिपि की तुलना मे देवनागरी बहुत समृद्ध है। शायद ही कोई अंग्रेजी शब्द हो, जो देवनागरी मे न लिखा जा सके। इसीलिए हिंदीभाषी लोगों को अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में कोई कठिनाई नहीं होती।

व्यंजनों की तरह देवनागरी स्वरों मे भी संपन्न है। बारहखड़ी (अ-आ से अं-अः) के माध्यम से जो ध्वनियां व्यक्त होती हैं, उनको रोमन लिपि केवल पांच स्वरो (ए, ई, आई, ओ, यू) के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न करती है, अतएव बहुत सफल नही होती। रोमन लिपि में एक-एक स्वर से कभी दो या कभी तीन-चार तक ध्वनियां इंगित होती है, और कभी-कभी एक ही ध्वनि दो या तीन स्वरो से भी अलग-अलग व्यक्त होती है। इसके फलस्वरूप विभिन्न स्वरों के उच्चारण में अराजकता और नियमहीनता की स्थिति बन जाती है। इसी कारण अंग्रेजी सीखनेवाले विदेशियों को दस-पंद्रह वर्षो के बाद भी अपने अंग्रेजी उच्चारण पर आत्मविश्वास नहीं हो पाता।

रोमन लिपि के पहले अक्षर और स्वर 'ए' का कोई एक निश्चित उच्चारण नही है। अंग्रेजी के विभिन्न शब्दों मे, इस स्वर के अलग-अलग उच्चारण हैं; जैसे 'ऐड' (जोड़ना) में 'ऐ', 'चार्म' (आकर्षण) में 'आ', 'अबव' (ऊपर) में 'अ' तथा 'केयर' (फिक्र) में 'एय'। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रोमन लिपि का अक्षर 'ए', की चार प्रकार की ध्वनियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। किंतु किस शब्द में, किस परिस्थिति में, अंग्रेजी अक्षर 'ए' की किस ध्वनि का प्रयोग होगा, इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। बस जैसा उल्टा-सीधा पहले से चला आ रहा है, वैसा का वैसा ही प्रयोग होता है। उच्चारण के नियम के अभाव के कारण ही अंग्रेजी

अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरीके से बोली जाती है।

'अबव' अंग्रेजी शब्द में 'ए' का प्रयोग हिंदी के 'अ' स्वर के रूप में किया गया है। इसी तरह अंग्रेजी शब्द 'फोकस' में भी 'यू' स्वर का प्रयोग हिंदी के 'अ' स्वर के रूप में किया गया है। हिंदी के 'अ' स्वर की ध्वनि के लिए अंग्रेजी शब्दों में कहां 'ए' शब्द का प्रयोग किया जाएगा, और कहां 'यू' का, इसका कोई नियम नहीं है। इसलिए अंग्रेजी के विद्यार्थियो को हर शब्द की अलग-अलग निश्चित वर्तनी रटनी पड़ती है और किसी बच्चे की जिज्ञासा का उत्तर नहीं दिया जाता। उससे बस कहा जाता है—रटो—'पी-यू-टी—पुट', 'बी-यू-टी—बट'।

देवनागरी लिपि में स्वरों और व्यंजनों के नियोजन में व्यवस्था है। एक स्वर का प्रयोग, केवल एक ही निश्चित ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए होता है। देवनागरी लिपि में 'अ' स्वर का प्रयोग 'ऊ' या 'ऐ' की ध्वनि प्रकट करने के लिए कभी नही किया जा सकता। लिपि की वैज्ञानिकता अक्षरों के वर्गीकरण से ही प्रकट होती है। अक्षरों के उच्चारण में ध्वनि, मुख के किस भाग विशेष जैसे—कंठ, दांत, होंठ, तालू आदि के प्रयोग से उत्पन्न होती है, इसका विचार करके ही व्यंजन वर्गीकरण की रचना की गई है:

कंठ ध्वनि—कवर्ग: क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य ध्वनि—चवर्ग: च छ ज झ ञ
मूर्धन्य ध्वनि—टवर्ग: ट ठ ड ढ ण
दंत ध्वनि—तवर्ग: त थ द ध न
ओष्ठ ध्वनि—पवर्ग: प फ ब भ म।

उपरोक्त पांचों वर्गों में अंतिम व्यंजनों (ङ, ञ, ण, न तथा म) में नासिका ध्वनि (नेज़ल साउण्ड) है। प्रत्येक वर्ग में पहले और तीसरे व्यंजन के उच्चारण में सांस का उपयोग नहीं होता, जबकि दूसरे तथा चौथे व्यंजन के उच्चारण में सांस बाहर निकलती है। उदाहरण के लिए 'क' तथा 'ग' अक्षरों के उच्चारण करते समय सांस अपनी जगह, जैसी है वैसी ही, रुकी रहती है। 'ख' और 'घ' अक्षरों के उच्चारण के समय सांस का हल्का-सा झोंका बाहर निकलता है।

देवनागरी लिपि की एक विशेषता उसका लचीलापन है। विदेशी भाषाओं के नवीन शब्दों को, जिनके उच्चारण को परंपरागत रूप से देवनागरी में व्यक्त करने की क्षमता नहीं है, उनको भी सामान्य परिवर्तन के बाद, देवनागरी लिपि में व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'क', 'ख' तथा 'ग' अक्षरों के नीचे बिंदी लगाकर, उर्दू के अनेक शब्दों के उच्चारण को वैसा का वैसा ही व्यक्त करने की क्षमता देवनागरी लिपि ने प्राप्त कर ली है। अब आसानी से उर्दू के शब्द क़लम, क़ातिल, खुदा, ख़ंजर, ग़रीब, ग़ैर आदि हिंदी में लिखे जा सकते हैं।

जब अधिकांश मानवता सभ्यता के स्पर्श से अछूती थी, तब देवनागरी के

अक्षरों (स्वर तथा व्यंजन) का संस्कार आज से ढाई-तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय भाषाशास्त्री पाणिनि ने किया था। पाणिनि ने न केवल यह अध्ययन किया कि अलग-अलग अक्षरों के उच्चारण में मुख के किस भाग—कंठ, ओंठ, तालू, दांत का विशेष उपयोग होता है, उसने यह भी अध्ययन किया कि इन अक्षरों की उच्चारण में सांस की क्या गति होती है। पिछले तीन हजार वर्षों के विश्व इतिहास में पाणिनि सर्वथा मौलिक, अग्रगामी और अद्वितीय भाषाशास्त्री है। इस भारतीय प्रतिभा के लिए सिर अनायास आदर से झुक जाता है।

रोमन लिपि मे 'द' ध्वनि इंगित करने के व्यंजन नही है, अतएव अंग्रेजी शब्द 'गैदर' मे 'द' की ध्वनि के लिए, 'टी' एवं 'एच' अक्षरो को जोड़कर काम निकाला जाता है। इसी प्रकार रोमन लिपि मे 'थ' ध्वनि के लिए भी कोई व्यंजन नही है, अतएव 'थिन' शब्द में भी 'थ' ध्वनि के लिए भी 'टी' तथा 'एच' अक्षरो को जोड़कर काम निकाला जाता है। रोमन लिपि की तरह उर्दू मे भी पर्याप्त व्यंजनो के अभाव में खीच-तानकर काम निकाला जाता है। उदाहरण के लिए उर्दू में हिंदी का शब्द 'प्रकाश' नहीं लिखा जा सकता। उर्दू में 'प्रकाश' लिखना हो तो वह 'परकाश' ही लिखा जाएगा। रोमन लिपि के समान अरबी-फारसी लिपि मे ख,घ,ध आदि अक्षर नही हैं। उर्दू मे अगर 'खटाई' लिखना हो, तो वह 'कटहाई' लिखा जाएगा। पढ़ते समय 'कह' को संदर्भ के अनुसार 'ख' पढ़ा जाएगा। इसी तरह 'ध' लिखने के लिए उर्दू में 'दह' लिखेंगे, और 'घ' के लिए 'गह' लिखेंगे। 'धनवान' उर्दू मे लिखने पर 'दहनवान' हो जाता है और 'घर' 'गहर'। रोमन लिपि के समान अरबी-फारसी अक्षरों का वर्गीकरण भी नहीं है। आलिफ़-बे से हे-ये तक अक्षर बिना किसी सुघड़ व्यवस्था या नियम के अरबी-फारसी लिपि की वर्णमाला में बेतरतीब जमा किए गए है।

हिंदी को देवनागरी लिपि संस्कृत की देन है। हिंदी ने देवनागरी लिपि संस्कृत से विरासत में पाई है। देश की अन्य भाषाओं की लिपियां भी संस्कृत से प्रभावित हैं। गुजराती, और मराठी भाषाएं तो देवनागरी लिपि मे ही लिखी जाती है। किंतु तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, बांग्ला, गुरुमुखी आदि भाषाओं की लिपियां यद्यपि देवनागरी से प्रभावित है, किंतु उनमें देवनागरी जैसी पूर्णता नहीं है। देवनागरी के अक्षरो के समान न तो उनके अक्षरों का वैज्ञानिक वर्गीकरण है, और न ही उनमें ध्वनि व्यक्त करने की देवनागरी के समान विशद क्षमता। उदाहरण के लिए तमिल लिपि मे कवर्ग मे केवल 'क' तथा 'ङ' व्यंजन हैं, 'ख', 'ग' तथा 'घ' नहीं हैं। अतएव तमिल लिपि में खर, गर, घर शब्द नहीं लिखे जा सकते। अगर लिखना ही हुआ तो तीनों शब्दों के लिए 'कर' लिखा जाएगा। चवर्ग मे तमिल में केवल च और ञ है। छ, ज, तथा झ नहीं है। टवर्ग मे केवल 'ट' तथा 'ण' स्वर हैं। 'ठ', 'ड' तथा 'ढ' अक्षरों के समकक्ष अक्षर नहीं है। तवर्ग में केवल 'त' तथा 'न' अक्षर है। थ, द तथा ध के समकक्ष अक्षर नहीं है।

सीमित व्यंजनों के कारण विभिन्न ध्वनियों को प्रामाणिक रूप से व्यक्त करने की क्षमता तमिल की भी सीमित है। 'बाटा' की जूते की दुकान अपने बोर्ड पर तमिल में 'पाटा' लिखती है। ऐसा इसलिए, क्योंकि तमिल में 'ब' अक्षर नहीं है, अतएव मजबूरन जहां कहीं भी 'बाटा' लिखना हो, 'पाटा' ही लिखा जाएगा।

इसी प्रकार बांग्ला, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं की ध्वनियों को लिखने की क्षमता सीमित है। भारत में प्रचलित लिपियों में केवल देवनागरी ही एक ऐसी लिपि है, जो भारत की सभी भाषाओं को सफलतापूर्वक और प्रामाणिकता के साथ लिखने में सक्षम है। कदाचित देवनागरी की इसी क्षमता के कारण सन् 1961 में मुख्यमंत्रियों की सभा में भारत की सभी भाषाओं के लिए देवनागरी प्रयोग करने का प्रस्ताव तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने दिया था। उनको आशा थी कि जिस तरह यूरोप की सभी भाषाओं के लिए रोमन लिपि प्रयोग होती है, उसी तरह अगर भारत की सभी भाषाएं देवनागरी लिपि अपना लेंगी, तो राष्ट्रीय एकता संपुष्ट होगी। सभी मुख्यमंत्रियों ने एकमत से इसे स्वीकार करते हुए प्रस्ताव पास किया। तमिलनाडु के मुख्यमंत्री ने भी इसे अन्य मुख्यमंत्रियों के साथ एकमत से स्वीकार किया था। केरल के मुख्यमंत्री श्री पोट्टम तनुपिल्लाई ने भी राष्ट्रपति के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया था। किंतु दुर्भाग्य से यह प्रसंग कार्यान्वित होने की स्थिति तक नही चल सका और देश की एकता और भाषाई सौमनस्य का एक सुनहरा अवसर खो दिया गया। □

शायरी के कालजयी स्तंभ: फ़िराक गोरखपुरी

डॉ० शुभंकर बनर्जी

फ़िराक गोरखपुरी की शायरी से पूरी हिंदुस्तानी ग़ज़ल को एक शान हासिल है। हिंदी-उर्दू के सवाल पर विवाद तथा अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ भ्रांतियों की वजह से फ़िराक गोरखपुरी का जीवन-अध्ययन एक दिलचस्प सिलसिला है। उर्दू के लिए भारतीय ज्ञानपीठ जैसे उत्कृष्ट सम्मान से अलंकृत फ़िराक के कृतित्व पर प्रस्तुत है यह टिप्पणी।

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख उर्दू शायर माने जानेवाले फ़िराक गोरखपुरी के नाम से भारत के ही नही बल्कि विश्व के सभी साहित्य प्रेमी परिचित हैं। रघुपति सहाय 'फ़िराक' का देहांत हुए अब लगभग दो दशक हो चले है, परंतु हिंदुस्तानी शायरी के क्षेत्र में ऐसा दूसरा शायर अभी भी नही मिला। सूर, तुलसी, मीरा, रसखान और कबीर की परंपरा के रचनाकार 'फ़िराक' ने भी मीर (18वीं सदी) और ग़ालिब (19वीं सदी) की तरह 20वीं सदो की शायरी का प्रतिनिधित्व किया।

फ़िराक गोरखपुरी का जन्म 28 अगस्त, 1896 को गोरखपुर (उ०प्र०) के एक प्रसिद्ध दीवानी वकील गोरखप्रसाद के घर हुआ था। गोरखपुर की गलियों और मुहल्लों में खेलकर ही वे बड़े हुए। फ़िराक ने गोरखपुरी वातावरण की हर चीज को आत्मसात करते हुए प्रेरणा ग्रहण की। एक प्रकार से घर, मुहल्लेवालों, मित्रों-सहपाठियों, बिस्तर, घड़े, कमरे, बरामदे, दरवाजे, खिड़कियों... हर एक चीज से उनकी प्रगाढ़ मित्रता हो गयी। इसके अलावा चिड़ियों का चहचहाना, जानवरों का अपने बच्चों को दूध पिलाना जैसी घटनाओं ने भी उनके मन पर गहरी छाप छोड़ी।

प्रकृति की लीलाएं, मौसम का कारवा, दिन का रात से मिलना और बिछुड़ जाना आदि हर घटना उनके दिल तथा दिमाग को छू जाती थी। लगभग 50 वर्षों बाद उन्होंने अपनी इन अनुभूतियों को एक सुंदर लंबी कविता 'हिंडोला' में अभिव्यक्त किया तथा एक अमर काव्य की रचना की।

बालक फ़िराक गोरखपुरी ने प्रारंभिक शिक्षा गोरखपुर में ही प्राप्त की। फिर जुबली कॉलेज में हाई स्कूल पास करने के बाद वह उच्च अध्ययन के लिए इलाहाबाद आ गये। तब म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में एफ० ए० में अध्ययन के दौरान उनका विवाह हो गया। स्वयं उनके ही शब्दों में—मेरे जीवन की 'दु:खांत और विनाशकारी दुर्घटना' थी, धोखे से मेरी शादी करा दिया जाना। फिराक ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा था—'मेरी वैवाहिक जिंदगी एक नरककुंड रही है जिसने मेरी जिंदगी को आक्रोश, वेदना और घृणा का ज्वालामुखी बना दिया।' उन्होंने मानो निष्कर्ष निकाला—'मेरे सुख ही नहीं, मेरे दु:ख भी छीन लिए।' शादी की इस अप्रत्याशित घटना ने उनका जीवन पूरी तरह से मानो बर्बाद कर दिया। अत: युवा 'फ़िराक' इस आघात से कभी उबर नहीं सके। उन्होंने अपनी शायरी को पंकज की संज्ञा दी। अर्थात् उनकी शायरी की जड़ें वैवाहिक जीवन के दलदल में रही। उस पंक में रहकर कमल की ही तरह शायरी की उन्होंने।

स्नातक की परीक्षा में पूरे प्रांत में उन्हें चौथा स्थान मिला। अत: उन्हें आई० सी० एस० के लिए सीधे नामांकित किया गया। उन्हें डिप्टी कलेक्टरी दी गयी। परंतु यह कलेक्टरी उन्हें ज्यादा दिन तक रास नहीं आई। अत: 1920 में असहयोग आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया। फिर स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़े। अपनी गतिविधियों के कारण उन्हें डेढ़ साल की जेल मिली। जेल से छूटने के बाद कांग्रेस पार्टी के कार्यालय में कांग्रेस सचिव जवाहरलाल नेहरू के साथ अंडर सेक्रेटरी का पद संभाल लिया। परंतु जवाहरलाल नेहरू की यूरोप यात्रा के साथ-साथ ही 'फ़िराक' ने भी यह काम छोड़ दिया। तब उन्हें अपनी मातृसंस्था इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विषय के प्राध्यापक की नियुक्ति मिली। अवकाश प्राप्त करने तक वे इसी विश्वविद्यालय से जुड़े रहे। यहीं रहते हुए फ़िराक ने उर्दू अदब की महान रचनाएं कीं तथा डॉ० रघुपति सहाय से आगे 'फ़िराक गोरखपुरी' के नाम से ख्याति अर्जित की।

वैसे तो फ़िराक गोरखपुरी को ग़ज़लों के लिए ही अधिक माना जाता है परंतु उन्होंने 'हिंडोला', 'जुगनू', 'आधी रात', 'परछाइयां', और 'तराना-ए-इश्क़' जैसी खूबसूरत नज़्में भी लिखी हैं। उन्होंने 'सत्यम-शिवम-सुंदरम' जैसी रुबाइयों की भी रचना की। यह बात तथ्यपूर्ण है कि उनकी रुबाइयों में रीतिकाल के श्रृंगार रस की झलक मिलती है। फ़िराक ने गद्य भी लिखा जिसमें शायरी जैसी ही परिपक्वता और सुंदरता के दर्शन होते है। उनके साहित्य को व्यापक प्रसिद्धि तथा मान्यता प्राप्त हुई

है। उन्हें साहित्य के उच्चतम सम्मान भी प्राप्त हुए। उन्हें उर्दू काव्य-संग्रह 'गुल-ए-नग्मा' पर साहित्य अकादेमी तथा बाद में ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिले। उल्लेखनीय है कि उर्दू जुबान को पहला ज्ञानपीठ पुरस्कार दिलाने का श्रेय फ़िराक गोरखपुरी को ही जाता है। फ़िराक साहब को सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार भी मिला।

यह बात त्रासदीपूर्ण रही है कि जिंदगी-भर अपने विषय में फैलाई गयी सच्ची-झूठी धारणाओं की वजह से फ़िराक साहब सदैव विवादों के केंद्र में रहे। इसके अलावा उर्दू शायरी में नई रिवायत से लिखने के कारण उर्दूवालों में ही वे बेगाने रहे। दूसरी ओर हिंदीवालों के बीच भी वे मानो अवांछित रहे। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा द्वारा प्रयुक्त हिंदी के फ़िराक पक्षधर थे जबकि भारतेन्दु के बाद हिंदी साहित्यकारों द्वारा बोली को फूहड़ या मुर्दार ढंग से प्रयोग करके कविता की रचना करने या खड़ी बोली के साथ बेढंगेपन का व्यवहार करके उसे अपरिचित शब्दों से बोझिल करने का प्रयास करके, शब्दक्रम को बिगाड़कर कविता करने के वे प्रबल विरोधी रहे। फ़िराक गोरखपुरी की राय थी कि 'भाषा को केवल शुद्ध स्वाभाविक' या 'टकसाली' नहीं होना चाहिए बल्कि इसे प्रभावात्मक भी होना चाहिए ताकि हमारी चेतना उसमें डूब सके। दरअसल जीवित और दु:खती हुई रगों को छू देने से जो भाषा बनती है, वही कविता की भाषा है। अत: उनका यह सुझाव भी था कि हिंदी को उर्दू के निकट आना चाहिए और उर्दू को भी हिंदी के पास आना चाहिए। इस सम्मिलित भाषा के कई रूप हो सकते हैं तथा इन्हें हिंदी कहना ही उचित है।

अत: फ़िराक को हिंदी विरोधी समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। उनकी ग़ज़लों, नज़्मों और रुबाइयों पर एक दृष्टि डालने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में हिंदी शब्दों का प्रयोग काफी उदारता से किया। प्रसंगत:, इस बात को बहुत ही कम लोग जानते है कि फ़िराक ने संगम पब्लिशिंग हाउस नाम से एक प्रकाशन संस्था भी शुरू की थी। इस प्रकाशन संस्था ने उपन्यासों के पेपर बैक हिंदी अनुवाद में प्रकाशित किए थे। बाद में घाटे के कारण उन्हें यह प्रकाशन बंद करना पड़ा।

यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि फ़िराक ने हिंदू विचारों और अनुभूतियों से उर्दू शायरी के तेवर को मानो एक नई शान दी थी। फ़िराक का स्पष्टत: मानना था कि राधा-कृष्ण, राम-सीता, बुद्ध, सिद्धार्थ, भर्तृहरि, कुमारिलभट्ट, खुसरो, तानसेन, चैतन्य की परिकल्पना के बिना उर्दू शायरी दीर्घजीवी नहीं हो सकती। उन्होंने शायरी के क्षेत्र में उर्दू और हिंदी की सीमाएं समाप्त करने का भरपूर प्रयास किया था। यह सच है कि फ़िराक ही पहले उर्दू शायर थे जिन्होंने उर्दू शायरी की आठ पुस्तकें देवनागरी लिपि में छपवाई। उन्होंने उर्दू शायरी को इश्किया शायरी की सीमा के ऊपर उठाकर, घरेलू जीवन की पवित्रता और अनुभूति से समृद्ध किया। परंतु उनके जीवन का दु:खांत तथा त्रासदीपूर्ण पहलू यह था कि उन्हें पढ़ा काफी कम गया।

जबकि उन पर लिखा ज्यादा गया और जो लिखा गया वह अधिकांशत: साहित्यिक गतिविधियों से दूर ही रहा जिसकी वजह से उनकी रचनाओं के बारे में आम धारणा भ्रांतिपूर्ण बनी रही। यह भी माननेवाली बात है कि फ़िराक का जीवन-चरित्र साधारण, भद्र समाज के स्थापित मानदंडों से काफी अलग था। अंग्रेजी के प्रकांड विद्वान फ़िराक गोरखपुरी राजनीति से लेकर मानवविज्ञान, इतिहास, दर्शन, धर्म, ईश्वर, वेदांत, काम अर्थात् किसी भी विषय पर मौलिक विचारों के साथ तर्कपूर्ण विचार-विमर्श कर सकते थे। , हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी—तीनों भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे अत: उनसे तर्क करना कोई आसान काम भी नहीं था।

अत: यही कहा जा सकता है कि फ़िराक से सहमत या असहमत तो हुआ जा सकता है परंतु जब भी कभी बीसवीं सदी की हिंदुस्तानी शायरी का इतिहास लिखा जाएगा या उल्लेख होगा, डॉ० रघुपति सहाय 'फ़िराक' की शायरी का भी अवश्य तथा अनिवार्यत: उल्लेख होगा। उनकी शायरी का उल्लेख किए बिना बीसवीं सदी की हिंदुस्तानी शायरी अधूरी मानी जाएगी।

□

राष्ट्रीय जागरण के कवि रवींद्रनाथ टैगोर

अनिमेष वशिष्ठ

इस तथ्य को भी रेखांकित करना आवश्यक है कि टैगोर की निगाह में संस्कृति कोई जड़ वस्तु कभी नहीं रही जो अपनी कुछ 'लक्ष्मण रेखाओं' को पार कर ही नहीं सकती। उनकी वैचारिक-प्रक्रिया में दुनिया-भर का आधुनिक चिंतन समाया हुआ था और उस चिंतन के सार-तत्त्व की रोशनी में वे अपनी मान्यताओं को स्थापित किया करते थे।

7 अगस्त, 1941 को हुई महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए, डिस्ट्रिक्ट जेल, देहरादून से पंडित जवाहरलाल नेहरू ने पत्र में लिखा था—'विश्व के विभिन्न भागों में मैं बहुत-से बड़े लोगों से मिला हूं। पर मेरे मन में कोई संदेह नहीं कि जिन दो सर्वाधिक महान् व्यक्तियों से मिलने का मुझे सौभाग्य मिला है वे हैं गांधी और टैगोर। मेरा ख्याल है कि वे इस शताब्दी के पिछले पच्चीस वर्षों में संसार के मूर्द्धन्य व्यक्ति रहे हैं।'... इसी पत्र में आगे नेहरू जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'एक और पहलू मुझे निरंतर चकित करता रहता है। गुरुदेव और गांधी दोनों ने पश्चिम से एवं अन्य देशों से बहुत कुछ ग्रहण किया, विशेषत: गुरुदेव ने। दोनों में से एक भी संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं था। उनका संदेश विश्व-भर के लिए था। और फिर भी दोनों ही शत-प्रतिशत भारत की संतान थे और उसकी युग-युग व्यापी संस्कृति के उत्तराधिकारी, प्रतिनिधि एवं व्याख्याता। अपने विराटज्ञान और संस्कृति के बावजूद वे कितने गहरे भारतीय थे! आश्चर्य की बात तो यह है कि इतनी संपन्नता

होते हुए भी, और ज्ञान, चिंतन एवं संस्कृति के समान स्रोतों से अपनी प्रेरणा प्राप्त करके भी ये दोनों व्यक्ति एक-दूसरे से इतने भिन्न थे। शायद ही ऐसे दो व्यक्ति मिलें जिनमें गांधी और टैगोर से भी अधिक भेद हो!'

वास्तव में गांधी और टैगोर के बीच का यह प्रकट अंतर कई लोगों को असमंजस में धकेल सकता है कि आखिर इतने अधिक मतभेदों के चलते क्या यह संभव है कि दोनों ही राष्ट्रीय हों और वह भी खरे राष्ट्रीय। मगर यह एकदम सच है। तत्कालीन परतंत्र देश भारत की जनता तथा शेष विश्व की अपार जनता को राजनीति और नैतिकता के बल पर जहां गांधी ने बेतरह प्रभावित किया था, वहीं अपनी कविताओं, गीतों, नाटकों, कहानियों, निबंधों, पत्रों, चित्रों तथा संगीत आदि के साथ-साथ जीवन की कार्यशाला में किए जानेवाले अनेक मौलिक प्रयोगों के माध्यम से टैगोर ने भी पूरे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। मात्र लेखन के स्तर पर ही नहीं, व्यक्तिगत संपर्कों के माध्यम से भी टैगोर इस देश के सर्वाधिक मान्य तथा विश्वसनीय सांस्कृतिक दूत बने। टैगोर कुल मिलाकर ग्यारह बार विदेश यात्राओं पर निकले तथा उन्होंने अपने क्षेत्रों के सैकड़ों विशिष्ट विद्वानों से मित्रता की, अनेक स्थानों पर भाषण दिये तथा अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक संपदा का लगभग सारी दुनिया को ठोस परिचय दिया। इस तथ्य को भी रेखांकित करना आवश्यक है कि टैगोर की निगाह में संस्कृति कोई जड़ वस्तु कभी नहीं रही जो अपनी कुछ 'लक्ष्मण रेखाओं' को पार कर ही नहीं सकती। उनकी वैचारिक-प्रक्रिया में दुनिया-भर का आधुनिक चिंतन समाया हुआ था और उस चिंतन के सार-तत्त्व की रोशनी में वे अपनी मान्यताओं को स्थापित किया करते थे। संभवतः यही एक बड़ा कारण था कि टैगोर की राष्ट्रीयता या उनके देशभक्तिपूर्ण कार्यों को कभी एक जननेता के कार्यों की श्रेणी प्रदान नहीं की गई। यद्यपि जननेताओं के लिए वे देश-भक्ति तथा जन-जागरण की इतनी बड़ी मिसाल थे कि गांधी जी भी लगातार चाहते रहे थे कि टैगोर उनके कार्यों का समर्थन करें। गांधी जी द्वारा टैगोर से समर्थन मांगा जाना ही उनकी देश-भक्ति या राष्ट्रीयता का एकमात्र प्रमाण नहीं है बल्कि जलियांवाला बाग में 13 अप्रैल, 1919 को हुए बर्बर गोलीकांड के विरोध में उन्होंने अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रदत्त 'सर' की उपाधि लौटा दी थी; गांधी जी की गिरफ्तारी की सूचना मिलने पर कलकत्ता में चल रहे रवींद्रोत्सव को उन्होंने बीच में ही रोक दिया था तथा आज के राष्ट्रीयगीत के प्रणेता होने का गौरव भी टैगोर ने ही अर्जित किया है।

राष्ट्रीय जागरण के मूल में जाकर टैगोर ने पाया कि रूढ़ियों को प्यार करना और उन्हें पालते जाने में ही मानवता की प्रगति निहित नहीं है बल्कि साहसपूर्वक उन्हें तोड़कर, समृद्ध करने का बीड़ा उठाने की आवश्यकता है। इस विषय में उनका ध्यान गया—समाज में सिसकते निर्बलों पर, नागरिकों की स्वतंत्रता पर, अशिक्षा पर, नारी

को पुरुष के समकक्ष दर्जा दिलाने पर, बच्चों की स्वाभाविक क्षमताओं के विकास पर, किसानों के नवजीवन पर। कहना न होगा कि अपने शब्द, त्याग, कर्म और जीवन-संघर्षो के माध्यम से टैगोर इन विषयों पर छा गये। नारी उत्थान का संदेश उनके बहुलिखित साहित्य में प्रखरता से मौजूद है; जन-सामान्य की लाचारी, बेबसी को यथासंभव उपचारित करने के लिए टैगोर ने सन् 1901 में एक बिल्कुल मौलिक विद्यालय शांतिनिकेतन में आरंभ किया जो आज भी अपने आपमें एक अनोखा उदाहरण है। 'गीतांजली' नाम से प्रकाशित गीत-कविता के संग्रह की पुस्तक पर टैगोर को विश्व स्तरीय साहित्य का सर्वोच्च 'नोबेल पुरस्कार' मिला जिसकी पूरी राशि से उन्होंने एक बैंक खोल दिया था ताकि ग्रामवासियों को सस्ती ब्याज दरों पर ऋण उपलब्ध हो सके। इसी प्रकार उन्होंने विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों को भी हृदय से स्वीकारा तथा उसके अनुसंधान संबंधी कार्यो में वे बराबर दिलचस्पी लेते रहे। उस काल की कोई भी प्राकृतिक आपदा संभवतः टैगोर के सहयोग से अछूती न रही हो।

महात्मा गांधी हों या नेहरू, कवि येट्स हों या रोम्यां रोलां, या हों बर्टेण्ड रसेल...टैगोर का इन सभी महामानवों से सार्थक संवाद चलता रहता था। इसका एक अर्थ यह भी हुआ कि कवि इन सबके कार्यो को एक तटस्थ दृष्टि से देखने की क्षमता भी रखता था और इसी कारण वह कई अर्थो में महान् भी था। महान् इसलिए क्योंकि टैगोर ने लोगों की भावनाओं का फायदा न उठाकर, उनकी मानसिक भूमि को नव्य चिंतन दिया है, संसार के अपरिचित शास्त्रों और दर्शन का परस्पर परिचय कराया है। अपनी विविध कला-विधाओं के माध्यम से तथा अपनी पारदर्शी भाषा-शैली से अनेकानेक मार्मिक प्रसंगों तथा समसामयिक ज्वलंत समस्याओं को जन-जन तक उन्होंने संप्रेषित कर दिखाया है। उनके गीतों को किसानों ने गाया है, प्रेमियों ने गाया है, देश-भक्तों ने गाया है और प्रकृति के पुजारियों ने गाया है। किसी एक ही व्यक्ति ने इस राष्ट्र के जनमानस, इतने विशाल वर्ग-समूह को इतने स्तरों पर एक साथ झकझोरा हो—तो वह निश्चित रूप से अकेले रवींद्रनाथ टैगोर ही रहे हैं।

इस प्रकार इस देश के जन-सामान्य के भीतर आत्मा तक बैठे अंधेरे पर टैगोर ने लगभग आधी सदी तक चहुंमुखी प्रहार किए है। इस प्रहार से पैदा हुई ऐसी नवीन चेतना का राष्ट्र की स्वतंत्रता में प्रत्यक्षतः भले ही कोई हस्तक्षेप न दीखता हो मगर उनके योगदान को कमतर कतई नही माना जा सकता। मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय को संपन्न तथा विशालतर करने का जो सफल प्रयास टैगोर ने किया है, उसी के चलते भारत न केवल स्वतंत्र हुआ बल्कि अपनी तरह से, और अपनी शर्तों पर स्वतंत्र हुआ। राष्ट्रीय जागरण के परिप्रेक्ष्य में जहां टैगोर की भूमिका समाप्त होती है, वहां से गांधी की भूमिका का आरंभ होता है।

□

दो रचनाकार: विनोदकुमार शुक्ल और बशीर बद्र

राधेश्याम तिवारी

साहित्यिक पुरस्कारों की विवादास्पद भूमिका में कई बार सुपात्र को मिले पुरस्कार भी अपना महत्त्व गंवा बैठते हैं। मगर शायद हमेशा ही ऐसा नहीं होता। इस वर्ष का साहित्य अकादेमी पुरस्कार दो यशस्वी और समर्थ रचनाकारों—विनोद कुमार शुक्ल (हिंदी) और बशीर बद्र (उर्दू) को प्रदान किया गया है। इन साहित्यकारों की लेखकीय दुनिया पर यह टिप्पणी एक नजर डाल रही है।

विश्वविख्यात अस्तित्ववादी दार्शनिक और लेखक ज्यां पाल सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार के संबंध में एक बार कहा था, 'मेरे लिए नोबेल पुरस्कार और एक बोरा आलू में कोई फर्क नहीं है।' ऐसा कहकर सार्त्र ने आलू का अपमान नहीं किया था बल्कि इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अगर साहित्यिक पुरस्कार भी आलू की ही तरह खरीदा और बेचा जाये तो फिर एक स्तर पर दोनों में समानता तो नजर आएगी ही। अपनी एक टिप्पणी में वरिष्ठ कथाकार निर्मल वर्मा ने लगभग इसी ओर संकेत किया है। निर्मल जी कहते हैं—'जो लेखक पुरस्कार को सिद्धांतत: अस्वीकार कर देता है उसके सिद्धांत पर भी हमें शक नहीं करना चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा के विचारों से मैं सहमत नहीं हूं। लेकिन जानता हूं कि वे सिद्धांतों का पालन करते हैं। जो साहित्यकार पुरस्कार स्वीकार कर लेता है, वह नैतिक रूप

से नीचे गिर जाता है, ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन पुरस्कार के लिए जो समझौते किये जाते हैं उनके प्रति सतर्क होना बहुत जरूरी है।'

जिस ओर निर्मल जी ने संकेत किया है वह भी सिद्धांत की ही बातें हैं, मगर पुरस्कारों का यथार्थ संभवत: कुछ और भी है। पुरस्कारों की दुनिया सही मायने में एक मायालोक है जहां बहुत छोटा लेखक भी बड़ा दिखाई देता है और बहुत बड़ा लेखक छोटा। लेकिन यह बात भी संपूर्ण सत्य नहीं है। सच तो यह है कि जिस तरह बंद बोरी में अच्छे आलू के नाम पर कुछ खराब आलू भी बिक जाते हैं, उसी तरह अच्छे रचनाकारों के साथ-साथ कुछ दोयम दर्जे के रचनाकार भी पुरस्कार पाने की तिकड़म में सफल हो जाते हैं! यह स्थिति पहले भी रही होगी लेकिन आज कुछ और बढ़-चढ़कर नजर आती है। ऐसे में कई बड़े और लोकप्रिय लेखक केवल लिखने में ही अपनी पूरी ऊर्जा लगा देते है। नतीजा यह होता है कि वे पुरस्कारों की होड़ में पीछे रह जाते हैं। लेकिन अंतत: बचती है रचना ही। इस संदर्भ में विश्वविख्यात लेखक जेम्स ज्वायस, डी०एच०लारेंस, वर्जीनिया वुल्फ, टॉल्सटाय, काफ्का, निराला, प्रेमचंद आदि लेखकों का नाम सम्मान से लिया जा सकता है जिन्हें कोई शीर्ष साहित्यिक पुरस्कार नही मिला और फिर भी दुनिया-भर में ये लेखक खूब पढ़े जाते हैं।

हिंदी में भी पुरस्कारों की स्थिति बहुत स्वस्थ नहीं है फिर भी पुरस्कारों की विवादास्पद भूमि में कभी-कभार कुछ स्वस्थ रचनाकार भी सामने आते हैं। उन्हीं में हम विनोदकुमार शुक्ल और बशीर बद्र का नाम भी ले सकते हैं जिन्हें इस बार साहित्य अकादेमी (वर्ष 1999) का पुरस्कार दिया गया है। हिंदी के लिए श्री शुक्ल की जिस कृति को पुरस्कार दिया गया वह है उनका उपन्यास—'दीवार में एक खिड़की रहती थी'। मात्र 170 पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने यह दिखा दिया है कि एक छोटे कलेवर की कृति का भी विराट विस्तार हो सकता है। सहज और सरल भाषा में जिस मध्यवर्गीय चरित्र को इस उपन्यास में सहजता के साथ चित्रित किया गया है, ऐसी क्षमता किसी लेखक मे सहज ही नहीं आ जाती। इस उपन्यास के संबंध में 'अनुकथन' में श्री विष्णु खरे की यह टिप्पणी दृष्टव्य है—''विनोदकुमार शुक्ल में प्रयोगधर्मिता, ठोसपन और गीतात्मकता, गद्यता और पद्यता का अद्वितीय सामंजस्य है। उपन्यास के जिस भारतीय रूप को लेकर जो हास्यास्पद बहस चलती है उससे दूर रेणु के बाद और उनसे अलग हिंदी में विनोदकुमार शुक्ल ने उसे एक अनूठी संभावना तक बढ़ाया है। निम्नमध्यवर्गीय भारतीय जीवन में एक ऐसा 'जादू' है जो अन्यत्र कहीं नहीं है, हालांकि उसके आधारभूत मानव-मूल्य सब जगह वही हैं, और उसका यथार्थवाद विनोदकुमार शुक्ल के यहां है और उसमें एक अदम्य देसी आस्था है।''

विनोदकुमार शुक्ल की साहित्यिक यात्रा लंबी है। वे सहज भाव से लिखनेवाले

रचनाकार हैं। उनका लेखन बिल्कुल उनकी ही तरह है इसलिए वे अपनी गद्य एवं पद्य, दोनों ही तरह की रचनाओं में मौलिक तो लगते ही है, अपने भी लगते है। इसका एक कारण यह भी है कि इनके लेखन की चिंता एक मध्यवर्गीय परिवार की चिंता है। लेखक अपने पूर्ववर्ती अनुभवों को समेटकर भी वर्तमान के सामने खड़ा है। वह आज की सच्चाइयों को न केवल शिद्दत से महसूस करता है बल्कि अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों के सामने आज की सच्चाई को सहजता से रख देता है और अपनी ओर से बिना कुछ कहे पाठकों पर सब कुछ छोड़ देता है। कई बार तो ऐसा लगता है कि लेखक केवल संकेत-भर कर देता है और वह जो कहना चाहता है वह बात पाठकों तक संप्रेषित हो जाती है।

विनोदकुमार शुक्ल के गद्य में भी कविता की तरह एक आंतरिक लय है। यह लय केवल भाषा के स्तर पर ही नहीं, भाव के स्तर पर भी हमें उस दुनिया तक ले जाती है जहां रचनाकार पहुंचना चाहता है। इसका एक कारण लेखक विनोदकुमार शुक्ल का कवि होना भी है। दूसरी बात यह है कि श्री शुक्ल उन लेखकों में नही है जो विधागत सीमाओं में विंश्वास करते हैं। दुनिया के अनेक बड़े लेखक विभिन्न विधाओं में लिखते रहे है। सच तो यह है कि अगर यह पुरस्कार लेखक को उपन्यास पर न देकर उनकी कविताओं के लिए दिया जाता तो शायद और भी बेहतर होता। 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास होकर भी एक काव्यमय कृति लगती है। उपन्यास के आरंभ में ही लेखक की एक कविता है जिसका शीर्षक है—'उपन्यास में पहले एक कविता रहती थी':

''अनगिन से निकलकर एक तारा था।
एक तारा अनगिन से बाहर कैसे निकला था?
अनगिन से अलग होकर
अकेला एक
पहला था कुछ देर।
हवा का झोंका जो आया था
वह भी था अनगिन हवा के झोंकों का
पहला झोंका कुछ देर।
अनगिन से निकलकर एक लहर भी
पहली, बस कुछ पल।
अनगिन का अकेला
अनगिन अकेले अनगिन।
अनगिन से अकेली एक—
संगिनी जीवन भर।''

उपन्यास के पहले यह कविता दिखाई देती है और बाद में पूरे उपन्यास मे

अंतर्ध्यान हो जाती है जिसे पढ़ते हुए पाठक कविता को हवा की तरह भले ही देख नहीं पाता लेकिन महसूस किये बिना भी नही रह सकता।

उर्दू में इस वर्ष बशीर बद्र को साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिया गया है। यह उर्दूवालों के लिए तो प्रसन्नता की बात है ही; हिंदी पाठकों के लिए भी उतनी ही प्रसन्नता की बात है। बशीर बद्र की रचनाओं में हिंदी पाठक पूरी तरह परिचित हैं। डॉ० रोहिताश्व अस्थाना ने अपनी पुस्तक 'हिंदी ग़ज़ल—उद्‌भव और विकास' में बशीर बद्र को भी हिंदी ग़ज़लकार की श्रेणी में शामिल किया है। सच तो यह है कि हिंदी के ग़ज़ल लेखकों में भी बशीर सबसे अधिक हिंदी के करीब लगनेवाले शायर हैं। इसकी वजह बशीर की सहजता है। बशीर बद्र की समग्र ग़ज़लों का संकलन 'कल्चर यक्सां' प्रकाशित है, जिसकी भूमिका में बशीर बद्र की इसी सहजता की ओर संकेत करते हुए इसके संपादक बसन्त प्रताप सिंह ने लिखा है कि 'ग्वालियर से स्थानांतरित होकर जब भोपाल आया तब डॉ० बशीर बद्र से मुलाकातें हुई। उन्हें और उनके कृतित्व को बहुत नजदीक से जानने-समझने का अवसर भी प्राप्त हुआ। उनकी रचना का वह स्वरूप भी सामने आया जो अभी तक पढ़ने-सुनने में नहीं आया था। उनकी निष्कवच सादगी, भाषिक गेयता ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। वे मुझे हमेशा मेरी भाषा के कवि लगे। शायद इसीलिए हिंदीभाषियों के बीच भी वे लोकप्रियता के शिखर पर हैं।'

बशीर बद्र की ग़ज़लें उनकी होकर भी अगर सबकी लगती हैं तो इसकी वजह शायर की सार्वभौमिक चेतना एवं गहरी संवेदनशीलता है। बशीर की ग़ज़लों का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर गोपीचंद नारंग ने लिखा है कि 'हर बड़े शायर को कड़ी आज़माइशों से गुज़रना होता है। मीर को अपनी अज़मत के इज़हार के लिए अज़ग़र नाम लिखने की जरूरत पड़ी। ग़ालिब ने क्या-क्या मारका आराइयां की। फ़ैज़, जिन्हे उनकी ज़िंदगी में मकबूलियत और इज्जत मिल गई उन्हें भी आसानी से यह रुतबा नहीं मिला था। गज़िशत तीस बरस में बशीर बद्र ने भी ये सख्तियां झेली है। 'इकाई' से लेकर 'आमद' तक इन बड़ी-बड़ी आज़माइशो से वो गुज़रे है। उनकी ग़ज़लो की पहली किताब 'इकाई' ने हमारे अदब में तहलका मचा दिया था। एक अजीब शान और धूम से बशीर बद्र ग़ज़ल की दुनिया में आये लेकिन इस पर भी बड़े सर्दो-गर्म मौसम गुज़रे, तब वो यहां तक पहुंचे हैं।'

दरअसल बशीर की ग़ज़लों की भंगिमा आयातित नहीं है। आज हिंदी कविता पर जिस तरह आयातित संस्कृति थोपी जा रही है, उसी का परिणाम है कि लगातार हिंदी कविता के पाठक कम होते जा रहे है। अगर बशीर बद्र इतने लोकप्रिय है और हिंदी पाठक भी उन्हें अपने सिर-माथे पर बैठाये हैं तो यह निश्चित रूप से बशीर के लिए गौरव की बात है। बशीर बद्र अपनी परंपरा से आये हुए ठेठ जनता के शायर हैं। इसलिए पाठक उनकी रचनाओं में अपना अक्स देखता है। उनकी ग़ज़लों में बहुत

हो-हल्ला नहीं है। यह चुपके-चुपके भीतर उतरती चली जाती है। एक ग़ज़ल के कुछ शेर दृष्टव्य हैं:

यूं ही बेसबब न फिरा करो
कोई शाम घर भी रहा करो।
वह ग़ज़ल की सच्ची किताब है
उसे चुपके-चुपके पढ़ा करो।
कोई हाथ भी न मिलायेगा
जो गले मिलोगे तपाक से।
ये नये मिज़ाज का शहर है
ज़रा फ़ासले से मिला करो।
मुझे इश्तहार-सी लगती हैं
ये मुहब्बतों की कहानियां,
जो कहा नहीं वो सुना करो
जो सुना नहीं वो कहा करो।

बशीर चुपके-चुपके ऐसी बातें कह देते है जिसे बड़े-बड़े शायर हल्ला करके भी नहीं कह पाते। उर्दू ग़ज़ल में जो इश्क और हुस्न की परंपरा रही है, बशीर उससे बाखूबी परिचित हैं। लेकिन अपनी परंपरा में जो उनके मतलब का है उसे वे लपककर स्वीकार कर लेते है और जो उनके मतलब का नही है उसे सम्मानपूर्वक छोड़ते जाते हैं। बशीर उन रचनाकारों में से नही हैं जो जरूरत से अधिक क्रांतिकारी दीखने की कोशिश करते है। एक रचनाकार की सबसे बड़ी ताकत उसकी सहजता होती है। यह सहजता भी बहुत साधना के बाद किसी रचनाकार को मिलती है। जो जितना सहज होगा उतना ही सजग भी होगा। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते है कि सजग रचनाकार ही सहज हो सकता है। और यही सजगता रचनाकार से कालजयी कृतियां लिखवा लेती है। कुछ इसी तरह की पंक्तियां देखें:

बड़े लोगों से मिलने में
हमेशा फ़ासला रखना
जहां दरिया समंदर से मिला
दरिया नहीं रहता।

पलकें भी चमक उठती है
सोते में हमारी
आंखों को अभी ख़्वाब
छुपाने नहीं आते।

जिंदगी तूने मुझे
क़ब्र से कम दी है ज़मीं
पांव फैलाऊं तो
दीवार से सर लगता है।

दुश्मनी जमकर करो
लेकिन ये गुंजाइश रहे
जब कभी हम दोस्त
हो जाएं तो शर्मिंदा न हों।

यह एक सुखद संयोग है कि बशीर बद्र और विनोदकुमार शुक्ल दोनों ही सामान्य जन के रचनाकार हैं। दोनों की चेतना जनोन्मुखी है। हालांकि बशीर अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय और सरल हैं। विनोदकुमार शुक्ल भी आम आदमी के ही रचनाकार हैं लेकिन कुछ विशिष्ट लोगों के पसंद भी हैं। उनके लिए 'मीर' के शब्दों में हम कह सकते है:

गो मिरे शेर हैं खवास पसंद
पर मेरी गुफ़्तगू आवाम से है।

□

अंतर्द्वंद्वों के अप्रतिम कवि: विवेकानन्द

डॉ० देवव्रत जोशी

संभवत: बहुत कम लोग यह जानते हैं कि वेदांत उपनिषद् आदि के मर्मज्ञ एवं भारतीय नवजागरण के वैतालिक संन्यासी विवेकानन्द का कविता के साथ सर्जना का संबंध था। उनका कवि अपने काव्य में कुछ यूं भी चिंतन करता है— 'ये दृश्य बिल्कुल नहीं भाते/यह अनवरत बहाव/और पहुंचना कहीं नहीं...!'

कविता भीतर से आती है। वह नितांत वैयक्तिक अनुभूति है, जो व्यक्त होकर केवल व्यक्ति-मात्र की नहीं, सार्वजनीन हो जाती है। वस्तुत: सबके भीतर की पीड़ा, एकाकीपन और संत्रास को कवि का संवेदनशील मानस अपेक्षाकृत अधिक ग्रहण करता है और सबकी ओर से स्वयं के माध्यम से अभिव्यंजित करता है।

वसुधा को कुटुंब माननेवाली भारतीय सांस्कृतिक मनीषा की काव्य-यात्रा वाल्मीकि से प्रारंभ हुई। उनका करुणा-विगलित स्वर विश्व का आदि-श्लोक था। ऋषि से बढ़कर कवि कौन हो सकता है? वेद-ऋचाओं का ज्ञान भी तो क्रांतदृष्टा और समूचे विश्व के मंगलसृष्टा ऋषि-कवियों ने ही तो किया था। महाभारत के रचनाकार वेदव्यास ऋषि थे, कवि भी। ऋषि और कवि के मध्य पहले कोई स्थूल अंतर था भी नहीं। गीता की सार्वभौम एवं सार्वकालिक संपृक्ति तथा विराट कल्पना ने भारतीय काव्य को व्यापक फलक प्रदान किया। इतनी गूढ़ गीति-रचना की सृष्टि प्रथम बार भारत में हुई। विद्यापति, चंडीदास, सूर-तुलसी-कबीर-मीरा-दादू... ये सब वे नाम हैं, जो संत और कवि के अंतर को दूर करते हैं।

वेदांत-उपनिषद् से प्रभावित, भारतीय नवजागरण के वैतालिक संन्यासी विवेकानन्द के भीतर भी एक कवि विराजमान था। गैरिक वसनों से वेष्टित, धर्म और दर्शन की प्रभावशाली व्याख्या करनेवाले इस प्रखर दार्शनिक युवा संन्यासी के हृदय में भी कविता की धारा तरंगायित होती थी; ठीक उसी प्रकार, जैसे आसेतु हिमाचल संपूर्ण भारतवर्ष को अपनी वाग्विदग्धता से झकझोरनेवाले शंकराचार्य के घोर तार्किक और दार्शनिक कंठ से शीतल-मधुर काव्य-धारा प्रवाहित हो उठती थी।

'संन्यासी' कवियों की परंपरा आधुनिक काल में भी सतत प्रवहमान है। महर्षि अरविन्द की 'सावित्री' और स्वामी विवेकानन्द की कविताएं इसके उज्ज्वल प्रमाण है। विवेकानन्द एक ऊर्ध्वचेता साधक, चिंतनशील मनस्वी, वाणी के वर्चस्वी, मेधावी-महापुरुष थे। वे संवेदनशील, अंतरतम को अभिव्यक्त करने वाले कवि थे—कहीं उल्लसित, उच्छ्वसित और कहीं थके-टूटे-क्लांत—

आह, इस अप्रतिहत प्रवाह से
कितनी थकान हो आई है मुझे
ये दृश्य बिल्कुल नहीं भाते
यह अनवरत बहाव
और पहुंचना कहीं नहीं...

यह कवि विवेकानन्द के 'भीतर की आवाज़' है। निद्रित देश को अपनी पौरुष-गर्जना से जगानेवाले, भारत के भव्य अतीत को सुदूर—समुद्रपार देशों में प्रतिध्वनित करनेवाले भारतीय नव-जागरण के प्रमुख वैतालिक विवेकानन्द की वाणी का एक रूप उनका काव्य भी है—

तुमने मुझे अंधेरे में खेलने को भेज दिया
और भयानक आवरण ओढ़ लिया...
आशा ने साथ छोड़ दिया
भय ने आतंकित किया
और यह 'खेल' कठिन कर्म बन गया।

मानव-जीवन नियति-संचालित है और मनुष्य नियति की डोर से बंधा डोल रहा है—उद्दाम लालसाओं और गहन पीड़ाओं के उफनते हुए उत्ताल तरंगों से पूर्ण महासमुद्र में सुखों की आशा में—

जहां जीवन मृत्यु-सा भयानक है
और जहां मृत्यु फिर नया जीवन देकर
उसी समुद्र की लहरों में
सुख-दु:ख के थपेड़े सहने को ढकेल देती है।

असहायता का यह अंतहीन सिलसिला सृष्टि के आरंभ से चल रहा है, निर्बाध! क्योंकि मनुष्य लालसाओं और गहन पीड़ाओं के समुद्र के बीच अकेला है, सुख-दु:ख के थपेड़े सहना उसकी करुण नियति है, क्योंकि—

देह चाहती है सुख-संगम
चित्त-विहंगम स्वर-मधु-धार
हंसी-हिडोले झूल चाहता, मन—
जाता दु:ख—सागर-पार।

किंतु दैन्य, पलायन और वीतरागिता विवेकानन्द के मूल स्वर नहीं है। विवेकानन्द अपने काव्य में भी उतने ही मुक्त, प्रखर और उदात्त उद्घोषक हैं प्राणवान जिजीविषा के, जितने उन्मुक्त और मुखर सांस्कृतिक और चिंतनशील दार्शनिक 'उपदेशक' के रूप में वे हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

उनकी दृष्टि धुंधलाई या संकीर्ण नहीं है। वे कलुष-भरे मानस को भेदकर स्वयंप्रकाशित आत्मा के भीतर बैठे जागृत देवता को प्रत्यक्ष करते हैं तथा उसके दर्शन अपने सहयात्रियों को भी कराते है। वे युग की जड़ता को झकझोरनेवाले क्रांतद्रष्टा कवि हैं, समाज की आत्मा के रूढ़ि-जर्जर, रुद्ध कपाट तोड़ने के लिए प्रतिबद्ध, कबीर की तरह निर्भीक, मूर्तिभंजक रचनाकार—

उसी का पूजन करो, जो दृश्यमान है, ज्ञेय है
सत्य है, सर्वव्यापी है
काल्पनिक छायाओं के पीछे मत भागो
जो तुम्हें विग्रहों में डालती है
उस परम प्रभु की उपासना करो
जिसे सामने देख रहे हो
अन्य सभी प्रतिमाएं तोड़ दो...

यह कोरी रहस्यात्मकता नहीं है। भीतर के जागृत देवता के दर्शन के पश्चात् बाहर भी सर्वत्र उसी का रूप दृष्टिगोचर होने लगता है—

ओ विमूढ़!
जागृत देवता की उपेक्षा मत कर
उसके अनंत प्रतिबिंबों से ही
यह विश्व पूर्ण होता है।

सहजता, विवेकानन्द के काव्य का प्रमुख गुण है। वे कहीं आरोपित नहीं लगते।

उनकी कविता दुरूहता से मुक्त, साधारणीकृत तथा स्वानुभूति के धरातल पर स्थित एक सहज कवि की कविता है। कवि विवेकानन्द के साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन शेष है। उपदेशक की अंत:सलिला सरस्वती साहित्य-क्षेत्र में उपेक्षिता रही।

शताब्दी के श्रेष्ठ वक्ता वेदांती विवेकानन्द से उनके कवि का स्वरूप किंचित विरोधाभासी लग सकता है।.... लेकिन उनका काव्य किसी भी निष्कर्ष पर खरा उतरता सौ फीसदी काव्य है।

□

संस्मरण

बाबा ने कभी समझौता नहीं किया

शशिधर खां

हिंदी के सुविख्यात कवि बाबा नागार्जुन का जीवन और रचनाकर्म हिंदी साहित्य के आकाश में अपने विवादों और प्रचारों के कारण वर्षों तक छाया रहा है। अनेक साहित्यिक विचारधाराओं के संयोजकों ने बाबा को 'अपना' बताकर, अपना साहित्यिक उल्लू सीधा किया मगर बाबा को यह 'चाल' पसंद न आती थी। बाबा के व्यापक साहित्यिक महत्त्व का खुलासा कर रहे हैं शशिधर खां, जिन्होंने बाबा के संग-साथ में उन्हें बेहतर दृष्टि से जाना और पहचाना है।

बाबा नागार्जुन (पं० वैद्यनाथ मिश्र) के संपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रचारित पक्ष है उनका वामपंथी रुझान का होना। हमारे देश में वामपंथी लेखन के ठेकेदार, अपने को जनवादी कहकर एक खास वाद की राजनीति करनेवालों ने पता नही किस मुहूर्त में बाबा को अपनी टोली मे शामिल कर लिया और फिर मृत्युपर्यंत वे इनके नाम पर संपूर्ण साहित्य जगत को भ्रमित करते रहे। जबकि बाबा ने हमेशा किसी भी वाद को लेकर साहित्य में राजनीति करनेवालों को जमकर कोसा। एक बार का वाकया मुझे याद है। बात सन् 1982 की है, जब पटना मे प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से आयोजित कवि सम्मेलन में प्रसिद्ध फिल्म गीतकार कैफ़ी आज़मी, बाबा के समतुल्य कवि शमशेर बहादुर सिह और स्वयं बाबा आमंत्रित थे, जिन्हें संचालन भी करना था। चूंकि भयंकर दमा के कारण उन्हें बोलने में दिक्कत होती थी, इसलिए सिर्फ एक छोटी-सी कविता से उद्घाटन करके बाबा को छोड़ दिया

गया। उस कवि सम्मेलन के बाद रात को वे प्रगतिशील लेखक संघ पर खूब बरसे। जहां तक मेरी स्मृति साथ दे रही है, उसके आधार पर मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि बाबा उस रात सो नही पाए। चूंकि मै और बाबा एक ही कमरे मे थे, इसलिए उनकी बेचैनी का मैं चश्मदीद गवाह हूं। बाबा के अनुसार—''इन लोगों ने कही से एक शब्द पकड़ लिया 'प्रगतिशील', और उसे लेकर भुना रहे है, मानो अपने को प्रगतिशील कहनेवाले आगे की ओर जा रहे हो और जो इस संघ मे शामिल नही हैं, वो अवनतिशील हो।''

बाबा ने 'निराला' की तरह भूख, गरीबी और अभाव को अत्यंत निकट से देखा था। जिन गरीब और बेसहारा लोगों की जिदगी का चित्रण उनकी रचनाओं मे मिलता है, वह तस्वीर भूखे-नंगो के बीच रहकर ही उन्होंने खीची और अंतिम सांस लेने तक बाबा वैसे ही लोगों के साथ रहे। बाबा कहा करते थे कि गरीबो की जिंदगी पर लिखना अगर कम्युनिस्ट बन जाना है तब तो सबसे बड़े कम्युनिस्ट 'निराला' और उसके भी पहले प्रेमचंद व कबीर साबित होगे। मगर उन लोगो ने तो कभी सत्ता या कुर्सी से समझौता किया नही, जबकि इस देश मे कई कम्युनिस्टो का चरित्र हमेशा सत्ता से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संबद्ध करनेवाला रहा है। बाबा ने बातचीत के दौरान कई बार ये सवाल उठाए है। बिहार के दरभंगा जिले मे अपने बड़े पुत्र शोभाकान्त जी के यहां शरीर से बिल्कुल लाचार होने के समय तक बाबा को इस बात का मलाल रहा कि वामपंथियों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ के चलते उनके लेखन-संसार को एकपक्षीय बना दिया। वे बार-बार कहा करते थे कि मार्क्सवाद का मतलब भूखो-नंगो को अपने हक की लड़ाई के लिए प्रेरित करना है। बाबा की अधिकांश रचनाएं नौजवानो की रगो मे बहते खून को गर्म करनेवाली हैं, मगर इसका यह मतलब नही कि बाबा की विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं का अभाव है। ज्ञातव्य है कि उनके नाम का इस्तेमाल करनेवाला कोई भी प्रगतिशील उस समय बाबा की सुध लेने नही गया जब वे बिस्तर पर तिल-तिल सांसे गिन रहे थे!

युवावस्था से ही बाबा ने किसी पंथ, दर्शन अथवा वाद से समझौता नहीं किया और सबसे ज्यादा उन्हें नफरत थी सत्ता की राजनीति से। सत्तापक्ष की नीतियों के चिर आलोचक रहने के कारण उन्हे कायदे से कभी सरकारी मदद मिली नहीं और न ही मिलनी संभव थी। मगर कभी-कभार सरकारी पुरस्कार ग्रहण कर लेने के बावजूद उन्होंने अनेक नीतियो का समर्थन नहीं किया। साथ ही यह बड़े कमाल की बात है कि बाबा राजनीति मे कभी सक्रिय नही रहे, लेकिन देश-विदेश की राजनीतिक परिस्थितियो पर उनकी पैनी नजर बराबर रहती थी। यही वजह है कि उनकी सबसे ज्यादा कविताएं राजनीतिक घटनाओं पर खरोंचनेवाली तीक्ष्ण व्यंग्यात्मक टिप्पणियों से भरी है। जिन आलोचकों को उनके व्यंग्य का तीखापन समझ में नही आया, उन्होंने उसे गलत प्रयोग बता दिया। बाबा हिदी साहित्य की इस त्रासदी पर भी प्राय: असंतोष जाहिर

करते थे।

हिंदी साहित्य का इसे एक चमत्कार ही कहा जाना चाहिए कि जिस व्यक्ति की आरंभिक शिक्षा संस्कृत व प्राकृत माध्यमों से हुई हो, वह हिंदी का सबसे बड़ा व्यंग्यकार साबित हुआ। बाबा से समाज का कोई भी पक्ष—राजनीति, धर्म, सामाजिक रीति-रिवाज, अंधविश्वास अछूता नहीं बच पाया, जबकि संस्कृत साहित्य में राजनीतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों पर टीका-टिप्पणियों का कहीं उल्लेख नहीं है। बाबा की स्कूली शिक्षा जिस तरह से हुई थी उसके आधार पर तो उन्हें किसी स्कूल का 'पंडुजी' होना चाहिए था मगर उन्होंने पंडितों द्वारा प्रचारित किए जानेवाले संस्कार पर खुलकर चोट की। उनके मैथिली उपन्यास 'नवतुरिया' में बाल-विवाह और हिंदी उपन्यास 'इमरतिया' में धर्मांतरण पर सीधा प्रहार है। संस्कृत काव्यों से बाबा ने बिल्कुल नई सोच विकसित की जो परंपरागत संस्कृत ग्रंथों से अलग है। कालिदास ने अपने काव्य 'मेघदूतम' में जिस उपजाति छंद का प्रयोग किया है, उसकी जानकारी बाबा को अपनी स्कूली पढ़ाई के दौरान ही मिल चुकी थी और उन्होंने अपने संस्कृत काव्य-संकलन 'श्रमिक दशकम्' तथा 'कृषक दशकम्' में शैली कालिदास वाली अपनायी तथा विषय रोजमर्रे की समसामयिक स्थिति को बनाया। मगर इसमें भी उन्होंने कालिदास की शैली के साथ-साथ उनकी मूल भावना का ख्याल रखा। उनके कुछ श्लोकों में शिव-पार्वती विवाह का तो नहीं मगर पर्वतराज हिमालय और उनकी पुत्री पार्वती का वर्णन है, जिसकी पृष्ठभूमि 'कुमारसंभवम्' से मिलती-जुलती है।

बाबा नागार्जुन में एक ही साथ कवि कालिदास, कबीर और तुलसीदास का समावेश मिलता है जबकि उनका व्यक्तित्व इन तीनों से सर्वथा अलग था। बाबा को साहित्य जगत में कबीर तो कहा ही जाता है मगर जन-मन के बीच पहुंचने का उनका तरीका बहुत-कुछ तुलसी वाला भी है। तुलसीदास संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे मगर उन्होंने अपनी रचनाओं में जन-मानस में रच-बस जानेवाली भाषा अपनायी और यही वजह थी 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता की। यहां तक कि अपने प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक 'रामचन्द्र कृपालु भज मन....' में भी अंत में तुलसीदास ने लोक भाषा का प्रयोग किया है। तुलसी कृत 'बरवै रामायण' और नागार्जुन कृत काव्य 'भस्मासुर' के छंद मिलते-जुलते हैं।

कबीर का तो कुछ कहना ही नहीं, उनके तो सारे दोहे लोगों के दिलोदिमाग पर छा गए थे, जबकि उनकी शिक्षा-दीक्षा अन्य साहित्यकारों की तरह नहीं हुई थी। लेकिन कबीर के दोहे सुनने और गाने में जितने सरल लगते हैं, उतने ही गूढ़ार्थ लिए हुए होते हैं। जिस सामाजिक क्रांति की नींव कबीर ने रखी—उसकी अगली कड़ी थे बाबा। युवावस्था के दिनों में बाबा ने लोकप्रियता हासिल करनेवाली तकनीक अपनायी। बुकलेट के रूप में उन्होंने एक संकलन खुद छापा—'खून और शोले'। उसकी पहली कविता में 1965 ई० के तीसरे दर्जे के रेलवे डिब्बे का वर्णन है :

'खड़ी है यह ट्रेन, टी०टी०ई० नहीं है एक भी, सिपाही आकर पूछते हैं—बबुआ कहां उतरोगे, बचनू, कहां उतरोगे, बताओ, बहनों, बहुओं की अरुण निगाहें, करुण निगाहें, स्निग्ध निगाहें, क्षुब्ध निगाहें।' इसमें जितने तरह की निगाहें हो सकती हैं वो बाबा ने लिख दिया है। दूरदराज की किसी गुमटी के निकट घंटों अगर कोई लोकल ट्रेन खड़ी रहे तो उसमें सवार यात्रियों की हालत का अंदाजा इस कविता से लग जाता है। 'चना जोर गरम' वैसी ही कविताओं में आती है जो अपने साहित्यिक जीवन के शुरुआती दौर में बाबा ट्रेनों में गा-गाकर बेचा करते थे। इसका यह तात्पर्य कतई नही निकाला जाना चाहिए कि बाबा को चर्चा मे आने के लिए विभिन्न उपादानों की मदद लेनी पड़ी। आरंभ के दिनों मे अपने भोजन का इंतजाम करने के लिए यह सब करना उनकी मजबूरी थी। पैतृक संपत्ति के नाम पर किशोर वैद्यनाथ के पास अपने गांव में सिवाए एक छप्पर के और कुछ भी नही था। पढ़ाई-लिखाई वैसी नहीं थी कि अंग्रेजी हुकूमत के उस जमाने में कोई अच्छी नौकरी मिलती। गांव की परंपरा के मुताबिक किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते शादी होनी थी, भले अपने भी खाने का उपाय हो या न हो। सो बाबा की शादी उसी उमर में हो गयी और शादी के कुछ दिन बाद ही परंपरा के विपरीत अचानक घर से लापता हो गए। जब गांव के और आस-पास के लोगों को लग गया था कि बाबा अब शायद घर लौटकर न आएं, उस समय काकी (बाबा की पत्नी अपराजिता देवी, जिन्हें हम सब 'काकी' कहकर पुकारते थे) को पक्का विश्वास था कि उनके पति घर अवश्य लौटेंगे और वे सही में लौटे। 'वैद्यनाथ' की जगह 'नागार्जुन' बनकर। बुद्ध भी विवाह और पुत्र होने के बाद दिव्यज्ञान प्राप्त करने के लिए तपस्वी बने थे। यहां इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि भदन्त आनंद कौसल्यायन और राहुल सांस्कृत्यायन सरीखे महापंडितों के निकट सान्निध्य में वर्षो रहकर भी बाबा ने बौद्ध धर्म नही अपनाया। न तो वे नास्तिक बने, न ही उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को नकारा। साथ-साथ यह भी वास्तविकता है कि बाबा को पूजा-पाठ, जप-ध्यान और मंदिरों में जाकर जल चढ़ाने में आस्था नहीं थी। निर्गुण ब्रह्म के उपासक बाबा 'ऊं शांति:' की जगह 'ऊं क्रांति:' का जाप करते थे। अगर इन्हीं कारणों से बाबा को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया जाए तो इसे सिवाए दिमागी खोट के और क्या कहा जा सकता है? निराकार ब्रह्म और दुर्गा देवी के विभिन्न रूपों के उनको सपने आते थे। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में 1974 में बिहार से उपजे छात्र-आंदोलन में पूरे जोशोखरोस के साथ भाग लेने के बावजूद उन्होंने जेपी का अंधसमर्थन नहीं किया। बाबा सबसे ज्यादा प्रभावित हुए स्वामी सहजानंद के किसान आंदोलन से, जिसमें शरीक होने का उन्हें गर्व था। स्वभाव से अक्खड़ और व्यवस्था विरोधी बाबा की किसी भी नीति की आलोचना करने से पहले उनके संपूर्ण व्यक्तित्व व कृतित्व का मूल्यांकन करना होगा। जिन जनवादियों ने बाबा को लपक लिया था, उन्हें उनकी हिंदी रचनाएं इस लायक क्यो

नहीं लगी जिसके आधार पर वे हिंदी कवि के रूप में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत किए जाते। मूल्यांकन की इन विचित्रताओं से बाबा को सख्त एतराज था। खुद को प्रगतिशील कहनेवाले हिंदी रचनाकार अपनी राजनीति को मजबूत करने के लिए बाबा को पकड़ लेते थे और गोष्ठियों में उन्हें मैथिली का साहित्यकार कहते थे, मानो बाबा उनकी पहचान के भूखे हों!

कम लोग जानते हैं कि बाबा ने भी एक पत्रिका का संपादन किया था और वह पत्रिका थी—'गंधदीप', जिसमें उनके सहयोगी संपादक थे महेन्द्र कार्तिकेय। बाबा ने एक सीमा में बंधकर रहना नहीं सीखा था और हमेशा उन्होंने लेखन के साथ-साथ दैनिक जीवन में भी लीक से हटकर काम किया। जब पाश्चात्य लेखकों के प्रभाव में आकर लिखने की हिंदी साहित्य में होड़ मची थी, उस समय बाबा ने भारत की नस—आंचलिकता को अपनाकर बिल्कुल अनूठी मौलिक शैली की ऐसी नींव रखी जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती। दरअसल, बाबा जैसी स्थिति का सामना यशपाल और हंसराज 'रहबर' को भी करना पड़ा था। अगर 'झूठा सच' और 'गांधीवाद की शव परीक्षा' को हटा दिया जाए तो यशपाल के लेखन के बारे में लिखा नहीं जा सकता। लेकिन अगर यकीन न आए कि उसी व्यक्ति की कृतियां है—'दिव्या', 'अमिता', 'अप्सरा का शाप' और 'चित्र का शीर्षक' जैसे उपन्यास, तो इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी उपेक्षा कर दी जाए। क्योंकि इसके बिना भी यशपाल के कृतित्व का विश्लेषण अधूरा रह जाएगा। उसी तरह बाबा नागार्जुन के रचना-संसार की रीढ़ राजनीतिक व्यंग्य को इतना उछाला गया कि लोग उनके उस साहित्यिक काम को भूल गए जिसे लिखकर बाबा के समकालीन अन्य रचनाकार अपने को सामान्य से ऊपर समझते थे। कुछ तो बात जरूर थी जिसके चलते बाबा के जीवनकाल में ही अधिकांश लोग उनकी किताबें व्यक्तिगत रूप से खरीदकर पढ़ते थे, जबकि पाश्चात्य प्रभाववाले 'स्तरीय' लेखकों की पुस्तकों को पुस्तकालयों में भी पढ़े-लिखे पाठक गिनती के मिलते थे। बाबा को भी शैली, टी०एस० इलियट, डी०एच० लारेंस और एजरा पाउंड के बारे में पूरी जानकारी थी मगर वे लू-शुन और पाब्लो नेरुदा में डूबे रहते थे। यह एक रिकॉर्ड है कि बाबा पर किसी भी रचनाकार का प्रभाव नहीं पड़ा और लगता है अपनी मौलिक रचनाशीलता के कारण ही उतने चर्चित उनके जमाने के कोई कवि नहीं हो पाए। बाबा प्रेमचंद से बेहद प्रभावित थे। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'कफन' के उस प्रसंग का वे प्राय: जिक्र किया करते थे जब कफन के नाम पर गांव के जमींदार से मांगकर लाये गए पैसे की बाप-बेटा दोनों दारू पीते हैं और बाप कहता है—'बड़ी भागवाली थी रे, देखो मरके भी दारू-पकौड़ी का इंतजाम कर गयी।'

गद्यात्मक शैली अपनाने के बावजूद बाबा की कविताओं की काव्यात्मकता बरकरार है, जबकि उनके अनुकरणधर्मी कुछ युवा कवियों की कविताओं में प्राय:

इसका अभाव पाया गया है। बाबा से प्रभावित लेखकों में एक ही व्यक्ति मील का पत्थर साबित हुए और वह हैं—फणीश्वर नाथ रेणु। गांव का परिवेश, गांव की भाषा ही जिनकी पहचान है। रेणु के बाद बाबा राजकमल चौधरी की भी काफी तारीफ किया करते थे। सर्वश्रेष्ठ कवि विद्यापति को लेकर काफी समय तक विवाद रहा कि वे मैथिली के कवि हैं अथवा बांग्ला के। लेकिन जब बाबा ने विद्यापति के कतिपय गीतों का हिंदी में अनुवाद किया तो उसके बाद पता नही किस कारण से यह विवाद खत्म हो गया।

कभी-कभी बाबा के प्रयोग बिल्कुल नायाब होते थे। पटना और दिल्ली के अतिरिक्त बाबा ने सबसे ज्यादा समय मध्य प्रदेश के विदिशा मे गुजारा। *'मालिश फिजूल है पुलकित अंग-अंग मे बेतवा किनारे'* वहीं लिखी हुई कविता है। वहां बाबा पहुंच गए उन आदिवासियों के बीच जो 'दिकृ' (गैर आदिवासी) लोगों को अपने पास नहीं फटकने देते थे और उनकी बस्ती में बाबा ने काफी दिन गुजारे।

बाबा को एक-दो महिलाएं भी प्रिय थीं जिनमें एक थी जापानी लेखिका कीयो कुरु जिन्होंने वर्षों बाबा के करीब रहकर उन पर शोध किया, और दूसरी थी पद्मजा घोडपडे। ये दोनों हमेशा उनसे मिलने आती थीं। प्रकाशन भी उन्होंने खुद शुरू किया। 'युगधारा', 'सतरंगे पंखोंवाली', 'प्यासी पथरायी आंखे', 'तालाब की मछलियां' जैसे कविता संकलन उन्होंने स्वयं छापे मगर संभाल नहीं पाए।

□

जानना भारत के दुर्गों को

सुभाष चन्द्र 'सत्य'

भारत के इतिहास में जाने पर हमें बार-बार किलों (दुर्गों) की क्रांति-कथा से गुजरना पड़ता है। शायद प्रत्येक शासक और शासन के लिए जितनी अनिवार्यता सेना की रही, उतनी ही किलों की भी रही। भारत में ये ऐतिहासिक किले कहां-कहां हैं तथा उनकी 'शौर्यगाथाएं' क्या हैं—इसकी एक झलक दे रहे हैं लेखक सुभाष चन्द्र 'सत्य'।

विश्व का इतिहास साक्षी है कि शांति की कामना और शांति स्थापना के सतत प्रयासों के बावजूद मनुष्य युद्ध की अनिवार्य नियति से मुक्त नहीं हो पाया है। संयुक्त राष्ट्र तथा विश्व शांति के उद्देश्य से गठित अन्य अंतरराष्ट्रीय व बहुराष्ट्रीय संगठनों के होते हुए आज भी विश्व के किसी न किसी कोने से युद्धनाद और युद्ध में हताहत व्यक्तियों तथा उनके परिजनों का आर्तनाद सुनाई देता रहता है। हर युग में शांति के देवदूतों, मसीहाओं, पैगंबरों और ऋषियों ने युद्ध की विनाशलीला का हवाला देते हुए मानवजाति को युद्ध से दूर रहने का उपदेश दिया है। किंतु उन सब आह्वानों, उपदेशों व आदेशों का आंशिक प्रभाव ही दिखाई दिया है। भारत भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक छोटी-बड़ी लड़ाइयां इस धरती पर लड़ी गई हैं। महाभारत से कारगिल तक लड़े गए सैंकड़ों, हजारों युद्ध वास्तव में भारत के इतिहास के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। इन युद्धों का वास्तविक प्रभाव आम जनता पर ही पड़ता है, किंतु उनमें प्रत्यक्षत: सेनाएं ही भाग लेती हैं। प्राचीनकाल एवं मध्यकाल में सेनाओं को जिन सुदृढ़ एवं सुरक्षित इमारतों

में रखा जाता था उन्हें दुर्ग या किला कहा जाता है। किले या दुर्ग किसी भी युद्ध की संपूर्ण रणनीति का मुख्य भाग होते थे। आधुनिक काल में किलों का स्थान छावनियों ने ले लिया है।

इतिहास के साक्षी

भारत में बाहरी हमलावरों के आने तथा विभिन्न राजवंशों या राजाओं के बीच संघर्ष होते रहने के कारण दुर्गों की आवश्यकता सदैव बनी रही। तभी तो हमारे शिल्पग्रंथों में दुर्ग के बिना राजा की तुलना विष रहित सर्प और सूंड रहित हाथी से की गई। हमारे देश में महाभारत काल से लेकर ब्रिटिश काल के प्रारंभिक युग तक के दुर्ग अथवा उनके अवशेष मौजूद हैं। ये दुर्ग भारत की विविधतापूर्ण तथा समृद्ध वास्तुकला एवं स्थापत्यकला के शानदार नमूने हैं जो अपने-अपने समय की सभ्यता, संस्कृति तथा कला के प्रतीकों को भी अपने में समेटे हुए हैं। सच तो यह है कि ये दुर्ग मात्र इमारतें न होकर भारत के समूचे इतिहास के मौन साक्षी हैं। ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई से प्राचीनकालीन वास्तुकला, मूर्तिशिल्प, चित्रकला के नमूने तथा महलों व दुर्गों के अवशेष मिल रहे है। इन नई खोजों से मानव के इतिहास पर नई रोशनी पड़ रही है।

दुर्गों का इतिहास

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही ऐतिहासिक एवं पुराणकालीन स्थलों की खुदाई कर रहा है। इन्हीं प्रयासों से मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा जैसी प्राचीन संस्कृतियों के अवशेष मिले है जिनसे भारत के अतीत के प्रति इतिहासकारों की दृष्टि ही बदल गई। इस खुदाई में हड़प्पा दुर्ग के भी अवशेष प्राप्त हुए।

जहां तक दुर्गों के इतिहास का संबंध है, इनका उल्लेख भारत के सबसे प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध है। पुराणों में मेरु पर्वत पर बसे सुदर्शन नामक नगर का उल्लेख आया है जिसके मध्य में एक दुर्ग है, जिसमें देवराज इन्द्र का वास है। सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि राजा सुदास ने परुण्णी (रावी) नदी पार करके सात दुर्गों को नष्ट किया। रामायण में अयोध्या के रामकोट दुर्ग का उल्लेख है जिसके बीस दरवाजे थे और उसमें आठ राजप्रासाद थे। रामायण में अयोध्या की किलेबंदी अर्थात् दुर्ग सन्निवेश का भी उल्लेख है। महाभारत काल के अवशेष दिल्ली के पुराना किला में मिले हैं।

इसके अलावा अनेक पुराणों, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रंथों, शुक्राचार्य की शुक्रनीति तथा अन्य अनेक पुस्तकों में न केवल दुर्गों की आवश्यकता, बल्कि उनके प्रकारों, उनकी निर्माण विधि, उनके विविध अंगों तथा अन्य पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। सन् 400 ईसवी में भारत की यात्रा पर आए चीनी यात्री फाह्यान ने पाटलिपुत्र के भव्य दुर्गों तथा महलों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

किलों का सबसे अधिक निर्माण मध्यकाल में हुआ। यो तो देश के सभी भागों में नए-पुराने दुर्ग या उनके अवशेष फैले हुए हैं, किंतु सबसे अधिक किले राजस्थान और महाराष्ट्र में पाये गए है। किलों की दृष्टि से दिल्ली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किलों के अध्ययन के लिए हम देश को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। ये हैं— उत्तर तथा मध्य भारत, पश्चिम भारत और दक्षिण भारत।

उत्तर तथा मध्य भारत के दुर्ग

उत्तर भारत और मध्य भारत मध्यकाल में अनेक बड़े युद्धों तथा सैनिक कार्रवाइयों का केंद्र रहे है। दिल्ली, आगरा, ग्वालियर, मांडू, इलाहाबाद, रोहतासगढ़, बुंदेलखंड, बघेलखंड आदि स्थानों पर बने किले अपने-अपने समय के इतिहास का बखान कर रहे हैं। उत्तर भारत में किलों की संख्या की दृष्टि से देश की वर्तमान राजधानी दिल्ली का पहला स्थान है। बल्कि दिल्ली को किलों की नगरी ही कहा जा सकता है। विश्व में शायद ही कोई ऐसा नगर है जहां दस दुर्ग हो। यहां पर पांडव काल से लेकर सन् 1600 तक के बने दुर्ग अथवा उनके अवशेष मौजूद हैं। पुराना किला के समीप जो खुदाई की गई है, उसमें 1000 वर्ष ईसा पूर्व तक के अवशेषों की पुष्टि हुई है। ऐसी मान्यता है कि इस स्थान पर पांडवो के लिए इन्द्रप्रस्थ दुर्ग का निर्माण किया गया था। दिल्ली के किलों में इन्द्रप्रस्थ, लालकोट, राय पिथौरागढ़, सीरी, तुगलकाबाद, जहांपनाह, दीनपनाह, शेरगढ़ (पुराना किला), सलीमगढ़ और लालकिला प्रमुख हैं। सन् 1639 में शाहजहां द्वारा बनाए गए लाल किले को छोड़कर अन्य कोई भी दुर्ग, पूर्ण दुर्ग के रूप में सुरक्षित नहीं है, उनके खंडहर ही बचे है। लाल किला न केवल संपूर्ण किले के रूप में सुरक्षित है बल्कि वह आधुनिक भारत के इतिहास का हिस्सेदार भी है।

लाल किला केवल दिल्ली का दिल ही नहीं, पूरे देश की धड़कन है। हर 15 अगस्त को भारत के स्वाधीनता दिवस के अवसर पर इस किले पर प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रीय ध्वज फहराया जाता है। सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम से भी यह किला विजयगढ़ के रूप में हमारी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया था। आजादी की लड़ाई के दिनों में भी यह किला स्वतंत्रता सेनानियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लाल किले पर तिरंगा फहराने हेतु 'दिल्ली चलो' का संदेश दिया था। इस प्रकार यह किला हमारी राष्ट्रीय चेतना को झंकृत करता रहा है।

लाल किला भारत का महान् ऐतिहासिक स्मारक तथा आजादी और कौमी एकता का प्रतीक है। हर शाम ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से इसके भव्य अतीत की झांकी लोगों को दिखाई जाती है। यह किला सेना और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के सम्मिलित अधिकार क्षेत्र में है। सन् 1857 में किले में अंग्रेज सेना ने प्रवेश किया था, तब से सेना का किले पर हस्तक्षेप चला आ रहा है। कुल 80.45 एकड़ में फैले

लाल किले का 68.45 एकड़ भाग सेना और शेष हिस्सा पुरातत्व विभाग के नियंत्रण में है।

दिल्ली के लाल किले की तरह आगरा का लाल किला भी मुगलकालीन स्थापत्य कला की अनुपम मिसाल है। मजबूती की दृष्टि से यह संसार के श्रेष्ठ किलों में से एक है। यह भी शाहजहां द्वारा बनवाया गया था। संयोगवश दिल्ली और आगरा दोनों के लाल किले यमुना नदी के किनारे पर बने हुए है। गंगा-यमुना संगम पर बसा इलाहाबाद किला, कालिंजर दुर्ग, झांसी का किला, वाराणसी के निकट गंगा तट पर बना चुनार किला तथा ग्वालियर किला और मांडू दुर्ग इस क्षेत्र के अन्य महत्त्वपूर्ण किले हैं। मांडू किले के साथ रानी रूपमती और राजा बाज़ बहादुर की प्रेम-कथा जुड़ जाने से इसकी छवि रोमांटिक किले की बन गई है। हर साल करीब दो लाख पर्यटक इस किले तथा इसके साथ बने महल को देखने आते हैं।

ग्वालियर दुर्ग को किलों में मोती की संज्ञा दी गई है। आगरा से मात्र 118 किलोमीटर के फासले पर विंध्य पर्वतमाला के आखिरी छोर पर ग्वालियर का किला है। दूर से किला बड़ा ही शानदार लगता है और ज्यों-ज्यों समीप आते जाइए, किले की चारुता, विशालता और ऊंची प्राचीरों को देखकर आंखें चौंधिया जाती हैं। किले की ऊंचाई ऐसी है कि वह समूचे ग्वालियर शहर पर छाया हुआ दिखता है। आज किला भले ही गुमसुम हो पर इसने कई सदियों का इतिहास देखा है। उत्तर से दक्षिण जानेवाले राजमार्ग पर होने के कारण यह अक्सर आक्रमणों का शिकार भी रहा है।

पश्चिम भारत के किले

पश्चिम भारत में राजस्थान, गुजरात और गोवा के किलों की चर्चा। राजस्थान तो दुर्गों का प्रदेश ही है। प्रदेश के हर भाग में दुर्ग अथवा उनके अवशेष देखे जा सकते है। इनमें चित्तौड़गढ़, रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, जैसलमेर का सोनार किला, जोधपुर का मेहरानगढ़, अजमेर का तारागढ़, आमेर गढ़, भरतपुर का लोहागढ़ तथा गढ़ बूंदी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की रियासतों के बीच निरंतर लड़ाइयां होती रही हैं जिनके लिए समय-समय पर दुर्ग बनाये गए। इनमें से अनेक किले पहाड़ियों या टीलों पर बने हैं।

चित्तौड़गढ़ की तुलना विश्व के श्रेष्ठ दुर्गों में की जाती है। इसके संबंध में कहावत प्रचलित है—'गढ़ों में गढ़—चित्तौड़गढ़, बाकी सब गढ़ैया।' इसी कारण इसे महादुर्ग कहा जाता है। यह किला इतना विस्तृत और विशाल है कि यह अपने आपमें एक नगर है। इसके साथ कई शौर्यगाथाएं तथा त्याग एवं बलिदान की गौरवगाथाएं जुड़ी हैं। यह किला राजस्थान के दुर्गों का सिरमौर है।

भारतीय दुर्गों में चित्तौड़गढ़ का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाता है। दुर्ग केवल विशाल ही नहीं, वरन् अपने साए में महलों, स्तंभों, छतरियों, दरवाजों,

अंत:पुरों, तलघरों, बाजार, बावड़ियों और बुर्जो समेत अनगिनत स्मारकों के साथ, आजादी के दीवानों के लिए प्रकाश-पुंज और प्रेरणास्रोत भी रहा है। इस दुर्ग के वीर आन, बान और शान को कायम रखते हुए बड़ी से बड़ी शक्ति के सामने भी कभी नही झुके।

अजमेर का तारागढ़ भी राजस्थान के महत्त्वपूर्ण दुर्गो की श्रेणी में आता है। पर्वत श्रृंखलाओं में बसा यह किला राजस्थान का प्राचीन गिरिदुर्ग है। तारागढ़ अपनी प्राचीरों और सुदृढ़ बुर्जो के लिए प्रसिद्ध था। इसकी रचना से प्रभावित होकर बिशप हैबर ने इसे पूर्व का दूसरा जिब्राल्टर कहा था। यह दुर्ग चित्तौड़गढ़ या रणथम्भौर के दुर्गों जैसा बहुचर्चित भले ही न हो, परंतु इतिहास का धनी अवश्य है। इसके साथ इतिहास की अनेक रोमांचक गाथाएं जुड़ी है। दुर्ग का निर्माण सातवीं सदी में शाकम्भरी के चौहान नरेशों ने अरब खलीफाओं के आक्रमणों से बचने के लिए कराया था।

किलों, दुर्गो या गढ़ों की प्रसिद्धि मुख्यत: वहां हुए आक्रमणों और लड़ाइयों तथा उनमें हुए असंख्य लोगों के बलिदानों के कारण होती है। किंतु राजस्थान में ऐसे बहुत से दुर्ग भी हैं जहां न कभी कोई आक्रमण हुआ और न ही लड़ाई हुई किंतु फिर भी वे देश-विदेश में प्रसिद्ध हैं। जयपुर के निकट जयगढ़-आमेरगढ़-नाहरगढ़ किले ऐसे ही हैं। ये किले जय्रपुर आनेवाले पर्यटकों के विशेष आकर्षण के केंद्र हैं। वास्तव में ये किले राज्य को रक्षा कवच के घेरे में लेने के लिए बनाये गए थे।

जयपुर में आनेवाले पर्यटकों को दूर से ही आमेरगढ़-नाहरगढ़ (सुदर्शनगढ़) दीखने लगते हैं। नाहरगढ़ तो पूरे शहर पर छाया हुआ-सा लगता है। वस्तुत: आमेर का वर्तमान किला जिस स्वरूप में है, उसे मोर्चाबंदीयुक्त महलों की संज्ञा प्रदान करना ही अधिक उपयुक्त होगा। जयगढ़ ही सही अर्थो में किला है, इसके सुदृढ़ गोलाकार बुर्ज, ऊंची प्राचीरें और ऊंचे उन्नत द्वार सुरक्षा की दृष्टि से आदर्श हैं। पहाड़ों की सघनता, वृक्षों का आधिक्य और तलहटी की संकीर्णता मिलकर आमेर दुर्ग को बड़ा सुरक्षित स्थान बना देते हैं। बाद में नाहरगढ़ बन जाने पर उधर की पांच किलोमीटर की पहाड़ी जब प्राचीरों से ढक गई तो सुरक्षा की दृष्टि से यह स्थान और भी सुदृढ़ बन गया।

इतिहासकारों के अनुसार गुजरात की संस्कृति हड़प्पाकालीन थी। गुजरात प्रदेश अपेक्षाकृत शांत और आक्रमणों तथा लड़ाइयों से मुक्त रहा है। फिर भी यहां कई प्राचीन दुर्गों के अवशेष मौजूद हैं। द्वारका द्वीप के निकट हुई खुदाई में 3500 वर्ष प्राचीन दुर्ग की दीवार का पता चलता है। इस क्षेत्र में सागर के भीतर भी एक परकोटा मिला है। राजकोट जिले में भी खुदाई में एक दुर्ग के अवशेष प्राप्त हुए हैं। गुजरात के प्रमुख दुर्गो में जूनागढ़, पावागढ़, दबोही, आंडा आदि गिनाए जा सकते हैं। इनमें जूनागढ़ का किला विशेष उल्लेखनीय है।

दुर्गो के अवशेषों में जूनागढ़ (ऊपरकोट) दुर्ग काफी प्राचीन है। जूनागढ़ दुर्ग

गिरनार पहाड़ी पर है। गिरनार पहाड़ी गुजरात की सबसे ऊंची पहाड़ी है। यहां अशोककालीन शिलालेख आज भी सुरक्षित हैं। जूनागढ़ का शाब्दिक अर्थ ही पुराना किला है। जूनागढ़ के आज दो रूप हैं—एक खूबसूरत शहर और दूसरा प्राचीन किला, जिसमें मंदिरों, गुफाओं, शिलालेखों, कुंडो आदि की प्रचुरता है। आज का जूनागढ़ ऊपरी कोट (गढ़) का विस्तृत अंश है और इसकी स्थापना सन् 875 में चुंडुसामा राजपूत वंश के ग्रहारियू प्रथम ने की थी। इतिहास में जूनागढ़ का अस्तित्व 250 ईसा पूर्व मे भी था।

पश्चिमी भारत के सुंदर एवं मनोहारी क्षेत्र गोवा पर लगभग 450 वर्षों तक पुर्तगाल का शासन रहा। इस दौरान पुर्तगालियों ने अनेक सागरदुर्गों का निर्माण किया तथा कई किलों का पुनर्निर्माण किया। गोवा पर कब्जा जमाने के लिए डच, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ पुर्तगालियों की लड़ाइयां भी हुईं। गोवा के किलों में आग्वाद, मुरगांव, नरोआ, राइसमागोस, टीविम, चादोम, कोलवाल आदि उल्लेखनीय है। ये सभी किले 1612 ई० से 1739 ई० के बीच बनाये गए।

आग्वाद दुर्ग गोवा के किलों में सबसे बड़ा और संरक्षित दुर्ग है। यह किला मांडवी नदी और अरब सागर के मुहाने के ठीक सामने समुद्र तल से 87 मीटर ऊंची पहाड़ी पर निर्मित है। आग्वाद की खाड़ी कार्बो और आग्वाद अंतरद्वीपों से मिलकर बनी है। इसके पश्चिम की पहाड़ियां समुद्र की लहरों के टकराने के बाद भी टूटी नहीं हैं। इसी जगह आग्वाद दुर्ग बना है। इसका निर्माण सन् 1612 ई० में हुआ।

दक्षिण भारत के किले

राजस्थान की तरह महाराष्ट्र भी दुर्गों का प्रदेश है। शिवाजी तथा उनके उत्तराधिकारियों ने भी अनेक दुर्ग बनवाए। दक्षिण भारत में बहुत से प्राचीन तथा मध्यकालीन किले अथवा उनके अवशेष मौजूद हैं। इस क्षेत्र के किलों मे गोलकुंडा, गुलबर्गा, बीजापुर, बीदर, विजयनगर, शिवनेरी, राजगढ़, सिहगढ़, प्रतापगढ़, पन्हालगढ़, रायगढ़ और श्रीरंगपट्टण आदि प्रसिद्ध है। शिवाजी ने अपनी छापामार रणनीति के अनुसार किलों के निर्माण में चतुराई, कौशल तथा आक्रामक तकनीक का प्रयोग किया। गोलकुंडा 610 मीटर की ऊंचाई पर आठ किलोमीटर की परिधि में तिहरी प्राचीरों से घिरा हुआ दुर्ग है। यह आंध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद से मात्र 10 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में स्थित देश के पांच प्रमुख किलो में से एक है। बंजारा पहाड़ी की ऊंची ग्रेनाइट चट्टानों पर निर्मित किला भारतीय इतिहास का एक शानदार अध्याय है। इसने 13वीं से 17वीं शती तक धूप, आंधी व काल के अनेकों थपेड़े सहे हैं। गोलकुंडा की प्रसिद्धि कुतुबशाही सुलतानों के शासन से हुई।

बीजापुर का भारत के इतिहास में विशेष स्थान है। यह दक्षिण भारत का आगरा के नाम से भी जाना जाता है। संयोग है कि संसार प्रसिद्ध दो बेजोड़ इमारतें ताजमहल

और गोलगुंबद एक साथ सत्रहवीं शती में बनीं। किंतु स्थापत्य शिल्प में बीजापुर की अपनी अलग पहचान है। इसका श्रेय आदिलशाही सुलतानों को है जिन्हे इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। बीजापुर किला मुसलमान सुलतानों द्वारा निर्मित सबसे बड़ा किला है।

शिवनेरी किले की गणना भारत के विख्यात दुर्गो मे होती है। शिवनेरी यद्यपि एक प्राचीन गिरिदुर्ग है, परंतु उसकी प्रसिद्धि छत्रपति शिवाजी की जन्मभूमि होने के कारण है। इसलिए वह महाराष्ट्र के लिए पुण्य स्थल बन गया है। इसी दुर्ग में 19 फरवरी 1627 ई० को छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ था। शिवनेरी दुर्ग का इतिहास काफी पुराना है। मौजूदा किलेबंदी भले ही मध्ययुगीन हो, परंतु दुर्ग का निर्माण प्राचीन काल में हुआ था। दुर्ग के चारों ओर 50 से ज्यादा बौद्ध गुफाएं भी हैं।

इसी तरह इतिहास प्रसिद्ध सिंहगढ़ देश के सुदृढ़ एवं अजेय दुर्गो में से एक है। दुर्ग कब बना, इसके बारे में ज्यादा पक्के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। परंतु दुर्ग रचना को देखते हुए इतिहासकारो ने इसे प्राचीन माना है। सन् 1647 ई० में दुर्ग पर शिवाजी ने कब्जा किया था। शिवाजी ने इसी गढ़ से पुणे के लाल महल मे रुके औरंगजेब के मामा और सेनापति शाइस्ताखां पर 5 अप्रैल, 1663 ई० को आक्रमण करके उसे जबरदस्त शिकस्त दी थी। शिवाजी के जीवन से जुड़े अन्य दुर्गो में प्रतापगढ़ का नाम लिया जा सकता है। प्रतापगढ़, महाराष्ट्र का सबसे नामी और चित्रोपम दुर्ग है। यह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पर्यटन स्थल महाबलेश्वर से 24 किलोमीटर दूर है। छत्रपति शिवाजी ने कोंकण की ओर से दर्रों पर नियंत्रण रखने के लिए दुर्ग का निर्माण शुरू करवाया और यह सन् 1656 तक निर्मित हो गया। प्रतापगढ़ मूलत: गिरिदुर्ग है।

इस प्रकार महाराष्ट्र के अधिकतर दुर्ग गिरिदुर्ग हैं और इनका शिवाजी के युद्धों से संबंध रहा है। महाराष्ट्र के दुर्गो में रायगढ़ का स्थान सर्वोपरि है। दुर्ग काफी विशाल और पुराना है। इसकी विशिष्ट स्थिति, सामरिक महत्त्व और अजेयता को देखते हुए शिवाजी ने इसे राजधानी के लिए चुना और कल्याण के सूबेदार आबाजी सोनदेव को दुर्ग को राजधानी लायक बनाने के लिए आवश्यक भवनों के निर्माण की जिम्मेदारी सौंपी। सन् 1674 में रायगढ़ राजधानी बनी। इस समय तक दुर्ग में चूने के पत्थरों की तीन सौ इमारतें, राजमहल, दरबार, अन्न-गोदाम, गोला-बारूद के भंडार, दो हजार सैनिकों के लिए आवास, बाजार, मंदिर और जलाशय विशेष रूप से निर्मित किये गए थे।

दक्षिण का श्रीरंगपट्टण किला इतिहास की अनेक घटनाओं का साक्षी है। कावेरी नदी के एक द्वीप पर बने इस दुर्ग के शासकों—हैदर अली और टीपू सुलतान ने अंग्रेजों के शासन को हिलाकर रख दिया था। टीपू सुलतान को मैसूर का शेर कहा जाता है। इस किले का निर्माण सन् 1545 में किया गया। आज यह किला जर्जर हालत में है। वास्तव में यह दुर्ग इतिहास का जीता-जागता संग्रहालय है, जिसके

अवशेषों को देखकर इसके भव्य अतीत का अनुमान लगाया जा सकता है।

सागर दुर्ग

समुद्र तथा नदियों के बीच या उनके किनारे सामरिक दृष्टि से बनाए गए किलों को सागर दुर्ग कहा जाता है। सागर दुर्गों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी है। प्राचीन वाङ्मय में दुर्ग प्रमेध में जल दुर्ग को तीसरे स्थान पर रखा गया है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिए प्राकृतिक साधनों की सहायता से दुर्ग व्यवस्था अनिवार्य रूप से की जानी चाहिए। आवश्यकतानुसार कही नदी के किनारे या अंतरीप स्थान पर, जहां जल भरा हो, जल दुर्ग का विन्यास करना चाहिए।

मध्यकाल मे जूनागढ़, सूरत, बम्बई (मुम्बई), धेरिया, सिधु, जंजीरा और गोआ में कई सागर दुर्ग बने थे। गुजरात के सुलतान ने पुर्तगालियों के आक्रमण से बचाव के लिए जूनागढ़ में मिस्र की बनी तोपें मंगवाई थीं। ये तोपे जूनागढ़ के ऊपरकोट किले मे आज भी है। सूरत पर पुर्तगालियों ने कई बार आक्रमण करके शहर को लूटा था। सूरत को आक्रमणों से बचाने के लिए गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने सन् 1546 मे 18 मीटर ऊंची प्राचीर तथा सुदृढ़ बुर्जों का निर्माण कराया था। इस किले के निर्माण की जिम्मेदारी तुर्की के एक सरदार को दी गई थी।

सागर दुर्गो के निर्माण में छत्रपति शिवाजी का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने 3 प्रमुख सागर दुर्गों का निर्माण कराने के साथ-साथ जल सेना का संगठन करके अंग्रेजों, पुर्तगालियों, और सिद्दियों से लोहा लिया था। सागर दुर्गो मे प्रमुख रूप से खंडेरी, जंजीरा, सिंधुदुर्ग, विजयदुर्ग, कल्याण, सुवर्णदुर्ग, कनकदुर्ग, आलीबाग, गोवा के किले, घोड़बंदर और रत्नागिरि आदि उल्लेखनीय हैं।

छत्रपति शिवाजी ने जिन दुर्गो का निर्माण कराया, उनमें सिंधुदुर्ग सबसे विलक्षण है। दुर्ग मालवण के समुद्रतट पर मुंबई से 304 किलोमीटर दक्षिण में मुंबई-गोवा मार्ग पर रत्नागिरि की दक्षिणी पट्टी पर है। यह उनकी दूसरी राजधानी भी थी।

□

ऊष्मा

संजीव

संजीव इस पीढ़ी के श्रेष्ठ कथाकार हैं जिन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से मानव स्वभाव को अपने देश-काल की परिस्थितियों में बड़ी सूक्ष्मता से परखा और बखाना है। जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के बीच एक वंचित जीवन किस तरह सार्थक करवटें ले सकता है—इसका एक उत्तम उदाहरण है उनकी प्रस्तुत कहानी। भाषा की तरलता इस कहानी का मुहावरा है और अलंकरण भी।

बरसाती इतना सिड़िया हुआ क्यों रहता है?

खिस्स से हंसकर रह जाता है बरसाती इस सवाल पर। इस हंसी में दबा-दबा-सा अपमान, शर्म, खीझ और झेंप—क्या-क्या नहीं छुपा होता! कभी-कभार कुछ बोलता भी है तो सिर्फ इतना, 'हमको नैं पता।'

कोई जवाब-सा जवाब तो हुआ नहीं यह! किस-किस सवाल पर बरसाती कहता फिरेगा, 'हमको नैं पता!' क्या-क्या 'नैं पता?' यह कि बरसाती, बरसात में पैदा हुआ था... कि यह कि बरसाती के नाम पर सिमरहवा पर पांच एकड़ जमीन है... कि यह कि बरसाती की मेहरारु बड़ी छबीली है और अगहरा का पेटरौल पंप उसी के नाम पर है... कि यह कि बरसाती की मां दूसरे के साथ भाग गई है और बाप सधुआ गया है और अब भीख मांगता फिरता है?

'हमको कुछ भी नैं पता!' बरसाती सिर हिलाते हुए सवालों के दलदल से बच निकलने की कोशिश करता है। ऐसे में लगता है कि उसकी न मां है, न बाप, न

जोरू, न जाता, न जमीन, न जायदाद... कि वह अपने ईष्टदेव हनुमानजी की तरह ही अजीबोगरीब ढंग से पैदा हुआ होगा, और उन्हीं की तरह अपने मलिकार का सेवक है।

वैसे एक तरह से देखा जाये तो ठीक ही कहता है बरसाती। नाम के लिहाज से माना जा सकता है कि वह निश्चित रूप से बरसात में ही पैदा हुआ होगा, तभी नाम बरसाती पड़ा होगा—और तभी तो सीलन उसकी आत्मा तक में इस कदर घुसकर बैठ गयी है कि खजहे कुत्ते की तरह लाख दुरदुराने पर भी निकलने का नाम नहीं लेती। लेकिन खुद बरसाती को यह कैसे पता होगा कि वह बरसात में ही पैदा हुआ था? अलबत्ते माई होती तो बता सकती थी, लेकिन वह तो दस साल पहले ही किसी दूसरे मरद के साथ भाग गई। उसके इस तरह भाग जाने की बात का पता भी बरसाती को कहां से हो? भागनेवालियां कोई बताकर भागती हैं भला! इसी तरह बाप भी साधु बनने के पहले बरसाती से सलाह लेने तो आया नहीं था। बिना कुछ बताये चुपके-चुपके अपनी-अपनी राह चल दिये माई-बाप, तो बरसाती बेचारा पूछता किससे? जो पुश्तैनी चार कट्ठा, दो धुर जमीन थी, उसे गोतिया दयाद लोगों ने कह दिया—'हमारे पास बंधक रख गया है तेरा बाप!' बरसाती ने कहा, 'ले जाओ।' हां, खस्ताहाल छोटा-सा खपड़ैल घर उसके नाम पर महज इसलिए बच गया कि उसे भूतहा मान लिया गया था जिसमें ताला डालकर करधनी में कुंजी लटकाये वह 'घरवाला' बना रहता है। जब-जब कुंजी उसे चुभती है, वह उस भूतहे खपड़ैल की साफ-सफाई कर आता है। अब तो वर्षो से गया ही नहीं। दीया-दियारी (दीवाली) को भी एक दीया उसके नाम पर बाहर ही जला आता है।

उसका असल घर तो मलिकार का मचान है, चिरई की तरह आसमान और जमीन के बीच झूलता-सा। अब सिमरहवा पर पांच एकड़ जमीन ही उसके नाम होती तो वह भोर से लेकर रात तक मलिकार की बनिहारी करता? बाकी बचा बियाह तो पांच साल, वह भी पेट (गर्भ) का जोड़कर पांच साल में बियाह जैसी कोई चीज हुई भी हो उसकी जिंदगी में तो कैसे याद रहे उसे? दुलहिन, छबीली हो या रसीली, उसके नाम पर पेटरौल पंप हो या हवाई जहाज, एक्को बार भेंट-मुलाकात तो होनी चाहिए थी भैया!

बरसाती न 'हां' बोलता है न 'ना'। मतलब निकालनेवाले मतलब निकालते रहें। सब हनुमानजी की इच्छा है। हटिए, हटिए, अपना काम कीजिए और बरसाती को अपना काम करने दीजिए। यह कोई हियां-हुआं बैठकर बत-कुच्चन करना है? अरे हाड़ पेरना पड़ता है हाड़, तब जाकर मलिकार का खेत-खलिहान, माल-जाल फिट-फाट रहता है। आप उसे उस भूतहे खपड़ैल की याद बार-बार क्यों दिलाते हैं? मलिकार ने तो अपना सारा कुछ ही उसके हवाले कर रखा है, 'मेरा क्या है, जो कुछ भी है वह तो तुम्हारा ही है बरसाती, हम तो निमित्त मात्र हैं, असल मालिक तो तुम्हीं

हो।' कभी-कभी तो नाम भी नहीं, सीधे 'मालिक' ही कहते हैं, 'मालिक ई फसल कम क्यों हुई? मालिक ऊ गाय रात-भर रंभाती रही! मालिक आप के रहते भी अगर बाग से कलमी आम और कटहल इस तरह कोई चुरा ले जाये तो यह शर्म की बात है। मालिक ये काम, मालिक वो काम...।'

टिटकारी पाते ही बरसाती की सारी थकान छू-मंतर और वह हनुमानजी की तरह समर-भूमि में कूद पड़ता है। फिर उसके लिए क्या भूख, क्या पियास! क्या दीन, क्या दुनिया! क्या सांझ, क्या बिहान! क्या नींद, क्या जागरण! उसकी बाबत कोई बात पूछनी हो तो मलिकार से पूछिये, बरसाती से संबंधित सारे प्रश्नों का जवाब उन्हीं के पास है। पूछते जाइए और टपा-टप्प जवाब लेते जाइए। जैसे कि आप यह पूछेंगे, 'ई बरसाती कौन है?'

वे फट से बोल पड़ेंगे, 'ई बरसतिया...? टूअर (अनाथ) लड़का है। हमारे घर में दस-बीस गाय-गोरू, कुकुर-बिलाय ऐसे ही पड़ा रहता है, सो एक ठो आदमी नही पल सकता? दू मूठी अनाज ही खायेगा न।'

'मेहरारु भी है इसकी?'

'ऊ कहां जायेगी? जैसे दू मूठी, वैसे चार!'

'दोनों साथ-साथ रहते हैं?'

'और का अलग-अलग?'

'आप उन दोनों को बहुत मानते हैं?'

ऐसे में संभव है, कोई दूसरा आदमी हस्तक्षेप कर बैठे, 'इतना परोपकार इस 'कलिजुग' में कौन करता है?'

इस पर मलिकार उंगली से 'ना', 'ना' करते हुए विनम्रता में बिछ जायेंगे, 'सब वही हनुमानजी करते हैं। हम तो निमित्त मात्र हैं।'

एक दिन जाता, एक दिन आता। सूरज यूं ही पूरब में उगता और पश्चिम में डूब जाता। आपको अचरज हो रहा है कि सूरज पश्चिम में कैसे उग गया अचानक! तो सुनिये भाईजी, अचानक कुछ नहीं होता, जो होता है उसके कार्य-कारण संबंध की लंबी दास्तान होती है, जो सरल भी है, जटिल भी; जटिल भी है, सरल भी...!

हुआ यह कि एक दिन मलिकार को उनके गोतिया-दयाद ने गोली मार दी और उन्हे लिये-दिये पूरा परिवार पटना भाग गया। तब कहीं जाकर बरसाती की सनक को धक्का लगा। धक्का ही नहीं लगा, यूं कहिए, बेचारा फंस गया मकड़ी के जाल में। सब माया है माया।

मलिकार के पूरे परिवार के पटना चले जाने के बाद ड्योढ़ी (हवेली) में सन्नाटा अररा रहा था। रोज के आनेवाले नौकर-नौकरानियां भी नजर नहीं आ रही थीं। मलिकाइन ने जाते वक्त कहा था, 'देखना, अब तुम्हें छोड़कर कौन है!' एक जिम्मेदार प्रहरी की तरह बरसाती ने पूरी हवेली की परिक्रमा की—गोशाला, खलिहान,

गैरेज, माल-मवेशी, भंडार, खेत-बाग सबकी। उसका विचार था कि हवेली के अंदर, जहां उसने आज तक ठीक से झांका भी नहीं, एक बार हो आये, फिर ताला डालकर, लाठी लेकर बाहर चौखट पर बैठकर, खैनी मलते हुए इतमीनान से सोचे कि आगे क्या करना है।

वह बाहर से अंदर जा रहा था कि उसने देखा, अंदर से कोई बाहर आ रहा है... न-न आ रही है—सांवली, सलोनी, उगते सूरज की तरह टह-टह लाल जवान जनाना! एक बारगी हड़क गया वह। उसने दिमाग पर जोर डाला कि क्या इस औरत को उसने कभी देखा है? हां, देखा है! यह शायद वही छबीली है, जिसका नाम ले-लेकर लोग उसे गाहे-ब-गाहे चिढ़ाया करते हैं—'तोर दुलहिन!' कभी-कभार चोर निगाहों से उसने उसे देखा भी और मन में यह लोभ भी जगा कि काश लोगों की बात सच होती। मगर इसके आगे जाने में उसे डर लगा। क्या पता, वह मलिकार के परिवार या रिश्ते की कोई बहू-बेटी हो या कोई दाई, चेरी ही हो जो गौने में पतोहू की सेवा-टहल के लिए बेटे की ससुराल से आई हो। जो भी हो, उसकी बला से! परायी जनाना को कभी वह ताकता भी नहीं। अरे यह तो ऐसी मुश्किल आन पड़ी है कि उसे ड्योढ़ी के अंदर जाना पड़ रहा है वरना वह ड्योढ़ी के अंदर झांकता भी नहीं, कदम रखना तो दूर की बात है।

लेकिन, हाय रे बाप! वह इस तरह आंखें फाड़-फाड़कर उसे क्यों घूरे जा रही है। लो, हद हो गई, ऐन चौखट पर बीचो-बीच, जो है, सो आकर खड़ी हो गई है। वह अंदर जाये कैसे? बरसाती को लगा, उसने बाप की गुहार नाहक ही लगायी। औरत के मामले में वह तो खुद ही फिसड्डी साबित हुआ था। अगर ऐसा न होता तो माई उसे छोड़कर भाग जाती? नहीं, अब सीधे हनुमानजी का सुमिरन कर वह उससे सीधे-सीधे पूछेगा, 'डाकिनी, पिशाचिनी, चुड़ैल या माता-भवानी, जो भी हो सच-सच बताओ... कौन हो तुम और हियां हमरी 'परिच्छा' लेने आई हो कि भरमाने?'

लेकिन हाय, ई तो खड़ी-खड़ी लोर (आंसू) चुआने लगी। 'हे रामजी, हरे राम जी, आपको क्या हुआ दीदी?'

अरे बाप! वह तो हिचकी ले-लेकर लगी रोने। कहीं यह सब माया तो नहीं, या मलिकार के गोतिया-दयाद लोगों द्वारा भेजी गई जादूगरनी जो उसे भटकाने आयी है? वह मन ही मन हनुमान चालीसा पढ़ने लगा। जो भी होगी, उसे आज पता चल जायेगा कि हनुमानजी के किस भगत से उसका पाला पड़ा है। डर उसे डिगा रहा था और आंसू उसे गला रहे थे, 'हमको अपना दु:ख सच-सच बताओ। रोओ नहीं, दीदी!'

'दीदी न कपार!' ई तो फुफकार उठी एक दम्मे से। बरसाती सन्न!

'अपनी जनाना को दीदी कहता है, शरम नैं आती?'

जनाना...? दुहाई हनुमान स्वामी! बरसाती ने कौवे की तरह उसकी आंखो में

झुककर झांका, ऊपर देखा, नीचे देखा, अगल देखा, बगल देखा, आगे देखा, पीछे देखा, फिर तोते की तरह आंखें फेरकर शरमा गया, 'का मजाक करती हैं?'

'मजाक!' उस चिक्कन मेहरारु ने कपार ठोक लिया दोनों हाथ से। 'मजाक तो तू करता रहा इतने दिन तक हमसे!' औरत ने आंचल से आंसुओं को पोंछते हुए कहा। बरसाती इतना बकलोल कि पुरजा-पुरजा खोलकर बताना पड़ा सब कुछ। अंत में उसने अपने हाथ सामने कर दिये, 'ये देख, हाथ पर मोर के साथ-साथ क्या गुदा हुआ है?'

बरसाती ने टो-टाकर अक्षरों को जोड़ा—'ब, र, स आकार 'सा' त में बड़ी ई 'ती'—बरसाती!'

'नहीं!' छबीली ने संशोधन किया, 'मोर बरसाती!' बरसाती ने अचरज से पलकें झपकाईं। मेहरारु ने आगे बताया, 'यही नहीं, हमरा करेजा के अंदर भी यही चीज लिखा हुआ है, चाहे तो फोटू निकलवा के देख ले।'

बरसाती की बकार नहीं फूट रही थी। एक बिल्कुल अनजानी मगर रस से लब-लब करती दुनिया उसके सामने पहली बार खुल रही थी। वह उसमें डूब-उतरा रहा था। किसी तरह वह इतना-भर पूछ सका, 'तोरे ही साथ हमरा बियाह हुआ था?'

'हां रे, हमरे ही साथ तोर बियाह हुआ था। तब तू पिल्ले-जैसा था और मै बिलाय-जैसी।'

पहली बार बरसाती को किसी औरत की थोड़ी-सी आंच मिली थी, सो उसने कुत्ते की तरह मत्स्यमुद्रा आसन कर देह चटकायी और मेढ़क की तरह बोला—टर्र! 'चलो, मान लिया कि तुमरे हाथ पर और अंदर करेज पर हमरा नाम लिखा हुआ है। ई भी मान लिया कि बियाह के समय हम पिल्ले—जैसे रहे होंगे, लेकिन बियाह के बाद गौना होता है न! गौने तक तो हम सांड बनके डकर रहे थे, गौना क्यों नहीं हुआ?'

'गौना नहीं हुआ तो क्या यूं ही मै सूंघते-सूंघते आ गई हियां!'

'मेरे बगैर गौना हो गया?'

'इसी बात का तो रोना है जी। तुम पंजाब भाग गये थे। चिट्ठी देने पर भी नहीं आये। तब हमरा नैहर के भैया-भौजी तुमरे बाप को धमकाने लगे, जवान लड़की को हम कहां रखें, ले जाना हो तो ले जाओ, नही तो हम दूसरे के हियां कर देंगे। तब तुमरी गैरहाजिरी में ही गौना कराना पड़ा तुमरे बाप को। अब ले आया सो ले आया, लेकिन रखता कहां? दिन-भर तो मलिकार की बनिहारी करता था वह, अकेले घर में कुछ हो-हवा जाता तो कहीं मुंह दिखाने के लायक नहीं रहता। सो मलिकार के कहने पर ड्योढ़ी के अंदर छोड़ गया मलकाइन की हिफाजत मे। फिर उसके मन में जाने क्या बैराग आया कि साधू होकर सब कुछ छोड़-छाड़कर चलता बना।'

'जब हम नहीं आये तो ससुरालवालों को तुमको नैहर लिवा जाना चाहिए था—

था कि नैं?'

'था। लेकिन जब तक भैया-भौजी को खबर मिलती, तब तक तुम जो आ गये पंजाब से लौटकर... बाप की जगह मलिकार की बनिहारी पर।'

'ऊ तो दू साल हो गया।'

'हां।'

'तो तू दू साल से हियां है? हाय रे हनुमान स्वामी! न! कही न कही जरूर गड़बड़ है।'

छबीली ने देखा कि ऐसे नहीं माननेवाला है उसका बकलोल बालम, सो उसने हाथ पकड़ा और खींच ले गई उसे।

कहां—मचान पर?

ना!

दलान में?

ना!

हवेली में?

हवेली में नहीं, अपनी हवेली में। सास-ससुर-पति के परित्यक्त भुतहे खपड़ैल में। चाभी बरसाती की करधनी मे थी, लेकिन न घुमाये घूमे, न डोलाये डोले, छबीली ने एक पत्थर दे मारा ताले पर। पट से खुल गया ताला। चर्र से खुल गया किवाड़। लाठी पटक-पटककर एक सांप, दो चूहा और कई जीव-जंतुओं को भगाया गया।

'हम लोग हियां हैं, अगर हुआं हवेली में कोई आग लगा दे तो?' बरसाती की एक शंका।

'लगा दे तो लगा दे। पहले अपना घर संभाल!' छबीली का चटपट समाधान!

'तिरिया-सुख क्या होता है?' पूछने पर अब बरसाती नहीं कह सकता, 'हमको नै पता!'

मगर सिर्फ एक सुख के पा जाने भर से आदमी को सारे सुख सुलभ हो जाते तो भला क्या बात होती। मेहरारु की आंच पाकर जैसे-जैसे बरसाती की माटी सूख रही थी, वैसे-वैसे वह चटख और चिहरा रही थी और वैसे-वैसे उससे शंकाओं के बुदबुदे निकलते आ रहे थे।

'तू अगर हमरा जनाना है और हियांइ रहती थी तो पहले काहे नैं आई?'

'तू हमरा मरद है और हियांइ रहता था तो काहें नैं ले आया हाथ पकड़ के?' तुर्की-ब-तुर्की जवाब छबीली का।

'हमको नैं पता था।'

'नैं काहे...? बोलने को तो बोलोगे, गौने तक को हम सांड़ बनके डकर रहे थे, गौना क्यों नहीं हुआ?' छबीली ने बरसाती की शेखी की नकल उतारी, 'अरे सांड

नहीं, बैल था बैल, मलिकार का बैल, बधिया बैल!' वह और भी जाने कितने विशेषण जोड़कर बरसाती को नंगा करती कि उसने घबराकर अपनी गलती स्वीकार कर ली, 'अच्छा चल, हमरी ही गलती थी, मगर तुमको तो पता था, तुम काहें नहीं बताई?'

मरद जब अपनी गलती स्वीकार कर रहा हो तो मेहरारु गल और पिघल ही जाती है: छबीली ने पलकें झुका लीं, 'हमको धमकाया गया जी कि तुमरे मरद को मार डालेंगे।'

'सच?'

'सच तोर किरिया!'

ठेस लगी बरसाती को। थोड़ी देर तक वह अपने और मलिकार के संबंधों का विश्लेषण करता रहा फिर उसे खुद पर धिक्कार भर आया, 'मरिये न जाते, तो क्या होता?'

'अरे वही न!' इस बार छबीली की मासूमियत मसृण हुई, 'अब क्या कहें...? हमरा उमिर नादान था न जी। हमसे बोला, तू रांड हो जायेगी। फिर तू न चटक रंगीन कपड़ा पहन पायेगी, न गहना-गुरिया, न मांस-मछली छू पायेगी, न शुभ-कारज में जा पायेगी, न गा पायेगी, न हंस पायेगी।' अंतिम वाक्य कहते-कहते शब्द सुबकियों में डूबने लगे। अचानक उसकी चेतना लौटी, उसने नाक छिनकी, 'लेकिन मरने की बात तूने की कैसे—हम अपने जीते जी अपने मरद को मरने देते? खा हमर किरिया कि अब से नैं कहेंगे।'

बरसाती को मेहरारु के मूड़ पर हाथ धरकर किरिया खानी पड़ी, 'अब से नैं कहेंगे।' तब जाकर छबीली शांत हुई, 'हां, नही तो।'

'अब चल, कुछ भोजन-पानी का जुगाड़ करते हैं।' वह उठकर खड़ी हो गई। उसने जैसे-तैसे अपने कपड़े ठीक किये, फिर बरसाती का हाथ पकड़कर खीचा, 'अरे, उठो न! मलिकार से हमको कुछ लेना-देना नहीं। लेकिन उनके गाय-गोरू तो 'बां-बां' कर रहे होंगे। अच्छा एक बात, अभी तो उनको दूहना भी है। चलो, खाने की चिंता से छुट्टी मिली। दूध जो है...।' वह एक सांस में न जाने कित्ती बातें कह गई लेकिन बरसाती नहीं उठा, खींचने पर भी।

'ए जी, क्या हुआ? नींद आ रही है?'

नींद! भला इसे नींद कहते हैं? बरसाती की दोनों आंखें तो पटुए के फूल की तरह खुली पड़ी हैं। वह उसे छेदनेवाली नजरों से घूरे जा रहा था। छबीली डर गई एकबारगी, 'ए जी, बोलो ना जी, क्या हुआ?'

'अच्छा...' बरसाती ने सयानेपन की शेखी से पूछा, 'ई सब तुम मलिकार के साथ भी करती थी?'

थर्रा गई ऊपर से नीचे तक छबीली लेकिन तुरंत संभल गई, 'दुत!' और

आकर्षण की डोर को ढील देते बाहर निकल आई। उसकी पूरी देह अभी भी सनसना रही थी। सच कहे तो मारी जाये, झूठ कहे तो विश्वासघात! हे माता-भवानी, मेरे मरद को अभी तो बचो लो। अभी-अभी तो मरद के अंदर का मरद जगा है, अभी-अभी तो वह मेरे काबू में आया है, और इत्ती जल्दी हड़ककर छिटक गया तो क्या होगा? इस कच्चे, सीले आदमी को सीझने में अभी थोड़ा टैम लगेगा, फिर बताने की जरूरत नहीं पड़ेगी, खुद बूझ लेगा सारा नरम-गरम!

बरसाती ने बाहर निकलकर देखा तो छबीली पशुशाला की ओर जा रही थी, जहां गोरू 'बां-बां' कर रहे थे। उसने दूर-दूर देखा, कल की गोली चलने की घटना से पूरे इलाके में डर और सन्नाटा पसरा पड़ा था। आवाज के नाम पर पशुओं की 'बां-बां' थी और मिनख के नाम पर वह और छबीली। इस भूखंड पर मानो वह अकेली नारी थी और वह अकेला पुरुष!

और वह नारी उस पुरुष को घुमाती रही!

जैसे लहर में!

जैसे भंवर में!

जैसे चाक पर!

जैसे आंच पर!

धीरे-धीरे उसकी समझ में यह बात आने लगी कि 'नै मालूम' बोलने से काम चलनेवाला नही है, जानना पड़ता है। सब कुछ जानना पड़ता है। वो सिमरहवा पर के पांच एकड़ का प्लाट बरसाती के ही नाम पर है और अगहरा का वह पेटरौल पंप भी छबीली के ही नाम! वैसे भी यकीन शायद ही आता, वह तो भूमिहीन मजूरों के लीडर की ओर से उसके नाम पर उस जमीन को उनके हवाले कर देने की चिट्ठी आई और इधर छबीली के नाम पर पेटरौल पंप को अवैध आबंटन के तहत रद्द करने की एक चिट्ठी आई सरकारी। तब जाकर उसे सच्चाई का भान हुआ। फिर तो कागजात खोजे, निकलवाये और देखे गये—हां, बात तो सच है।

'कोई-कोई बताता तो था, मगर हम समझते रहे कि मजाक कर रहा होगा।' बरसाती ने अपनी मूर्खता को कोसा।

सीधा-साधा बरसाती झाड़ में मानो आ फंसा। एक को सुलझाता तो दूसरी उलझा लेती।

'लेकिन एक ठो बात अभी भी हमरी समझ में नैं आ रही है।'

'क्या?'

'कि मलिकरवा हमरा, तोरा नाम पे जमीन, जायदाद करेगा काहे!'

'सीधी बात है, नईं बूझ पाये?'

'नैं।'

'अरे सरकार टिकस लगाती है न! माने अतना जमीन, अतना जयदाद कहां से

बटोरा, उसका खजाना माने टिकस दो। अब, जे है से, ऊ चीज ओकर नाम पे नईं है, सो टिकस नहीं देना होगा।'

'समझा!' बरसाती ने समझ तो लिया, मगर फिर एक शंका, 'तो ई बताओ, हमरे-तोरे नाम-ए पे काहें किया?'

'सोचा होगा, पता नहीं चलेगा, फिर हमको पता चल जाय तो हम तो उसकी मुट्ठी में है, जायेंगे कहां?'

'उहूं! तोर संग जरूर ऊ फंसल होगा, नहीं तो... अइसी जनाना ओकर मुट्ठी में रहे और ऊ छोड़ देगा?'

छबीली सहम गई। उसे यह बात अच्छी तो लगी थी कि उसका मरद होशियार हो रहा है, लेकिन इतना होशियार हो जाये—यह तो उसने कभी चाहा नहीं। 'रच्छा' करो हे माता भवानी। तुम्हीं बताओ हम करते क्या! और ई हमरा मरद अगर इसी चोर कांटे में उलझ गया तो हमी उसको सबसे बड़े दुश्मन नजर आने लगेंगे, फिर असल दुश्मन नजर ही नहीं आयेगा।

बिल्ली की तरह पूंछ ऐंठकर उसने कहा—म्याऊं! माने 'तुम कहना क्या चाहते हो जी?'

'तू मलिकरवा के साथ जरूर से जरूर सोयी होगी, तबे न तोरा नाम पे पेटरौल पप कर दिया।'

'तब तो तू भी जरूर से जरूर सोया होगा मलिकरवा के साथ। तबे न तोर नाम पे पांच एकड़ जमीन कर दिया।'

'धत्त! धत्त! नैं! हनुमानजी की किरिया—नै!'

छबीली ने ऐसा मर्मभेदी बाण मारा बरसाती को कि छरछराता रह गया; जैसे सचमुच का ऐसा हुआ हो। ठीक ही तो कहा उसने, उसके नाम पर भी तो जमीन कर दी है मलिकरवा ने... तो क्या वह भी....? धत्त! धत्त!

'देख!' हाथ पकड़कर मानो दलदल से निकाला हो औरत ने मरद को, 'मन को जितना भरमाओगे, उतना ही भरमेगा। आ कि तनी सोचो, हम तुम तो आदमी हैं, मलिकरवा की जमीन तो कुकुर-बिलाय के नाम पर भी है! हम तुम तो जिंदा है, मलिकरवा की जमीन तो उनके नाम पर भी है, जो मरकर कब के भूत बन गये।'

बरसाती 'सरंडर' बोल गया, 'तब तू ही बता, हमें करना क्या चाहिए।'

'नैं! हम के हैं तोर? हम तो पापिन हैं, पापिन?' मानवती ने मान दिखाया।

'अइसा मत बोल! देख, हमरा कोई नैं है—न माई, न बाप, न भाई, न भौजाई, न यार, न दोस्त, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे जो है बस तू ही तू है, कहा-सुना माफ करो और बताओ कि हम का करें।' यह कहते हुए उसने मेहरारु की गोद में सिर दे मारा, त्राहिमाम!

मेहरारु जो उसे रोज-रोज उकसाती रही थी, अब तनिक इतमीनान से पांव

पसारकर बैठ गई और सिर के बालों में उंगलियां फेरती रही, 'आ कि देखो, हम तो चलकर तुमरे पास आ गये, कारन ये कि हमरा दू ठो गोड़ था, लेकिन ऊ जमीन और ऊ पेटरौल पंप के पास गोड़ नहीं है। वो ऐसे तो तुमरे पास आने से रहे। उनके पास तुमको खुद चलकर जाना और कब्जा करना पड़ेगा।'

'लेकिन सिर्फ तोरे-हमरे बूते की बात नहीं है यह। कुछ अपने संगी-साथी चाहिएं।'

'मलिकरवा के गोतिया ने गोली मारी थी, उसके पास चला जाये?'

'ऊ तो वही हुआ, एक बाघ के मुंह से छूटने के लिए, दूसरे बाघ के मुंह में जाना।'

'तब?'

'ऊ लोग जो भूमिहीन हैं और चिट्ठी दिये हैं।'

'ऊऽऽऽ?'

'हां, क्या हुआ? आखिर तो गरीब-गुरबा है हमारी तरह। मलिकरवा ने उनकी जमीन छीन ली थी। उनसे कुछ ले-दे के समझौता कर लेंगे। उनका रोआं आशीरवाद देगा। वही लोग उस जमीन का हमारा कब्जा नहीं टूटने देंगे, और वही लोग पेटरौल पंप पर भी कब्जा दिलवायेंगे। जरूरत पड़ी तो हम हाकिम, साहब, मंतरी, संतरी सब के पास जायेंगे, रायेंगे, गिड़गिड़ायेंगे, भूख हड़ताल करेंगे।'

'लेकिन मलिकरवा तो एक दिन अस्पताल से अच्छा होकर आयेगा ही, फिर ऊ सब छीन लेगा, जमीन, पंप और तुमको भी।' बरसाती का डर भीगे चूहे की तरह उछलकर बाहर आया।

मेहरारु ने सिकुड़ी हुई आंखों से मर्द को देखा और ताने कसते हुए कहा, 'लोग गलत नहीं कहते, तू सचमुच बरसात में ही पैदा हुआ था। अरे, हम सब जानते हैं ई मलिकरवा का चरित्तर—सब! कोई 'कुच्छ' नहीं कर पायेगा, बस तू जरा टैट (टाइट) रह।'

'तू तो बड़ी हुशियार है रे, हमी कैसे बोदे रह गये?'

'इसलिए कि तू मलिकरवा के यहां बाहर था और हम अंदर।'

दोस्तों, छबीली और बरसाती की कहानी अभी शुरू ही हुई है—

जैसे तेल और धानी!

जैसे आग और पानी!

जैसे प्रेम और जिंदगानी!

आगे का पूरा का पूरा हाल अभी लिखा जाना बाकी है। आगे क्या होगा, कैसे होगा, होगा भी कुछ या नहीं—यह इस बात पर निर्भर करेगा उनके 'डेग' कैसे हैं, और 'डग' कैसा है!

□

अपनी-अपनी दुनिया

अमर गोस्वामी

खट से फोन रखने की आवाज आयी। रमाकांत ठगे-से रह गये। यह क्या हो रहा था? उन्होंने, एक ही दिन सब इतने व्यस्त हो जाएंगे, इसकी कल्पना ही नहीं की थी। किसी को उनके दु:ख-सुख से मतलब ही नहीं था। वह एक दुनिया थी, जहां सिर्फ अपनी ही बात सुनायी पड़ती, अपनी ही सफलता की गूंज आती। उन्होंने अपने जीवन में खुद को इतना असहाय कभी महसूस नहीं किया था। एक ही शहर में रहने वाली उनकी संतानों को बिना पहले से समय निर्धारित किये हुए उनसे मिलने की फुर्सत नहीं थी। मगर मौत से भी भला कोई कह सकता है कि तुमने एपायंटमेंट लिया कि नहीं?

बड़ी मुश्किल से सुबह हुई थी। रमाकांत को लगा जैसे रात की गाड़ी काफी देर तक सुबह के स्टेशन के करीब आकर खड़ी हो गयी हो। उनका हाल उस मुसाफिर की तरह था, जिसे लंबी यात्रा के बाद अगले स्टेशन पर उतरना था पर गाड़ी किसी अनदेखे सिगनल के पास रुककर उनके उतावलेपन को बढ़ाए जा रही थी। जैसे ही उन्हें भोर का प्लेटफार्म नजर आया और चिड़ियों का शोर उनके कानों में गया, उन्होंने बड़े संकोच से अपने बेटे सुकांत को फोन किया।

रमाकांत के दो बेटे और एक बेटी थी। तीनों ही इसी शहर में अपने माता-पिता से अलग रहते थे। बेटी की तो खैर शादी हो चुकी थी, उसे अलग ही रहना था, पर बेटे भी अपनी पत्नियों के साथ अलग रहते थे। वह जिस कंपनी में काम करते थे,

उस कंपनी ने उन्हें अलग से फ्लैट दे रखा था। फ्लैट में सारी सुविधाएं थीं, पूरी साहबियत थी। रमाकांत का अपना फ्लैट उनको मिले फ्लैट की तुलना में काफी छोटा था और हैसियतदार भी नहीं था। रमाकांत की दोनों बहुएं भी अलग रहना चाहती थीं। इसलिए एक ही शहर में रहने के बावजूद रमाकांत का परिवार अलग-अलग इकाइयों में बंट गया था। रमाकांत और उनकी पत्नी के लिए बस यही खुशी की बात थी कि एक ही शहर में होने के कारण वह जब चाहते एक-दूसरे से मिल लेते थे। फोन से एक-दूसरे का हाल-चाल ले लिया करते। फोन उनके लिए किसी देवदूत से कम नहीं था। यह फोन ही था जिसने दिलों को एक-दूसरे से जोड़ रखा था।

उन्होंने सोचा, पहले अपने बड़े बेटे सुकांत को फोन करें। सुकांत की दिनचर्या बड़ी व्यस्त रहती थी। रोज ही देर रात वह और उसकी बीवी पार्टियों से घर लौटते थे। पार्टियों में अपनी-अपनी बीवियों के साथ जाना भी एक प्रकार की नौकरी थी। किसी पार्टी में बीवी को न ले जाने वाला व्यक्ति ऐसा लगता था जैसे वह बिना टाई के सूट पहनकर आया हो। लोगों की नजर सबसे पहले 'टाइयों' पर पड़ती थी। खूबसूरत टाई को देखकर उनके मुंह से निकलता, 'हाय।' हाय-वाय के बाद देर से घर लौटकर जाहिर है दूसरे दिन वे देर तक सोते। बड़े लोगों की दुनिया ही देर से सोने और देर तक सोते रहने की बन गयी है।

रमाकांत को इसीलिए संकोच हो रहा था पर फोन करना जरूरी था। संकोच के कारण ही, जरूरी होने पर भी वह आधी रात के बाद फोन नहीं कर पाये थे। वह किसी की नींद खराब करना नहीं चाहते थे। इसीलिए वह बेसब्री से सुबह का इंतजार कर रहे थे।

फोन हर बार की तरह सुकांत के नौकर ने उठाया। वह उस घर का चौबीस घंटे का चाकर था। उसे दिन-रात मुस्तैद रहना पड़ता था। उसके बिना सुकांत की बीवी का काम ही नहीं चलता था। आज के व्यस्त जीवन में पतियों के बिना कुछ दिनों तक बीवियों का काम चल जाता है, पर नौकर के बिना एक वक्त भी नहीं चलता। सुकांत की बीवी सुकांत से ज्यादा तेज थी और व्यावहारिक भी। घर में नौकर रखते ही वह सबसे पहले थाने में उसका हुलिया, नाम-पता दर्ज करा आती थी। नौकर पर थाने की मोहर लगवाकर ही वह उसे अपने घर का द्वितीय श्रेणी का सदस्य बनाती थी। काफी भारतीय भी विदेशों में जाकर द्वितीय श्रेणी के बन जाते हैं। रोजगार की बेइज्जती को गंभीरता से नहीं लिया जाता। वैसे भी थोड़ी-बहुत बेइज्जती कहां नहीं होती। सुकांत का नौकर ज्यादा पढ़ा-लिखा जरूर नहीं था पर आम आदमियों की तरह समझदार था। वह भी समझता था कि जमाना खराब है। साहबों तक में गिरावट आ गयी है। उसने पुलिस की जांच का बुरा नहीं माना। थाने से लौटकर वह अपने काम में लग गया। सुकांत मेमसाब भी उससे बहुत असंतुष्ट नहीं थीं। उनकी घरेलू और निजी जरूरतों का काम उससे बखूबी चल जाता। इससे घर में उसकी गुडविल बन गयी थी।

सुकांत साहब भी उसकी घर की 'गुडविल' की कद्र करते थे।

साहब के डैडी का फोन पाकर नौकर असमंजस में पड़ गया। दिक्कत यह थी कि साहब के साथ मेमसाब भी सोई हुई थीं। पिछली रात को दोनों ही और दिनों की तुलना में जरा देर से घर लौटे थे। इस वक्त दोनों ही नींद में लिपटे हुए थे। एक की आंख खुली हो तो दूसरे को जगाना आसान होता है। अगर दोनों सोये हुए हों तो बेहद कठिन। इस वक्त घर के प्रजातंत्र में सत्ता और विपक्ष दोनों ही सोये हुए थे। बस वही एक नागरिक था जो जागा हुआ था और ड्राइंगरूम में बैठा अपने हाथों से बनायी उत्तम कोटि की दार्जिलिंग चाय पी रहा था। यही वक्त उसका अपना होता था और मूल्यवान। इसे वह सीने से लगाये रहता। साहब और मेमसाहब के जागने के बाद तो समय उसके लिए पराया हो जाता था, जिस तरह सुकांत साहब और मेमसाब एक-दूसरे के लिए पराये हो जाते थे। दोनों को एक-दूसरे की ओर देखने की फुर्सत ही नहीं रहती थी।

रमाकांत ने नौकर को मौन पाकर दुबारा 'हैलो-हैलो' किया तो उसने कहा, 'होल्ड आन साहब जी, मैं देखता हूं।' यह कहकर उसने कप की बची चाय झटके से खत्म करके जूठे कप को फटाफट धोकर, अपने साहब के बेडरूम के दरवाजे पर हल्की दस्तक दी। उस वक्त उसकी कर्तव्यपथ पर खुद को बलिदान करनेवाली स्थिति थी। पता नहीं कच्ची नींद से जागने के बाद सुबह कितनी देर तक सुकांत साहब का मूड खराब रहे। भीतर से कोई आवाज न आने पर उसने दरवाजे को फिर हल्के से थपथपाया, जैसे वह किसी का गाल थपथपा रहा हो। थपथपाहट की आवाज से मेमसाब की नींद खुल गयी। नौकर ने बताया कि सुकांत साहब के डैडी फोन पर उनका इंतजार कर रहे हैं। सुकांत की पत्नी ने गुडमार्निंग 'किस' देकर सुकांत को जगाया। सुकांत ने बड़े अनमने भाव से इंटरकाम के टेलीफोन का स्विच ऑन करके फोन उठा लिया।

फोन पर सुकांत की आवाज सुनकर रमाकांत ने कहा, 'सॉरी बेटा, तुम्हें असमय जगा दिया। मुझे पता है तुम रात को देर से सोए थे। लेकिन इस वक्त फोन करना बेहद जरूरी था। दरअसल सुबह-सुबह कैसे बताऊं, तुम्हारी मां...'

सुकांत ने बीच में बात काटते हुए कहा, 'सॉरी डैड, आपको तो मेरे बारे में पता है, पर मां मेरी व्यस्तता समझना नहीं चाहतीं। वह तो बस यही चाहती हैं कि मैं हमेशा उनके सामने बैठा रहूं। आज तो मेरा इतना व्यस्त एपायंटमेंट है कि मैं खुद मरना चाहूं तो मर नहीं सकता।'

'सुबह-सुबह ऐसी अशुभ बात क्यों कर रहे हो बेटा?'

'सॉरी डैड, दरअसल आज एक फॉरेन डेलीगेशन आनेवाला है। कंपनी की ओर से उनको एंटरटेन करने की सारी जिम्मेदारी मेरी है। बस तैयार होकर अभी मैं निकलने ही वाला हूं। हमें ऊटी जाना है। सुनीता भी साथ जा रही है। हम लोग तीन

दिन बाद लौटेंगे। ...हालत यह है कि हमें अपने नये फ्लैट के कागजात के बारे में वकील से कुछ बातें करनी हैं, उसके लिए भी समय नहीं निकाल पा रहा हूं।'... सुकांत के कमरे में रखी तभी एक दूसरे फोन की घंटी भी बजने लगी थी। इसलिए सुकांत ने जल्दी-जल्दी बात खत्म करते हुए कहा,'ठीक है डैड, लौटने के बाद मैं आपसे कांटैक्ट करूंगा और आप दोनों से मिलने आऊंगा।' यह कहकर उसने फोन रख दिया।

रमाकांत, सुकांत की ऐसी व्यस्तता पर खीजे भी और खिन्न भी हुए। पर क्या करते! उन्होंने सुकांत से छोटी अपनी बेटी को फोन किया। वह भी अपने बड़े भाई से कम व्यस्त नहीं रहती थी। अभी कुछ ही दिन हुए वह लंदन में अपनी ननद के पास रहकर लौटी थी। खुद चर्चित सोशलाइट थी। इस चक्कर में उसे देश में ही नहीं, विदेशों के भी चक्कर लगाने पड़ते थे। बचपन में वह इतनी डरपोक थी कि शाम होने के बाद वह अकेले बाथरूम नहीं जाती थी। उसकी मां को हमेशा उसके साथ रहना पड़ता था। एक बार भाई के आने पर वह दरवाजा खोलने के लिए गलियारे में गयी थी। वहां एक बिल्ली की चमकती हुई आंखों को देखकर वह बिना दरवाजा खोले ही 'अरी मां रे' कहती हुई भाग आयी थी। अपनी मां के साथ हरदम चिपकी रहने वाली उस लड़की को लेकर मां को बड़ी दुश्चिंता थी कि उसकी बेटी उसे छोड़कर ससुराल में कैसे रह पाएगी। हुआ भी यही था। पहली बार ससुराल जाते हुए मां से अलग होते वक्त हिचकियां लेते-लेते उसका बुरा हाल हो गया था। कई महीनों तक उसका यह हाल था कि जब भी फोन पर बात करती, रोने लगती थी। उसी घरघुसरी लड़की के पैर अब घर पर टिकते नहीं थे। अकेली जाने कहां-कहां घूमती रहती थी। उससे भी मिलने के लिए लोगों को एपायंटमेंट लेना पड़ता।

डायल के बटन दबाने के कुछ देर बाद उधर से आवाज आयी, 'हैलो!' यह फोन भी किसी नौकर ने ही उठाया था। रमाकांत ने कहा,'जरा फोन अपनी मेम साहब को दो, मैं उनका डैडी बोल रहा हूं।' कुछ देर बाद फोन पर एक औरत की आवाज आयी, 'मेम साहब बाथरूम में हैं।' वह उस घर की आया थी।

'कितनी देर में निकलेंगी?' रमाकांत के मुंह से अचानक निकल गया।

'अब मैं कैसे बताऊं। उनका मन है। जल्दी भी निकल सकती हैं, देर भी लग सकती है।'

'ठीक है, मैं थोड़ी देर बाद कर लूंगा।' कहकर रमाकांत ने फोन रख दिया।

रमाकांत आधुनिक विचारों के व्यक्ति थे। दूसरों की परेशानियां समझते थे। आज के जीवन की व्यस्तता को भी। अपने बच्चों की प्रगति से वे संतुष्ट थे। उनके कामकाज में वे कभी बाधक होने की कोशिश नहीं करते थे। अपनी पत्नी से कभी-कभी उनका इसी बात पर झगड़ा हो जाता था। वे जब अपने बेटे-बेटी की व्यस्तता की वकालत करते तो उनकी पत्नी कहती,'फुर्सत न मिलने की बात सिर्फ बहाना है।

दरअसल बूढ़े मां-बाप के प्रति उनका लगाव खत्म होता जाता है। वे भूल जाते हैं कि उनके मां-बाप ने भी अपनी व्यस्तताओं में से उनके लिए कितना समय निकाला था। इनकी सुविधाओं के लिए कितनी रातें खराब कीं, कितने दिन। यही सुकांत जब छोटा था, तो उसकी नींद रात में अक्सर उचट जाया करती थी। अंधेरा देखते ही रोता। वह चाहता कि उसे गोद में लेकर कोई घूमे। उसके कारण वर्षों हम लोगों की नींद खराब होती रही। रात को घंटों उसे बहलाना पड़ता। हममें से किसी को ऊंघता हुआ देखकर वह चीखने लगता था। हम लोगों ने हमेशा बच्चों की भावनाओं का ख्याल रखा। मगर अब ये, इतने व्यस्त हो गये कि फोन पर भी बात करने की फुर्सत नहीं रहती, शक्ल दिखाने की कौन कहे। तुम देखना एक दिन, इसी घर में मेरी लाश पड़ी रहेगी और उन्हें अपनी व्यस्तता के कारण कंधा देने की फुर्सत नहीं मिलेगी।'

रमाकांत हंसकर कहते,'तुम भी बैठी-बैठी कैसी-कैसी कल्पना कर लेती हो। मेरे बेटे-बेटी व्यस्त जरूर है, इसका मतलब यह नहीं कि उनके मन में मां-बाप का प्यार मर गया है। आम जिंदगी में वक्त के साथ थोड़े-बहुत समझौते तो करने ही पड़ते हैं।'

'अब जिंदगी बची ही कितनी है। खुश रहें सब। बाकी भी कट जाएगी।' पत्नी ने उदास होकर कहा।

रमाकांत ने इस बार अपने छोटे बेटे मणिकांत को फोन किया। वह एक बहुराष्ट्रीय कंपनी का बड़ा पदाधिकारी था। कंपनी के काम से उसे बार-बार बेहद ठंडे मुल्कों में जाना पड़ता था। उसकी मां सुनती तो चिंता में उसे खुद जुकाम हो जाता और नाक बहने लगती। रमाकांत एक बार नवंबर में अपनी पत्नी को घुमाने नैनीताल ले गये थे। ठंड लगने से उसे बुखार हो गया था। इसलिए हिल स्टेशनों से पत्नी को कोई प्रेम नहीं था। मणिकांत को वह प्यार से बार-बार समझाती थी कि वह अपने देश में ही रहा करे, बार-बार ऐसे ठंडे मुल्कों में न जाया करे। मणिकांत हंसता। कहता,'मां तुम बहुत भोली हो। तुम्हारा वश चले तो तुम मुझे अपने आंचल से बांधकर रख लो। कहीं निकलने ही न दो।'

मणिकांत के घर का फोन उसके पी०ए० ने उठाया। उतनी सुबह उसकी ड्यूटी शुरू हो गयी थी। रमाकांत से उसने कहा,'साहब अभी बाहर जाने के लिए निकल रहे हैं। वे अभी किसी से मिल नहीं पाएंगे।' यह कोई नया पी०ए० था, जो उन्हें पहचानता नहीं था। रमाकांत को अपनी भूल महसूस हुई। उन्होंने उसे अपना परिचय दिया। उसने 'सॉरी' कहकर बड़े अदब से साहब के कमरे में फोन ट्रांसफर कर दिया। मणिकांत ने फोन उठाते ही कहा,'डैडी, मुझे अचानक दो दिनों के लिए फ्रांस जाना पड़ रहा है। फ्लाइट पकड़ने के लिए अभी निकल ही रहा हूं। क्या कोई बहुत जरूरी काम था?'

रमाकांत ने लगभग टूटते हुए कहा,'दरअसल तुम्हारी मां...'

बात खत्म होने के पहले ही मणिकांत ने हंसते हुए कहा, 'मां ने क्या फिर कोई

बुरा सपना देखा, जो इतनी सुबह आपको फोन करने को कह दिया। मां से कहिएगा, हम सभी मजे में हैं। आपकी बहू सप्ताह-भर के लिए अपने मायके गयी है। दरअसल मुझे बाहर जाना था इसलिए उसने भी वहां का टूर बना लिया। आपको शायद पता नहीं, मेरी सास इधर बीमार चल रही हैं। खैर, मैं बहुत जल्दी में हूं, नहीं तो मैं खुद मां से बात करता। अभी मां से बातें करूंगा तो उनकी हिदायतें सुनते-सुनते मेरा प्लेन छूट जायेगा।' फ्रांस जाने के इस मौके की खुशी उसकी बातों से छलक रही थी। वह काफी उत्साहित था। रमाकांत ने सोचा, इस वक्त उससे कुछ कहना शायद उसके साथ अन्याय होगा। मणिकांत ने अपने उत्साह की रौ में कहा, 'बाय डैड, लौटकर फोन करूंगा।'

रमाकांत ने फोन रख दिया। मुड़ने को हुए कि तभी याद आया कि एक बार बेटी को फोन करके देख लें। शायद बाथरूम से निकल आयी हो।

फोन इस बार भी आया ने ही उठाया, पर बेटी बाथरूम से निकल आयी थी। वह फोन पाते ही बड़े उल्लास से बोली,'आज इतनी सुबह फोन, डैडी? तो क्या आपको भी खबर मिल गयी? आज सुबह नौ बजे महिलाओं का एक डेलीगेशन लेकर मैं प्रधानमंत्री से मिलने जा रही हूं। कल ही उनके ऑफिस से समय तय हुआ है। इन दिनों शहर में बूढ़े लोगों की आये दिन हत्याएं हो रही है। इस महानगर का जीवन बिल्कुल असुरक्षित हो गया है। सुबह होते ही घर के लोग नौकरी पर निकल जाते हैं। घर में दिन-भर अकेले बूढ़े-बूढ़ी ही रह जाते हैं। तभी मौका देखकर बदमाश किसी बहाने से घुस आते हैं और हत्या कर सामान लूटकर भाग जाते है। आप लोग भी सावधान रहिएगा।... अपने देश की पुलिस को क्या कहा जाए। गुंडे-बदमाशों को उनका डर ही नहीं रहा। प्रशासन भी एकदम नाकारा है। ...पिछले सप्ताह जब मैं लंदन में थी तो यहां के हालात पर वहां के अखबार में किसी की टिप्पणी पढ़कर तय कर लिया था कि इंडिया लौटते ही इस समस्या को लेकर प्रधानमंत्री से डिस्कस करना है। हम लोग पुलिस मुख्यालय के सामने विरोध प्रदर्शन भी करेंगे। सभी प्रेसवालों को भी प्रेस नोट भेज दिया है। इन्हीं सब भागदौड़ में कल काफी देर से घर लौटी थी। बस मैं अभी निकलने ही वाली हूं। जो शेड्यूल है उसमें दो दिनों तक फुर्सत नहीं। कल का अखबार डैडी आप जरूर देखिएगा, मेरी उसमें फोटो भी छपेगी। ...मां को बता दीजिएगा डैडी, इस वक्त मुझे बहुत जल्दी है, नहीं तो मां से खुद बात करती। आपको तो पता ही है कि मां का मन थोड़े में भरता नहीं। खोद-खोदकर जाने कितना कुछ पूछ लेंगी। ...वैसे उन्हें तो कभी मुझ पर भरोसा रहा ही नहीं। अभी भी वे मुझे छोटी बच्ची समझती हैं। आज भी मेरे अकेली कहीं आने-जाने की बात पर चिंता करती हैं। पिछले बार जब मैं प्रोटेस्ट मार्च पर गयी थी तो मां कितना घबड़ा गयी थीं। अभी भी सुनेंगीं तो उनकी सांस रुक जाएगी। आप अभी उनसे प्रोटेस्ट वाली बात मत बताइएगा। ठीक है, अभी मैं फोन रखती हूं, बड़ी जल्दी में

हूं, वीमेन एसोसिएशन की दो पदाधिकारी महिलाएं भी आ गयी हैं, और हां, आपको तो पता ही है रमेश तीन दिनों के लिए बिजनेस टूर में नैरोबी गये हैं। जाने से पहले मां से फोन पर उनकी बात हुई थी। ...अच्छा तो ठीक है, रख रही हूं।'

खट से फोन रखने की आवाज आयी। रमाकांत ठगे-से रह गये। यह क्या हो रहा था? उन्होंने, एक ही दिन सब इतने व्यस्त हो जाएंगे, इसकी कल्पना ही नहीं की थी। किसी को उनके दु:ख-सुख से मतलब ही नहीं था। वह एक दुनिया थी, जहां सिर्फ अपनी ही बात सुनायी पड़ती, अपनी ही सफलता की गूंज आती। उन्होंने अपने जीवन में खुद को इतना असहाय कभी महसूस नहीं किया था। एक ही शहर में रहने वाली उनकी संतानों को बिना पहले से समय निर्धारित किये हुए उनसे मिलने की फुर्सत नहीं थी। मगर मौत से भी भला कोई कह सकता है कि तुमने एपायंटमेंट लिया कि नहीं? वह तो कुछ कहने का मौका ही नहीं देगी। वही इस दुनिया के तानाशाहों का न्याय करती है, उनका भी, जिन्हें भ्रम होता है कि वे वक्त पर राज करते हैं।

अचानक रमाकांत के मन में गुस्सा काफी देर से बंद ट्रैफिक के खुलने की तरह तेजी से शोर करते हुए फूटा। अगर उस वक्त कोई सामने पड़ गया होता, तो जरूर दुर्घटना घट सकती थी। उन्होंने बेडरूम की ओर देखकर चीखते हुए कहा,'सुन रही हो, आज किसी को हमारे पास आने की फुर्सत नहीं है। उनकी व्यस्तता के बारे में तुम ठीक ही कहती थी। मै पिता था, इसलिए नहीं समझ पाया।' रमाकांत कमरे की ओर बढ़ते हुए बोले,'मगर मैं तो हूं तुम्हारे पास। मैंने साथ निभाने का वायदा किया था। बच्चों को तुम माफ कर देना।'

उन्होंने खिड़की से बाहर झांककर देखा, चारों तरफ सन्नाटा था। मुहल्ले के दो-चार लोग उनके घर की ओर आ रहे थे। एक तात्कालिक गुस्से के बाद उनका मन स्थिर हो चुका था। उन्होंने मन ही मन इसे दोहराया—हम सब नियति के हाथों की कठपुतलियां हैं। हमें सिर्फ अपना कर्म करते जाना है। वही आगे का रास्ता निकालता है।

तीन दिनों के बाद रमाकांत के दोनों बेटों और बेटी को कूरियर से एक पत्र मिला कि अगर वे अपनी मृत मां की आत्मा की शांति के लिए कार्यक्रम में शामिल होने के लिए वक्त निकाल सकें, तो उनके अभागे पिता की आत्मा को भी शांति मिलेगी। रमाकांत ने अंत में यह भी लिखा था कि अगर व्यस्तता से तुम लोगों का कोई नुकसान होता हो तो अपने न आने का संकोच मत करना। तुम्हारी मां का आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ रहेगा।

□

अपराजिता की सच्ची कहानी

प्रकाश मनु

आधुनिक समय में एक कर्मठ, प्रतिबद्ध और ईमानदार व्यक्ति को मात्र जीने के लिए ही इतने संघर्ष करने पड़ते हैं कि कई बार उसे भयावह स्थितियों से दो-चार होना पड़ता है, प्रताड़ित होना पड़ता है या फिर कई बार दंडित भी। इस यातना को सहना पड़ता है उस व्यक्ति के परिवार को और कई बार भावी पीढ़ी का पूरा जीवन प्रभावित, रोगग्रस्त हो जाता है। सुपरिचित लेखक की प्रस्तुत कहानी में एक ऐसी ही अपराजिता का जीवन है, जो शायद क्रमश: हार रहा है।

''अंकल, यह भी कोई जीना है... ऐसे भी कोई जीता है! जिसके जीवन में कोई खुशी न हो... गिनाने के लिए कोई एक छोटी-सी खुशी तक नहीं, उसके जीने के मानी क्या हैं अंकल?... मैं क्या करूं, मुझे तो मौत तक नहीं आती। कई बार कोशिश कर चुकी हूं, पर मेरे लिए तो न जिंदगी है, न मौत...!''

आगे उसका स्वर आंसू और हिचकियों में डूब गया था।

तेज आंधियों में डगमग-डगमग एक नाव!

हम सब स्तब्ध थे। जैसे आंखे फाड़े होने के बावजूद हम उन आंधियों के पार कुछ न देख पा रहे हों, जहां सब कुछ गर्दभरा और रक्तरंजित था। एक क्षण के लिए यह भी लगा था, जैसे अनजाने ही हमारे चारों ओर भयंकर गोलीबारी हुई हो और सब ओर चिथड़ा-चिथड़ा, रक्तरंजित लाशें... असहनीय दृश्य!

एक औरत के भीतर कितना कुछ होता है... कितना बड़ा महाभारत! कितना

भीषण, असहनीय कोलाहल-भरा और खून से सना हुआ। कैसे-कैसे जतन से वह उसे छिपाए रहती है, और जब वह सब कुछ तोड़-फोड़कर बाहर निकलता है तो...

ध्वंस! महाध्वंस!! इतिहास का मलबा। अजीब कटी-पिटी विद्रूप शक्लें... आंखें फाड़े, सभ्यों को मुंह चिढ़ाती।

हम सचमुच कुछ भी सोच या समझ पाने की हालत में नहीं थे।

हम—यानी मैं, मेरी पत्नी सुनीता, अपराजिता के पिता मि० आनंद, मां, भाई और कमरे की हवा, जो इस बीच पसीज गई थी!

अपराजिता धार-धार आंसुओं में रोये जा रही थी। और वे आंसू कैसे तीखे, तल्ख थे, शब्दों से इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। बस, समझिए कि जैसे अभी-अभी तेजाब की बारिश हुई हो... कि जैसे बरसों से बंदी उसका दु:ख सारे कूल-किनारे तोड़कर, फूट-फूटकर बह रहा हो।

मुझे कहीं हल्का-सा 'गिल्ट' फील हुआ कि मैंने उसे छुआ ही क्यों? उस दु:ख को, जिसे उसने भीतर... इस कदर अंधेरे तहखानों में छिपाकर रखा था कि भीतर ही भीतर उसे दफन करने की कोशिश में उसका चेहरा प्लास्टर जड़ी किसी बिनपुती दीवार जैसा नीरस, जड़ और निर्भाव हो गया था।

और फिर अगले ही पल हल्की-सी खुशी भी हुई। इसलिए कि रो लेने के बाद अपराजिता के चेहरे पर काफी कुछ सहजता लौट आई थी। थोड़ी देर पहले का उसका बुरी तरह चीखना-चिल्लाना और ऐंठी हुई जुबान में किसी उन्मत्त की तरह जोर-जोर से भावावेश में बोलना अब थम-सा गया था।

इस समय कोई अपराजिता की बातें सुने, तो शायद ही उसे उसमें कोई असामान्यता नजर आएगी। लगेगा कि ये ऐसी लड़की की बातें है जो औरों से कुछ ज्यादा संवेदनशील है और किसी कदर समझदार भी। एक ऐसी लड़की, जो केवल खुद के बारे में ही नहीं, खुद के बाहर भी सोचती है।

अभी-अभी उसने किसी प्रसंग में हिंदुस्तानी मध्यवर्गीय समाज के बारे में एक तीखी टिप्पणी की है कि—''ऐसा बहुत कुछ है जो हम सभी एक-दूसरे से छिपाते हैं और जानते सभी हैं कि छिपाते हैं। मगर बदलता कोई नहीं। इसी 'हिप्पोक्रसी' और 'डुअल करेक्टर' ने मध्यवर्गीय समाज की बीमारी को बढ़ा दिया है और उसका रोग असाध्य होता जा रहा है। इनक्योरेबल!''

मुझे शक हुआ, कहीं यह लड़की मध्यवर्गीय समाज के बहाने अपनी बीमारी पर टिप्पणी तो नहीं कर रही। एक गहरी, बहुत ही गहरी सांकेतिक भाषा में। फिर लगा कि यह मेरा वहम है। पर उसकी बातें सुन-सुनकर यह जरूर लगता था कि उनके पीछे दु:ख का भीतर ही भीतर बन रहा बहुत बड़ा दबाव है।

उफ! कितना कुछ सहा होगा इस लड़की ने। और उस सहने ने ही उसे ऐसा

बनाया—घोर उन्मादी, अवसादग्रस्त, सिनिक और अर्धविक्षिप्त!

चलिए, थोड़ा पीछे लौट चलते हैं।

शायद मुझे शुरू से ही कहानी सुनानी चाहिए थी।

सर्दियों का एक दिन। शायद फरवरी के अंत की बात हो। बड़ी सुबह मैं और सुनीता घूमने निकले हैं।

अचानक कुछ अजीब-सी आवाजों ने हमें चौंकाया। लग रहा था, कोई किसी को बेरहमी से पीट रहा है... नहीं, कई लोग किसी को पीट रहे हैं।

तेजी से हम वहां पहुंचे, तो पहले एक रिक्शा नजर आया, जिस पर लोहे के कुछ पाइप आड़े रखे हुए थे। फिर एक डरा हुआ, फटेहाल, दुबला-पतला रिक्शावाला दिखाई दिया, जिसे गालियां देते हुए, लातों और घूसों से पीटा जा रहा था... घोर जंगलीपन से।

फिर अचानक ही उस दृश्य में एक फौजी जैसे लगनेवाले चुस्त-दुरुस्त, संभ्रांत बुजुर्ग व्यक्ति का हस्तक्षेप हुआ, जो आगे बढ़कर रिक्शेवाले के साथ खड़ा हो गया। उसे पहले भी कई बार सुबह-शाम घूमते देखा था, पर आज... इस रूप में?

"क्यों मार रहे हो भाई?... हद है...! स्टुपिड, जंगली...! एक गरीब को मारते शर्म नहीं आती... खबरदार जो हाथ लगाया।" बंदूक की तरह सीधे तने हुए उस संभ्रांत व्यक्ति की आवाज सुनाई दी।

मगर वे लोग भी कम नहीं थे। खासे खाए-पीए, अघाए लगते थे। उन लोगों ने एक भयानक चमक के साथ एक-दूसरे की आंखों में देखा और अचानक रिक्शेवाले को छोड़कर अब फौजी जैसे दिखते, मजबूत काठी के उस संभ्रांत व्यक्ति को पकड़ लिया था।

"तू साले कौन होता है बीच में बोलनेवाला? एक झापड़ पड़ेगा... समझे!"

मैं थरथरा गया। ऐसे शरीफ आदमी से भी ये शब्द बोले जा सकते हैं?

इस पर भी उस शरीफ आदमी ने अपना आपा नहीं खोया और बार-बार एक विनम्र दृढ़ता के साथ यही कहता रहा—"क्यों... मैंने क्या गलत कहा? इस गरीब आदमी को मारकर तुम्हें क्या मिलेगा? क्यों मार रहे हो इस बेचारे को? खुदा से डरो... खुदा से!"

"चल, अब तुझे देखते हैं... तू ज्यादा हमदर्द बनता है न!" कहते-कहते उन्होंने पास आकर उसे घेर लिया, जैसे अभी मारेंगे।

उस शरीफ आदमी को जैसे अब अपनी कमजोर स्थिति का भान हो चुका था। लेकिन फिर भी उस पर ज्यादा असर नहीं पड़ा।

"ठीक है, तुम मुझे मार लो, पर इसे छोड़ दो... याद रखो, गरीब के आंसुओं की मार बड़ी होती है। फिर इसने कोई जान-बूझकर तो तुम्हें मारा नहीं। चलते हुए रिक्शा में कोई पाइप तुम्हें छू गया होगा... यही न! मगर इसका यह मतलब तो नहीं

कि तुम इसकी जान ले लो।'' रोबदाब छोड़कर जैसे अब वह उन नादान छोकरों को समझाने की कोशिश कर रहा था।... आखिरी नैतिक कोशिश!

यही पल था, जब मैं और सुनीता वहां पहुंचे—''क्या बात है भाई? इन्हें क्यों मार रहे हो? इनका क्या स्वार्थ था? ये तो सिर्फ समझा रहे थे कि एक गरीब को मारकर तुम्हें क्या मिलेगा।''

इस पर उलटे वे बिफर गए। अब उनके निशाने की जद में हम आ गए।

''गरीब है तो क्या... एहसान है हमारे ऊपर कोई!... मारेगा हमें? बड़े दिमाग खराब हो गए हैं इन सालों के...!''

''भाई, जान के तो इसने मारा नहीं। गलती से लग गया, तो जान ले लोगे क्या इसकी? ये साहब तो यही समझा रहे थे।... इसमें गलत क्या है भाई!'' सुनीता ने समझाने की कोशिश की।

''जब आपको लगे, तब पता चले! चले आए जाने कहां के पागलखाने से।''

अब वे लोग आंखें लाल करके हमारी ओर मुड़े।

मैंने मि० आनंद से कहा—''आप जाइए... हम इनसे बात करते है।''

फिर तीन-चार लोग जो वहां दर्शक के रूप में उपस्थित हो गए थे, मि० आनंद को समझा-बुझाकर अपने साथ ले गए।

तब तक रिक्शावाला भी चुपके से निकल गया था।

उन हुड़दंगियों ने, हम पति-पत्नी पर एक अभद्र निगाह डाली और दो-एक बेहूदी गालियां बकने के बाद आगे चले गए।

हम मुड़े और घर जाते हुए देर तक मि० आनंद की चर्चा करते रहे। अपने से ज्यादा हमें मि० आनंद के अपमान की चिंता थी। किसी गरीब के पक्ष में ऐसा नैतिक साहस आजकल दिखाता ही कौन है!

यही मि० आनंद थे—आर०डी० आनंद यानी रामजी दास आनंद। अपराजिता के पिता। (हालांकि तब तक हम उनका नाम नहीं जानते थे!) लेकिन ठहरिए... अपराजिता की कथा तो थोड़ा ठहरकर चलेगी। अभी मि० आनंद से अगली मुलाकातों और घनिष्ठता की कथा पहले कह लेने दीजिए।

मि० आनंद कौन हैं, क्या हैं—इसका पता दो-तीन महीने बाद हमें लगा, जब एक दिन सड़क पर घूमते समय हमने उन्हें देखा और पुकार लिया। उन्होंने जरा हैरानी से हमें देखा, तो हमने कहा—''आपने उस दिन बहुत अच्छा काम किया कि एक गरीब रिक्शेवाले को बचा लिया!... वरना वे लोग तो उसे बुरी तरह मारने पर उतारू थे! आप ही की हिम्मत थी कि आप भिड़ गए, वरना गरीब की तरफदारी आज के जमाने में कौन करता है! गरीबी तो एक तरह से गाली ही है। आज का आदमी बेईमान से बेईमान बंदे को तो बर्दाश्त कर सकता है, पर गरीब को नहीं! गरीब से

सबको बदबू आती है।''

कुछ देर के लिए अचकचा कर उन्होंने हमें देखा, जैसे हल्की विस्मृति के धुंधलके से धीरे-धीरे उबर रहे हों! फिर एकाएक आंखों में चमक भरकर बोले— ''अच्छा... अच्छा! हां, आप लोग भी तो थे उस समय। अब मुझे याद आ गया... सब कुछ...''

फिर जैसे उन्हें शब्द न मिल पा रहे हों, भीतरी उत्तेजना में बहते हुए बोले— ''आपने तो... आपने तो एक ऐसा प्रसंग याद दिला दिया... कि क्या कहूं। वो दिन... वो दिन मेरे लिए भी कुछ अजीब ही था।''

लगा कि वह घटना एक बार फिर से उनकी आंखों के आगे घट रही है... और उसके तमाम विवरणों पर वे एक बार फिर से गौर कर रहे हैं...

''असल में... पता नहीं, आपने गौर किया कि नहीं, वे लोग पिये हुए थे... थोड़ी-सी अंदर पेट में पड़ी हुई थी, वही बुलवा रही थी उनसे! लेकिन चलिए, उनका अपना जीवन है, हमारा अपना। सवाल यह है कि वो अगर नही बदल सकते, तो हम क्यों बदलें? आखिर हमारे भी कुछ उसूल हैं! हैं कि नहीं?''

उसी दिन बातों-बातों में उनसे बड़े अनौपचारिक अंदाज में और बड़ी गर्मजोशी से परिचय हुआ। मालूम पड़ा कि वे कभी सरकार के स्टेटिस्टिक्स डिपार्टमेंट में बड़े अधिकारी थे और अब सेवामुक्त हैं। यह जानकर कि मैं दिल्ली के एक बड़े राष्ट्रीय अखबार में काम करता हूं, उन्होंने कई पत्रकारों के नाम गिनाए जो उनके परिचित थे। इन्हीं में एक सूरजमल भी थे, जो उनके अच्छे परिचित और पारिवारिक मित्र थे। मि० आनंद का जब जयपुर तबादला हुआ था, तब उनका मकान सूरजमल के मकान की बगल में ही था। तब से उनसे हुई घनिष्ठता अब तक चली आई थी... इस कदर कि उनका नाम लेते-लेते मि० आनंद आनंदित हो उठते थे।

चलते-चलते उन्होंने हमारे घर का नंबर पूछा और बड़े ही इत्मीनान से कहा, ''मैं आऊंगा कभी!''

फिर एक दिन मि० आनंद आए—अचानक ही! काफी विस्तार से और काफी गर्मजोशी से उनसे बातें हुईं और उस दिन उनके व्यक्तित्व के अनेक पन्ने खुले। कुछ वे भी जिनका हमें हल्का-सा अंदाजा तो था, पर...

बातों-बातों में उस रिक्शेवाले की चर्चा फिर से छिड़ गई, जिसे बचाने के चक्कर में उन्होंने खाए-पिए, अघाए, बदजुबान युवकों से पंगा लिया था। और जब हमने यह चर्चा की कि ''साहब, आज के वक्त में गरीब या कमजोर की बात कहनेवाला कौन है... सबको अपनी-अपनी पड़ी है!'' तो मि० आनंद एक क्षण के लिए कहीं खो गए। फिर धीरे से उन्होंने बताया कि यह सब उनके लिए इसलिए अप्रत्याशित नहीं है क्योंकि वह शुरू से महर्षि अरविंद के दर्शन से प्रभावित है और

यह मानते हैं कि इंसानियत की सेवा के द्वारा ही ईश्वर की सर्वोत्तम भक्ति हो सकती है।

"यह तो... यह तो ठीक वही बात है जो हम भी सोचते हैं।" मैंने उत्साह से बताया। और सचमुच उसी क्षण लगा, मि० आनंद को जानने की शुरुआत तो अब हुई है... हम अभी-अभी उन्हें समझ पाए हैं।

और तब एक भारी भरकम दु:ख की किताब के ऐसे पन्ने खुले, जिन्हें आदमी कभी-कभार ही, किन्हीं अपनों के आगे खोलता है। इसलिए कि जितने-जितने वे खुलते हैं, उतनी-उतनी ही उसकी आंखें खाली होती जाती है।

तब मालूम पड़ा कि मि० आनंद ने अपनी ईमानदारी के चलते, जीवन में काफी कुछ खोया, काफी कुछ बर्दाश्त किया है। और न सिर्फ उन्होंने, बल्कि उनके पूरे परिवार ने ही!

"और सच पूछिए तो, 'खोना' तो आसान लफ्ज है। वह खोना नही था... वह तो एक काली आंधी थी—बहुत विकराल काली आंधी, जो हमारा सब कुछ लील गई... हमारा सारा सुख... आई... आई कांट टैल यू!" मि० आनंद सिर पकड़कर बैठ गए... जैसे भीतर हो रहे विस्फोटों से उन्हें सिर फट जाने का खतरा हो!

"लेकिन क्यों...क्यों, कैसे?" उत्तेजना में न चाहते हुए भी मेरे मुंह से निकला। मुझे शुरू से लगता था, मि० आनंद बहुत-कुछ भीतर छिपाए बैठे हैं। कुछ न कुछ ऐसा घटा है इनके साथ कि...

और तब खुला 'महाभारत' का एक नया चैप्टर—इमरजेंसी के समय का!

पता चला कि इमरजेंसी मि० आनंद की यातनाओं का असली केंद्र है। इससे पहले उनका जीवन इतने अच्छे और संतुलित ढंग से चल रहा था कि उसकी स्मृति भी उन्हें डराती है।

"क्यों... इमरजेंसी क्यों...?" मैंने जैसे किसी यांत्रिक चिड़िया की तरह टिटकारते हुए पूछ लिया। पता नहीं, होश कहां और क्यों गुम हो गया था।

"असल में मनु जी... अब अपने बारे में ज्यादा कुछ कहना तो अच्छा नही लगता," मि० आनंद ने मेरी आंखों में झांकते हुए कहा—"बस इतना समझ लीजिए कि मैं एक सख्त अफसर माना जाता था। इमरजेंसी में मुझसे कहा गया कि मैं अपने अंडर में काम करनेवाले कुछ संदिग्ध कर्मचारियों की सी०आर० खराब कर दूं! 'पर क्यों... किसलिए? वे तो अपना काम बहुत अच्छी तरह कर रहे हैं।' मैंने जानना चाहा। तब मालूम पड़ा कि सी०आर० इसलिए खराब की जानी है, क्योंकि उनकी सहानुभूति कुछ तथाकथित राजनीतिक संगठनों के साथ है।

"मैंने बिगड़कर कहा, 'उनका क्या लिंक है... क्या उनकी विचारधारा है, यह आप जानें!... पर जहां तक काम का सवाल है, मुझे उनके काम से कोई शिकायत नहीं है। बल्कि वे मेहनती और ईमानदार लोग हैं, लिहाजा उनकी सी०आर० खराब

करना मेरे बस की बात नहीं है... मैं यह पाप नहीं करूंगा, हरगिज नहीं।''

कहते-कहते मि० आनंद आवेश के मारे कांपने लगे थे।

मैंने उनके कंधे पर हाथ रखा, मानो कहना चाहता होऊं—'मि० आनंद, आराम से... आहिस्ते से...!' पर कहा मुझसे एक शब्द भी नहीं गया।

मि० आनंद ने थोड़ा संभलने की कोशिश की, पर आवेश दबाने की कोशिश में उनकी आवाज थोड़ी लड़खड़ा गई। पर आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने खुद को साधा—''मैं बड़ा सख्त अफसर माना जाता था और वे लोग अच्छी तरह जानते थे कि मुझे झुकाया नहीं जा सकता! तब उन लोगों ने एक अलग रास्ता निकाला—दे दनादन तबादले... दे दनादन तबादले... साल में दो-दो, तीन-तीन तबादले। आप अंदाजा लगाइए। इसमें हमें तो जो परेशानी उठानी पड़ी, वह तो थी ही। पर बच्चों ने बहुत 'सफर' किया और उनका कैरियर तो एकदम चौपट हो गया। इसलिए कि एक जगह से दूसरी जगह आप जाते हैं, तो वहां पढ़ाई का अलग ही सिस्टम होता है। उसे सीखने-जानने में इतना वक्त लग जाता है कि ढंग से पढ़ाई हो ही नहीं पाती। और जब तक ठीक-ठाक सीख पाएं, तब तक फिर तबादला...

''मेरी बेटी तो—अब आपको क्या बताऊं, इसीलिए डिप्रेशन की शिकार हो गई। अब तो कहती है, जीने की इच्छा ही बाकी नहीं रही! बुरी तरह परेशान रहती है...!''

कहते-कहते मि० आनंद थोड़े असहज हो गए।

''कितने बड़े है आपके बच्चे...?''

पूछने पर पता चला कि लड़की अड़तीस की है, लड़का चौतीस का। दोनों में से किसी का विवाह नहीं हुआ। ''लड़की का हो नहीं सका... और अब लड़का कहता है, बहन का जब तक न हो, कैसे करूं?'' मि० आनंद पता नहीं बता रहे थे या बताते... बताते मुंह छिपा रहे थे।

''करते क्या हैं... कोई जॉब...?''

एक अप्रिय-सी चुप्पी। फिर उसे खुद ही तोड़ते हुए मि० आनंद ने बताया—''लड़के का प्रिंटिंग का काम है। लोगों से ऑर्डर लेता है... छपवाकर दे देता है दिल्ली से... खासकर स्क्रीन प्रिंटिंग का काम...। और लड़की...?''

मि० आनंद के मुंह से एक आह-सी निकल गई—''वैसे तो जीनियस है... पत्रकारिता में काफी काम किया है उसने... टीचिंग भी की है... कभी-कभी पेंटिंग्स वगैरह भी करती है... पर कोई गाइड करनेवाला नहीं है... तो कुछ दिन तो जमकर काम करती है, फिर अपने आप धीरे-धीरे छोड़ देती है। कहती है, आजकल इच्छा ही नहीं होती... हर चीज की इच्छा मर गई है...''

आखिरी वाक्य कहते-कहते मि० आनंद की आवाज ही नहीं, उनकी आंखों की चमक भी जैसे बुझ-सी गई थी। मेरे हाथों को झपटकर अपने सख्त हाथों में दबोचकर

बोले—"आप अगर उससे कुछ बात करके उसे गाइड कर सकें... उसमें लगकर कुछ काम करने की इच्छा जगा सकें तो बड़ी मेहरबानी होगी आपकी।"

बड़ी मुश्किल से वे अपने अनुरोध को गिड़गिड़ाहट में बदलने से बचाए हुए थे।

"और देखिए, मुझे तो इंट्यूशन हुआ है कि आपका मुझसे मिलना जरूर किसी अच्छे के लिए हुआ है। इसमें जरूर ईश्वर की ही कोई छिपी हुई इच्छा है! ईश्वर ने हमारे जीवन में आशा की कोई किरण भरने के लिए आपको हमारे पास भेजा है।"

मि० आनंद की आवाज फिर कंपकंपा गई।

कृतज्ञता! यह शायद कृतज्ञता जैसी ही कोई चीज थी, जिसकी वजह से, उनकी आंखें नीचे झुक गईं थीं।

"नही-नहीं, आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?... मैं तो एक मामूली आदमी हूं, बेहद मामूली! आप शायद मुझसे जरूरत से कुछ ज्यादा उम्मीद कर रहे हैं..."

उन्होंने आर्द्र आंखों से मुझे देखा। मेरे हाथों को फिर कसकर अपने हाथों में दबाया और बोले—"आप क्या हैं, यह आपको बताने की अब कोई जरूरत तो नही रह गई! दो-तीन मुलाकातों में ही मै अच्छी तरह पहचान गया हूं आपको! .. आपको हमारी मदद करनी ही होगी। आप समय निकालकर कभी हमारे घर आएं..."

उसके कुछ रोज बाद सुबह-सुबह मि० आनंद का फोन आया। उन्होंने पूछा कि दिल्ली में पत्रकारिता का कोर्स कहां से हो सकता है और क्या मेरी कहीं कोई जान-पहचान है...

महज 'किताबों' से दोस्ती रखनेवाले मेरे जैसे एकांतवासी आदमी की कही जान-पहचान होने का सवाल ही नहीं था। मैंने उन्हें बताया और वजह पूछी कि वे क्यों जानना चाहते है।

मालूम पड़ा कि उनकी बेटी अपराजिता पत्रकारिता में कोई कोर्स करना चाहती है। यह भी पता चला कि उसने कोटा से पत्रकारिता का डिप्लोमा करना चाहा था, पर बीमारी के कारण वह उसे पूरा नहीं कर पाई थी। उसकी रुचि पत्रकारिता में है, तो यह डिप्लोमा करने से उसे काफी मदद मिल जाएगी।

"अगर आपकी मदद से वह यह कोर्स कर ले तो उसमें काफी आत्मविश्वास आ जाएगा। हो सकता है, उसके मन पर निराशा का जो बोझ है, वह उतर जाए।... आप कृपया हमारे घर आएं कभी! मुझे लगता है, मुझे आपकी जरूरत है! प्लीज... सर!" अपने अनुरोध का स्वर गाढ़ा करते हुए उन्होंने फोन रखा।

उसी शाम को मैं और सुनीता मि० आनंद का पता पूछते-पूछते उनके घर पहुंचे। उस समय मि० आनंद घर पर नहीं थे। उनकी पत्नी और बेटे से मुलाकात हुई... एक झिझकती हुई मुलाकात।

मैंने परिचय दिया तो उन्होंने कहा—'बैठिए... बैठिए... वे अभी दस-पंद्रह

मिनट में आते ही होंगे।''

मि० आनंद की पत्नी और बेटे से बात हो रही थी। शायद मि० आनंद ने भी उन्हें कुछ बताया होगा। अब वे थोड़ा-थोड़ा हमें 'पहचान' रहे थे। थोड़ी देर में एक दुबली-सी लड़की भी आ गई... और एक डरी हुई 'नमस्ते' के बाद बातचीत में शामिल हो गई। अनुमान लगाना मुश्किल नहीं था कि यही अपराजिता है।

उसके चेहरे पर स्थायी रूप से रहनेवाला एक आहत निराशा का भाव हमें सबसे पहले दिखा। और अंत तक यही हम पर हावी रहा।

यूं उसमें और कुछ था भी क्या! दुबला, सांवला शरीर, चेहरे पर हल्की विद्रूपता। एक चिड़चिड़ापन भी, जो उसके स्वभाव का अनिवार्य हिस्सा बन चुका था।

''मैं प्रभात टाइम्स में हूं...'' मैंने झिझकते हुए परिचय दिया। फिर पूछ लिया—''क्या आप ही पत्रकारिता में कोर्स करना चाहती हैं?''

''देखिए सोचती तो हूं... फिर आप सजेस्ट कीजिए कुछ!... आपका गाइडेंस मेरे लिए उपयोगी होगा... यों मैंने यहां के लोकल पेपर 'शेरे हरियाणा' का संपादन किया है कुछ समय तक...'' कुछ टूटी-फूटी, आत्मविश्वासविहीन बातें।

''वैसे क्या लिखती है आप—खासकर...?''

''सभी कुछ लिख लेती हूं—रिपोर्टिंग... लेख, फीचर, कविताएं... कहानियां... जब भी जिस चीज की जरूरत हो!''

''अरे...!'' मेरे मुंह से निकला—''ऐसा...।''

''अब जैसे आप 'प्रभात टाइम्स' की बाल पत्रिका 'नवप्रभात' में काम करते है तो आप अगर यह कहें कि हमारा पन्ना खाली है... आप जल्दी से हमारे लिए कविता या लेख या कहानी लिखकर दे दें... तो मै लिख सकती हूं। इस मामले में काफी अनुभव है मुझे...''

फिर पता चला कि लोकल पेपर 'शेरे हरियाणा' के अलावा उसने दिल्ली के एक अखबार 'जनमार्ग' मे स्ट्रिंगर का काम भी किया है, लंबे अरसे तक...।

''और वहां का अनुभव...?''

''पचास-सौ रुपए रोज के मिल जाते थे और बदले में मुझे जाने कहां-कहां तक दौड़ना पड़ता था। आज फलां से इंटरव्यू, कल ढिकां से... फिर रिपोर्टिंग... कही क्राइम हुआ है या कोई और घटना... तो रिपोर्टर तो आराम से दफ्तर में बैठे हैं, हमें भेज दिया जाता था कि जाकर मौके पर लोगों से बात करके आओ!... हम जाने कहां-कहां भागते फिरते थे।... शाम को रिपोर्ट लेकर आते तो थोड़ा आगा-पीछा बदलकर और बीच-बीच में कुछ शब्द अपने डालकर, वे लोग छाप लेते थे अपने नाम से। हमें पचास-साठ रुपए दे दिए जाते थे। कभी-कभी सौ रुपए भी... कुछ तय नहीं था और उन्हीं की मर्जी से चलता था सब कुछ। पर नाम हमारा कभी नहीं जाता था। किसी को नहीं मालूम पड़ता था... कि इसके पीछे असली मेहनत किसकी है?

किसने पसीना बहाया... सुबह से शाम तक जूतियां चटकाई, बसों में धक्के खाए... कोई हिसाब नहीं!''

''तो क्या 'आई कार्ड' भी मिलता था आप लोगों को?''

''हां, 'आई कार्ड' भी मिलता था हम लोगों को... पर शाम को जब हम जाते थे, तो रिपोर्ट के साथ-साथ 'आई कार्ड' भी रखवा लेते थे...!''

यह पत्रकारिता जगत के 'भीतरी अंधेरे' की एक बिल्कुल नई खबर थी मेरे लिए।

अपराजिता टूटे-टूटे स्वर मे बता रही थी—''उन दिनो जाने किन-किन लोगो से मै जाकर मिली... जाने किस-किस से मुलाकात हुई।... बसो मे बैठकर सारे दिन हम धक्के खाते थे—आज यहां, कल वहां, परसो कही और... बस, मकसद यही होता था कि जिस काम से निकले है, किसी भी तरह वह पूरा होना है... काम किए बगैर लौटना नहीं है...

''ऐसे ही एक दिन यकीन करेंगे आप—कि मैं तिहाड़ जेल पहुंच गई किरण बेदी से मिलने!... कोई पहले से अपाइंटमेंट तो लिया नही था, बस, सीधे ही पहुंच गई... साथ में दो-एक और भी स्ट्रिंगर थे। हमसे कहा गया था कि किरण बेदी से तिहाड़ जेल के बारे मे बात करके आनी है...

''अब मैं गई तो बाहर जो सिपाही था, उसने घूरकर देखा कि क्या बात है? मै थोड़ा सहम गई। फिर हिम्मत करके मैंने कहा कि किरण बेदी से मिलना है। तो उसने घुड़ककर कहा, 'क्यों, तुम लोग क्या चोर हो?... क्यों भीतर आना चाहते हो...?' इस पर और लोग तो डर गए... पर मैंने कहा, 'मुझे तो मिलना है किरण बेदी से... हर हाल मे! अखबार में लिखना है उनसे बात करके! तुम्हे जो करना है, कर लो।'

''अब सिपाही पुकारता रह गया और मै यह जा, वह जा। सीधे किरण बेदी के सामने। अब पता नहीं, आप उनसे मिले है या नहीं, लेडी वो ग्रेट है... तो अंकल, उन्होंने मुझे देखा तो पूछा, 'अरे, तुम तो छोटी-सी हो बेटी!... तुम कैसे आ गई यहां! किसी ने रोका नहीं?'

''फिर बोलीं—'ठीक है, मैं पंद्रह मिनट तुमसे बात कर सकती हूं। फिर मुझे जाना है कहीं।'

''मैंने कहा—'ठीक है, पंद्रह मिनट ही काफी हैं मेरे लिए...

''और फिर जब मैं बात करके आई, तो जितने और स्ट्रिंगर थे मेरे साथ के, वे तो अब हैरान-परेशान कि साहब, बड़ा करेज है लड़की में तो!... और यह तो अंकल, कोई पंद्रह साल पहले की बात है, तब मै थी ही क्या! कम उमर की जरा-सी छोकरी... पर हिम्मत खूब थी मुझमे! हाल यह था कि कोई बड़े से बड़ा काम दे दो, मुश्किल से मुश्किल काम... पर मेरे मुंह से 'न' नही निकलेगी।... काम हर हाल

में पूरा करके लाऊंगी!

"हालांकि इतने बरस हो गए अब तो... सब कुछ बदल गया तब से! न वे लोग रहे, न समय...! जो सज्जन मुझे जानते थे और काम देते थे—कोई मिश्रा जी करके थे, भले आदमी थे—पिता की तरह। वे नौकरी छोड़कर चले गए। उनकी जगह जो नाटा-सा, काला-सा लड़का आया, शराबी आंखोंवाला, उसे सेक्स चाहिए था, गरम मांस—वह मेरे पास था नहीं। उसने एक वैसी ही लड़की को टुकड़े डालने शुरू किए। शादी का लालच दिया, काम दिया... बाद में सुना, वह तबाह हुई।... खैर छोड़िए, अब इसकी चर्चा से क्या फायदा? अब तो कोई जानता भी नहीं होगा कि कौन थी यह लड़की अपराजिता आनंद नाम की... क्या काम किया इसने? क्या बेताबी थी उसमें...

"यकीन करेंगे अंकल, ढेरों अवार्ड मिले थे मुझे... ढेरों फोटोग्राफ थे, पता नही किस-किस लीडर के साथ... अब तो सब इधर-उधर हो गए!... बहुत-से फाड़-फूड़ दिए मैंने... कि क्या होगा... संभालकर, जब कुछ बचा ही नही अब! सच तो यह है अंकल कि जिनका अतीत बर्बाद हो जाता है, उनका वर्तमान भी अक्सर धोखा देता है। ऐसा न होता, तो क्या यह हो सकता था कि तीन-चार सौ रुपल्ली की स्कूली नौकरी के लिए भी मुझे धक्के खाने पड़ते! एक जगह अपाइंटमेंट मिला, पर महीने, डेढ़ महीने में बाहर... हेडमिस्ट्रेस जितना झुकाना चाहती थी, उतना झुकने को मैं तैयार नहीं थी। ट्यूशन खोजे, मगर वहां भी यही चक्कर। जो टीचर कही पढ़ा रही हो, सब उसी के पास जाते हैं।... यो मैं एक बार टूटी तो फिर टूटती ही चली गई..."

लगा, जैसे वह खुद से ही संवाद कर रही हो।

"जरा रुकिएगा... अंकल!"

अचानक जाने क्या हुआ कि वह झटके से उठ खड़ी हुई और लगभग दौड़ती हुई साथवाले कमरे मे चली गई।

लौटी तो उसके हाथ मे फ्रेम में मढ़ा हुआ एक बड़ा-सा फोटोग्राफ था।

काफी धुंधले हो चुके उस फोटोग्राफ में तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह कुछ पत्रकारों से बात कर रहे थे... और उसमें उनके सबसे निकट थी अपराजिता आनंद। आज से काफी अलग-सी शक्ल... लेकिन पहचान में आ जाती थी।

यह एक ऐसी अपराजिता आनंद थी, जिसके चेहरे पर उखड़ा-उखड़ापन या कसैली चिड़चिड़ाहट नहीं, गहरा आत्मविश्वास था। ज्ञानी जैलसिंह का दायां हाथ अपराजिता के सिर पर था, जैसे उस हिम्मती लड़की को प्यार से शाबाशी दे रहे हो!

हमें गौर से उस चित्र को देखते देखकर अपराजिता के कलेजे में जैसे कोई दर्द की लकीर-सी खिंच गई। तड़पकर बोली—"अब इस सबको याद करने से फायदा?... पता नहीं क्यों मैं आपको बता रही हूं?... वरना मैं तो अब किसी से यह सब चर्चा ही नहीं करती।... और फिर यही सब क्यों? इतने सर्टीफिकेट थे मेरे पास डिबेट के...

मैं इतनी अच्छी डिबेटर थी कि आपसे क्या कहूं! कोई पंद्रह-बीस शील्डें तो जीती होंगी! और जाने कितनी कविताएं मैंने लिखीं, कहानियां लिखीं, लेख लिखे... उनमें से कुछ भी बचाकर नहीं रखा।... एक दिन जरा गुस्से में थी तो सब कुछ फाड़-फाड़कर जला दिया... कि न ये चीजें आंख के आगे रहेंगी और न मुझे दु:ख होगा।''

जैसे कोई फिट पड़ा हो उसे। उसकी आंखों की रंगत मुझे कुछ बदलती हुई-सी लगी। फिर कोशिश करके उसने खुद को साधा—''आप ही बताइए अंकल! क्या मैंने गलत किया?... कब तक ढोती रहूं इन सबको—सर्टीफिकेट, फोटो और यादें जमाने-भर की कि हम भी कभी कुछ थे... और बीमारी ने तोड़ न दिया होता तो जरूर कुछ न कुछ बड़ा काम कर सकते थे।... इस सबसे क्या फर्क पड़ता है! जो नही हुए, सो नहीं हुए!... और अब तो दुनिया जानती है कि यह लड़की पागल है। अड़ोस-पड़ोस में सबको मालूम है... फिर किसे मेरी कहानी पर यकीन आएगा?... असलियत तो सबको मालूम ही है... और जो है, सो है, वो अब बदल नही सकती। भले ही... भले ही मेरे पापा सबके आगे मेरी झूठी तारीफ करते रहें कि मेरी बेटी ये है, मेरी बेटी वो है... मेरी बेटी जहीन है, जर्नलिस्ट है, डिबेटर है... सारी दुनिया से अलग है!... देख लो आप अपनी आंख से, कैसी है इनकी बेटी!... अब क्या बचा है मुझमें? एक पागल, सिर्री-सी लड़की हूं—न जीती, न मरती! न जिंदों में मेरी शुमार है, न मुर्दों में!... यूं भी अब अड़तीस की तो हो गई! अब क्या बाकी रहा?... शादी तो अब हो नहीं सकती।... अब कौन करेगा मुझसे शादी?... कौन ऐसा अभागा होगा पृथ्वी पर जो मुझे अपना साथी बनाना पसंद करे! अब तो बस, इसलिए जिए जाती हूं कि मर नहीं सकती, तो जितने दिन सांस है, जीना ही है...

''यों तो भाई, पिता है, मां है... सब अच्छे हैं। बुरा तो कोई नहीं। पर सबकी अपनी लाइफ है... अपने-अपने सुख-दु:ख हैं, पर मेरा तो कोई नही है... मै तो ऐसी अभागिन हूं जो पता नहीं जिंदा ही किसलिए हूं। मुझे तो पत्थर गले में बांधकर डूब जाना चाहिए।''

और फिर फटी-फटी-सी आंखों से मुझे देखते हुए, अजीब-सी आवाज मे उसने कहा—''आप यकीन नहीं करेंगे, मरने की कई कोशिशें कर चुकी हूं, पर... मेरा भाग्य ही बुरा है जो अभी तक जिंदा हूं... किसी को क्या दोष दूं?''

कहते-कहते धरती और आकाश को भेदनेवाले एक घनघोर चीत्कार के साथ वह गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी!

किस तरह मुश्किल से उसे संभाला गया... कैसे फिर से हम उसे 'सम' पर लाए, यह चर्चा फिलहाल रहने ही दूं।

पर हां, थोड़ी ही देर में वह प्रकृतिस्थ हुई... और जैसे भीतर का काफी ताप और गुबार निकल गया हो, सहज होकर धीरे-धीरे कुछ सोचती हुई-सी बात करने

लगी।

अचानक मेरे मन में एक विचार कौंधा। मैंने उसे सुझाव दिया—"तुम अपने जीवन की पूरी कहानी लिखो। चाहो तो आत्मकथा के रूप में या फिर उपन्यास के रूप में! उससे मुझे लगता है, तुम्हें भीतर से बल मिलेगा। तुम्हारी उलझनें भी दूर होंगी। चीजें कुछ साफ-साफ नजर आयेंगी।... और जब भी तुम लिख लो, मुझे बताना। मैं कोशिश कर सकता हूं कि वह कहीं छप जाए! उसकी भूमिका के रूप में, आज तुमसे जो बातें हुई हैं, उन्हें मैं लिखूंगा, ताकि लोग जानें कि अपराजिता कहां से उबरकर कहां आ गई! यूं दुनिया में कोई भी अपराजिता कभी हारती नहीं है। उसे जीना ही होगा, क्योंकि वह अपराजिता है... अपराजिता!"

हम उठने लगे तो अपराजिता ने अपनी डायरी उठाई और दो पंक्तियां लिखकर मेरे आगे रख दी—'मेरे घर आज आए है पाहुन! हे ईश्वर, इन पर अपना आशीर्वाद का हाथ रखना... दया रखना!'

और मैंने मुस्कराकर पनीली आंखों से देखा, तो वह झट कटे हुए पेड़ की तरह मेरे पैरों पर गिर पड़ी! मैंने हौले से उसे उठाकर उसके सिर पर हाथ रखा... फिर वह सुनीता के कंधे से लगकर हिलग-हिलगकर रोने लगी।

जब हम लोग चलने के लिए उठ खड़े हुए, तो शायद सभी की आंखें छलछला रही थीं।

चलते-चलते मैंने पीछे मुड़कर देखा—अपराजिता की आंखें हम पर टिकी हुई थीं। एकदम निर्मल दृष्टि... जिसमें कहीं कोई उन्माद का रंग नही था।

उसके बाद दो-एक बार मि० आनंद मिले।

"अपराजिता ने लिखना शुरू किया या नही?" उत्सुकता से मैंने पूछा।

उन्होंने कोई जवाब नही दिया। .

तो क्या वह रोशनी जो उस दिन नजर आई थी अपराजिता की आंखों में, वह सिर्फ एक अंधी रोशनी साबित हुई?

मैं ठीक-ठीक कुछ भी कह नहीं सकता। और जाकर अपराजिता से पूछूं, यह साहस भी आज तक मैं नहीं कर पाया। क्या इसलिए कि अपराजिता की आंखों से अब मुझे डर लगने लगा है? या...

□

सांझ की धूप का टुकड़ा

निर्मला सिंह

लेकिन प्रो० पवन को अपने कमरे में गरिमा भाभी की सिसकियों, रोने की आवाजें सुनाई दे रही थीं। उनकी आंसुओं में डूबी आंखें चैन से सोने नहीं दे रही थीं। 'भाई साहब, अब मैं क्या करूं? न जाने कब से इंग्लैंड की धरती पर गमों की चादर ओढ़े मैं चुपचाप पड़ी हूं, एक अर्धजीवित लाश! बच्चों के कारण तलाक भी नहीं लिया और बच्चा भी छोड़ गया। हर पल मानो तलवार की नोंक पर जिंदगी चल रही है।'

टन्...टन्...टन्! काफी देर तक फोन की घंटी बजने के बाद डॉ० गौरव ने उठाया, ''हैलो...हैलो...''

''अबे...पहचान, मैं कौन बोल रहा हूं?'' आधा घंटा पूर्व ही भारत से इंग्लैड आये प्रो० पवन ने कहा।

''नहीं, आवाज पहचान में नहीं आ रही।''

''क्यों बे, सब-कुछ भूल गया! ऐसा रंग गया यहां की आबोहवा में, अबे...मै बोल रहा हूं तेरा मेडिकल कॉलेज का दोस्त—प्रोफेसर पवन शर्मा।''

टेलीफोन पकड़े हुए ही उछल-सा पड़ा गौरव! ''अरे वाह! पवन...तू कब आया...कहां ठहरा है?''

''इतना मत घबड़ा। मैं हडर्स फील्ड में हूं, अपने बेटे के पास...। उसी बेटे के पास, जो दो साल पहले तेरे पास आया था तेरे घर।''

''हां, तेरा बेटा नितेश और उसकी वाइफ रीना—दोनों आये थे...हम दोनों भी

उनके घर गये थे। लेकिन तब वह लीड्स में थे। हडर्स फील्ड में कब आये है? कहां है उनका घर?''

''यही छः महीने पहले आये है, अपना घर खरीद लिया है।''

''फिर क्या है—झट् से नितेश के घर का पता बता दे। मै दूर नहीं हूं। पास ही है बैटले। कल हॉस्पिटल से फ्री होकर आऊंगा। भाभी जी के हाथों का खाना भी खाऊंगा।''

''तो एड्रेस सुन—53 ग्लैन ईग्ल्स वे, फिक्स बाई, हडर्स फील्ड...''

''अरे..उधर शैफर्ड आर्म्स पब की ओर का मुझे रास्ता पता है। मेरी बेटी की ससुराल भी वहीं है। उधर आता-जाता रहता हूं।''

''तो कल दोपहर का पक्का है?''

''हां यार, डैफिनिट।''

पवन खाना खाते समय भी अपने दोस्त गौरव की ही बातें करता रहा—'बड़ा प्यारा है गौरव, वह तो डॉक्टर है ही, उसकी वाइफ भी डॉक्टर है...''

''डैडी, अंकल कितने वर्षो से इंग्लैड में रह रहे है?''

''उन्हे बेटा, पच्चीस साल तो हो ही गये होंगे शायद।''

''डैडी... पता नही यहां आकर वह आपको भूल न गये हों? क्योंकि बहुत ही ज्यादा बिजी लाइफ है यहां पर।''

''हां, हम लोगों ने खत-वत तो लिखे ही नही है। बस पुरानी यादें ही धरोहर के रूप में संजोई हुई है।''

बाप-बेटा बातें कर रहे थे और मेडिकल कॉलेज के डॉक्टर प्रो० पवन शर्मा की पत्नी मारुति उनकी बातें सुन रही थी।

बाहर सूर्य अपनी किरणों की चादर समेट, धीरे-धीरे निद्रा की गोद में जाने की तैयारी कर रहा था। शीतल हवा, पेड़-पौधों का आलिगन करती हुई गुनगुना रही थी। इंग्लैंड की सड़कों की सफाई, गाड़ियों का बिना हॉर्न के चलना, एक भी व्यक्ति का किसी मोटर-वे पर पैदल न चलना, जगह-जगह सड़कों पर टेलीफोन बूथों और कैमरों का होना आदि बातों से वह चौक-से गये थे। बार-बार उनके मुंह से एक ही वाक्य निकल रहा था, 'बेटा, बहुत अच्छा लग रहा है इंग्लैंड। सब कुछ नया-नया-सा लग रहा है।'

''सच डैडी, एक बार यहां बस जाओ तो वापिस जाने को दिल नहीं करता।''

न जाने कितनी रात तक बाप-बेटे में बातें होतीं, वह तो मारुति ने आकर अधर बंद करवा दिए यह कहकर कि साढ़े ग्यारह बज गये है, अब तो सो जाओ।

सुबह उठते ही मारुति ने रसोई का सारा कार्यभार अपने ऊपर ले लिया। पहले दिन ही उसने बैड-टी बनाकर छः बजे बच्चों को जगाया, पति को जगाया। बेटा नितेश और बहू रीना तो केवल बिस्किट ही खाकर जाते थे, वैसे ही चले गये।

ब्रेकफास्ट करते समय पवन ने मारुति को याद दिलाई—"अरे, वह अपना पच्चीस वर्ष पुराना यार गौरव लंच पर आयेगा, शौकीन आदमी है, जरा अच्छा खाना बना लेना।"

"तुम चिंता न करो। लंच अच्छा ही बनेगा।"

ब्रेकफास्ट समाप्त करके प्रो० पवन और मारुति लॉन में चले गये। मंत्रमुग्ध होकर बाहर की ठंडी हवा फेफड़ों के अंदर भरते हुए इंग्लैंड की स्वर्णिम पहली सुबह का आनंद लेने लगे। मीठी-मीठी मस्त पवन, डहेलिया, गुलाब, स्वीट-पी, गैंदा, ग्लाईडिया आदि हंसते-महकते फूलों के साथ क्रीड़ा कर रही थी। "वाह! बड़ी अच्छी बगिया सजाई हुई है। कौन करता है ये सब?" मारुति ने पूछा।

"मैडम, कौन करता है...मैं मतलब नही समझा। अरे, कल ही तो नितेश कह रहा था, यहां सारा काम खुद ही करना पड़ता है।"

"तो क्या बागवानी भी...!"

"हां जी मैडम, और जो बर्तन रसोई में झूठे पड़े है, वह भी खुद ही साफ करने है।"

"तब तो कसम से, बहुत मेहनती हैं यहां के लोग।"

"वह तो हैं ही। तभी तो डेवेलप्ड है।"

सुबह की डगर पूरे दिन का तिहाई भाग नाप चुकी थी, सूर्य अपने हाथ-पांव पूरी तरह फैला चुका था। दरवाजे पर दस्तक हुई। प्रो० पवन ने खोला। आंखें मिली। पच्चीस वर्ष पुराना मित्र—लंबा, चौड़ा, सांवला, तीखे नैन-नक्शवाला गौरव अब पूरी तरह बदला-सा लग रहा था। देखकर विश्वास ही नही हो रहा था, यू०पी० के देहात का निवासी, अब पूरा अंग्रेज लग रहा था। मूंछे साफ हो गयी थीं, अब गंगा-यमुना का समतल मैदान-सा बन गया था। काली बूंटेदार टाई, आसमानी शर्ट में गौरव बहुत सुंदर, स्मार्ट लग रहे थे। उनकी प्रशंसा किये बिना पति-पत्नी न रह सके।

"यार गौरव...तू पहचान में ही नहीं आ रहा।"

"क्यों...मैं तो वैसा ही हूं।"

"नहीं यार, कर्मों का तो नहीं पता, पर शक्ल-सूरत तो बिल्कुल बदल गयी है।"

"हां यार! पच्चीस साल से ऊपर हो गये यहां रहते हुए। असर तो पड़ेगा ही।"

"पड़ेगा नहीं, पड़ गया है। और हां, भाभी...बच्चे कहां हैं? कितने बच्चे हैं?"

"दो हैं। एक बेटी तो स्विटजरलैंड में है। एक डॉक्टर के साथ शादी हो गयी है, खुद भी डॉक्टर है। और बेटा पढ़ रहा है...!" कहते ही डॉ० गौरव के चेहरे पर कुछ चिंता की रेखाएं अनजाने ही खिंच-सी गई।

चाय का घूंट भरते हुए गौरव ने पूछा—"यार, तुम्हारे कितने बच्चे हैं? कहां हैं...क्या कर रहे हैं?"

"मेरे तो दो पुत्र हैं—बड़ा बेटा-बहू डॉक्टर हैं, यहीं पर सैटिल हो गये हैं। छोटा

बेटा भी डॉक्टर है, बहू भी...वह दोनों लखनऊ में मेडिकल कॉलेज में हैं।''

''वाह....पूरी फैमिली ही डॉक्टर हो गयी, केवल मारुति भाभी को छोड़कर।''

''तेरी मारुति भाभी तो हम लोगों से कही ज्यादा बड़ी है। लेखिका है।''

''अच्छा...वाह भाभी वाह, आपने तो कमाल कर दिया। हम सब लोगों का नाम रोशन कर दिया। अच्छा पवन, तू तो रिटायर हो गया होगा?''

''हांऽऽ पेंशन मिलती है, फिर कुछ पी०पी० कर लेता हूं। वैसे तुझे तो पता है कि मैं कभी भी धन-दौलत के पीछे नहीं भागा और ईश्वर ने काम भी सारे ही पूरे कर दिए।''

एक ठंडी लंबी सांस खींचते हुए गौरव कहने लगा, ''बस यही तो भूल की मैंने और गरिमा ने, दोनों अंधाधुंध धन-दौलत के पीछे भागते रहे। भागते रहे। लेकिन मैंने अब सब कुछ छोड़ दिया है।''

''क्यों?''

''यार, बहुत पैसा कमा लिया है, एक कोठी है, लोड्स में भी एक मकान खरीदा हुआ है और फिश एंड चिप्स की एक शॉप किराये पर दी है। गरिमा भी कमाती है और मै भी। अब क्या करना है ज्यादा रुपयों का, और क्या लाभ है मेहनत करने का।'' कहते हुए डॉ० गौरव का आभामय चेहरा उदासीन-सा हो गया।

खाना समाप्त करके, वाश-बेसिन में हाथ धोते हुए गौरव बोले, ''हांऽऽ ठीक किया तूने...तेरी आत्मसंतुष्टि और सहनशीलता के कारण ही तेरे दोनों बच्चे खूब सफल हो गये। तुम लोग भी सुखी हो।''

''हांऽऽ सुखी तो है लेकिन तेरे-जैसे ठाट-बाट तो नही है...भई, मध्यमवर्ग के लोग हैं।'' गहरी भेदभरी निगाहों से डॉ० गौरव ने प्रो० पवन को देखा और चेहरे पर कृत्रिम मुस्कान को सजा लिया।

फिर दोनों मित्र अपने विद्यार्थी जीवन के प्रांगण में घूमते रहे, हंसते रहे, कभी-कभी वर्तमान के धरातल पर चलने लगते। उनकी बातों पर रोक तो मारुति ने आकर लगाई, जब चाय का प्याला दोनों के हाथों में पकड़ाया। चाय पीकर, बढ़िया भोजन और चाय के लिए मारुति एवं पवन को धन्यवाद देकर, अगले वीकेंड पर अपने घर वैटले में डिनर का निमंत्रण देकर डॉ० गौरव चल दिए। ...लेकिन पीछे छोड़ गए अपने जीवन के स्याह भाग की कुछ धुंध से आवृत्त परछाइयां!

उस दिन के बाद से डॉ० गौरव अपनी ड्यूटी साढ़े बारह बजे तक समाप्त करने के बाद आते, प्रो० पवन को अपने साथ ले जाते। कभी बैटले का अपना अस्पताल, कभी रायल इंफरमरी आफ हडर्सफील्ड, कभी लीड्स का सेंट जांस हॉस्पिटल, कभी लीड्स का पीज़ा हट, कभी हडर्सफील्ड का मैक्डोनल्ड, कभी वेकफील्ड का मुमताज रेस्टोरेंट, कभी कोई पब। इन स्थलों को दिखाकर वह प्रो० पवन के ही घर पर बीयर पीते, खाना खाते, फिर तीन बजे तक वापिस चले जाते।

अब काफी हद तक डॉ० गौरव प्रो० पवन के साथ खुल भी गये थे। लेकिन बातें करते-करते जब भी बेटे का जिक्र आता, वह उदास हो जाते। आंखों की गहराई बढ़ जाती और उनके होंठों तक दिल की बातें आते-आते, पलटकर भीतर चली जातीं।

शनिवार की उस शाम डॉ० गौरव अपने मित्र प्रो० पवन और मारुति भाभी को अपने महल-जैसे, छोटे-छोटे बूटोंवाले मैरून रंग के कालीन बिछे, इटली, फ्रांस, स्पेन, स्कॉटलैंड की वस्तुओं से सुसज्जित, कीमती पर्दों से अलंकृत दो ड्राइंग-रूमों, चार बड़े बैड-रूमोंवाले खूबसूरत घर में ले गये। खाना भी किसी फाइव स्टार होटल से कम अच्छा नही था। खूब बड़ा, हरी-भरी मखमली घास का, तीन ओर गुलाबों की क्यारियों से सीमाबद्ध लॉन था, उसी लॉन से जुड़ा एक तिकोना ग्लास रूम था जो विदेशों से आयात की गयी वस्तुओं से सजा था।

पवन ने कहा, ''यार गौरव, सच मे तू तो स्वर्ग मे जी रहा है। ऐसा घर तो अपने यहां करोड़पति का होगा। अच्छा, एक बात बता, क्या तू बहुत खुश है इन सबसे?'' अपना अंतिम पैग खत्म करके प्रो० पवन ने गिलास मेज पर रखा।

गौरव चुप रहे, कुछ बोले नहीं क्योंकि वह डिनर के बाद भी शराब पी रहे थे। उन्हें कुछ ज्यादा नशा हो गया था। जल्दी से शराब का दौर खत्म हो जाये, गरिमा इसीलिए स्वीट-डिश ले आई।

''गरिमा जी, ट्राईफिल पुडिंग बहुत ही ज्यादा टेस्टी बनी है।'' मारुति और प्रो० पवन ने कहा। गरिमा ने कहा—''थैंक यू वेरी मच।''

''थैंक यू!'' लड़खड़ाती आवाज मे गौरव भी बोले।

''अबे, तेरी तारीफ नही कर रहा हूं, गरिमा भाभी को कह रहा हूं कि खाना और स्वीट-डिश बहुत ही अच्छे बने है।''

''लेकिन तू तारीफ कर रहा था, मेरे घर की, और तूने पूछा था कि मै बहुत सुखी हूं? हां, तो सुन, मै सुखी हूं। बहुत सुखी हूं। खूब अच्छा खाता हूं...पहनता हूं। खूब ऐश करता हूं। लेकिन...''

''बहुत अच्छा है, यार! सुनकर मन शांत हो गया।''

''हांऽऽ, मै बहुत सुखी हूं, बहुत-बहुत...लेकिन।''

लगता था घड़ी की सुई 'लेकिन' पर अटक-सी गई।

''गरिमा जी, यह 'लेकिन'...क्या कह रहा है?''

''कुछ नहीं भाई साहब! यों ही ज्यादा पीने के बाद बहक जाते हैं।''

''नहीं भाभी ...यह कुछ कहना चाहता है...देखिए—इसकी आंखें भी गीली हो गयी हैं!''

''आप चिंता न करें, सब ठीक हो जायेगा। इन्होंने ज्यादा पी ली है।'' अपनी गीली आंखें साड़ी के पल्लू से पोंछती हुई गरिमा बोली।

प्रो० पवन की सहायता से डॉ० गौरव को बेडरूम तक पहुंचा दिया गया। उनके जाने के बाद भी शब्दों की दर्दनाक छाया चारों ओर फैली रही। स्थितियां कह रही थीं कि वह कहीं आहत है। एक पल में ही महल-जैसी कोठी में बिखरी हुई स्वर्ण किरणें सिमटकर मुट्ठीभर रह गयी। रोशनियों के बीच अंधेरों के काले-स्याह धब्बे तैरने लगे।

प्रो० पवन उन स्याह धब्बों का भेद जानने के लिए ड्राइंगरूम के कोने में कछुए की भांति सिमटी बैठी गरिमा जी से पूछने लगे—''यह क्या कह रहा था...क्या बात है? कई बार बीच-बीच में खो जाता है...परंतु बताता कुछ नहीं है। भाभी जी, सच बताइये, क्या बात है?''

गरिमा के अंतर्मन में दु:ख, पीड़ा, विषाद की सैकड़ों अंत:सलिलाएं बह रही थीं। कहीं भी धरती पर दया, सहायता, स्नेह, सहानुभूति की दरार दीखे तो वह बाहर निकल पड़े, लेकिन विदेश में उसे अब तक दरार तो क्या, छेद तक नही मिला। आज पहली बार अवसर आया है तो वह उसे खोना नही चाहती है।

प्रो० पवन की बातों से गरिमा को लगा, अब तो सब कुछ चर्र-चर्र करके टूट रहा है। धन-दौलत-शान की झूठी इमारत तो रेत पर खड़ी है, उसे तो भर-भराकर ढहना ही है तो ढहने दो...

और वह सिसकती हुई कहने लगी—''भैया, न जाने कितने सालों से अपमान और दु:ख की आरी मुझे चीर रही है। इनकी शराब की लत ने मुझे अंदर तक लहूलुहान कर दिया है...आपने देखा, यह नाटक हर दिन होता है। मै क्या करूं...कहां जाऊं...अब तो पानी सिर के ऊपर से बह रहा है।''

गरिमा फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी चुप्पी और सहनशीलता का बांध जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। पीड़ा के पल रेत के कणों-से बिखर रहे थे।

प्रो० पवन और मारुति दोनों ने गरिमा से फिर पूछा—''भाभी जी, जब तक आप चोट को दिखायेंगी नहीं...मरहम या उपचार कैसे हो सकता है? आपका बेटा कहां है जो पढ़ रहा है? वह दिखाई ही नहीं दिया। और यह बेटे की बात छिड़ते ही उदासीन हो जाता है।''

''बस्स, यही दु:ख का कारण है कि हमारा बेटा हमें छोड़कर भाग गया है।''

''क्या...क्या कहा...? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!''

''भाई साहब, मै रत्तीभर भी झूठ नहीं कह रही हूं।''

''सब सुख उपलब्ध हैं तो बेटा भागा क्यों?''

''हम दोनों की लापरवाही और धन-लोलुपता के कारण। बेटा जब से गया है, यह बहुत शराब पीने लगे हैं।''

''वह कैसे... मैं समझा नहीं?''

''इंग्लैड में आकर हम लोगों के पास ज्यों-ज्यों धन बढ़ता गया, इनकी शराब भी बढ़ती गयी। ये लोकम करते थे, अपनी जी०पी० करते थे और एन०एच०एस०

के अंतर्गत बैटले के अस्पताल में ऑपरेशन भी करते थे। मैं भी घंटों घर से बाहर रहकर व्यस्त रहती थी, गायनाकालौजिस्ट के नाते ऑपरेशन भी करने होते थे। बस्स, फिर क्या था! हमारे बच्चे हमसे छूटते चले गये और हम लोग धनी वर्ग की श्रेणी में सम्मिलित हो गये।''

''यह तो बहुत गलत किया गरिमा जी आपने।'' मारुति ने टोका।

''मारुति बहन, बच्चों को जो प्यार-मुहब्बत, ममता की शीतल छांव-सा समय हमें देना था, वह धन की बांहो में सिमट गया। परिणामस्वरूप बच्चे अनुशासन से बाहर हो गये। बड़ा बेटा हमसे इतना दूर हो गया कि अठारह वर्ष का होने पर एक लड़की से प्यार करने लगा, जो उस समय एम०बी०बी०एस० कर रही थी। हम लोगों को पता ही नहीं चला, और एक दिन वह लड़की हमारे लड़के को भगाकर अमेरिका ले गई। उसके बाद से हम दोनों के झगड़े और बढ़ गये। वह तो शुक्र है कि बेटी एम०बी०बी०एस० मे चुन ली गई थी और पढ़ रही थी। कई वर्षो तक बेटे को खोजा, मिला नहीं। अभी पारसाल किसी के बताने पर यह उससे न्यूयार्क मिलने गये, लेकिन उसने घर वापस आने से साफ इंकार कर दिया। कहता है, तुम दोनों मुझे प्यार नही करते। आपस मे झगड़ा ही करते रहते हो।''

''गरिमा जी, यह तो बहुत ही बुरा हुआ।''

''क्या करूं भाई साहब, अब तो लगभग हर रोज ही यह नाटक होता है। कभी किसी होटल मे, कभी किसी मित्र के घर यह आउट हो जाते है...फोन आता है, तब मै कार लेकर लिवाने जाती हूं। भाई साहब, हमारे पास सब कुछ है, सिवाय सुख-शांति के। इन्हें जब-जब शराब पीने से रोका, घर में तूफान मचा है और जब से बेटा चला गया है, घर तो नर्क हो गया है।''

गरिमा की बातें सुनकर पवन और मारुति को गहरा धक्का-सा लगा। उन्होंने कभी सोचा भी न था कि इंग्लैंड की उन्मुक्त सभ्यता, मित्र की गृहस्थी को जलाकर राख कर देगी! मेरा दोस्त और भाभी अपने अहं की रस्सी में जकड़े हुए, रुपयों की खनखनाहट में वात्सल्य की आवाज को नहीं सुनेंगे।

''क्यों भाई साहब, कहां खो गये आप?''

''कुछ नहीं, आप लोगों के बारे मे ही सोच रहा था।''

''सोचना छोड़िये। अब तो रात के साढ़े ग्यारह बज गये हैं। चलिए मैं आप लोगों को घर छोड़ आऊं।''

''अच्छा, चलिए।'' कहकर प्रो० पवन, मारुति को साथ लेकर गरिमा की कार में बैठ गये।

रात का समय। सड़क सुनसान थी। हवा भी जोर की चल रही थी। सूर्य पश्चिम दिशा की बांहों में सिमट चुका था। चांदनी ता...ता...थैय्या का नृत्य सुनसान सड़क, चंचल, मस्त पौधों की देह पर कर रही थी। लेकिन गरिमा के अंतस में घना अंधेरा

फन फैलाये फुंफकार रहा था। केंचुए के माफिक अपने पति के लिजलिजे शब्द उसके मस्तिष्क में रेंग रहे थे—'गरिमा, तुम्हारे कारण मेरे बेटे ने घर छोड़ा। मुझे तो रुपये कमाने के लिए काम करना ही था। लेकिन तुम तो मुझसे भी ज्यादा बाहर रहती थीं...रुपयों की मृगतृष्णा, नाम की भूख के कारण तुमने बेटे को लापरवाही से पाला...!'

जैसे जलते तवे पर पांव पड़ने से बालक चीखता है, गरिमा ने भी शोर मचाया था—'और तुम भी धन-दौलत को सृष्टि का समूचा सुख समझकर समेटते रहे। अब सब कुछ समाप्त हो गया है तब चिल्लाते हो, लड़ते-झगड़ते हो, शराब के नशे में चूर रहते हो।'

'चुप भी करोगी या बकबक करती रहोगी...शट अप!' गौरव उस समय हाथ ऊपर उठाकर थप्पड़ भी मारने लगा था, 'तुम...तुम पत्थर हो, एकदम संवेदनहीन, कोल्ड जस्ट लाइक आइस, न बच्चों से और ना ही मुझसे प्यार करती हो...बस तुम्हें चाहिए नाम और मनी।'

गाड़ी चलाते हुए गरिमा मन ही मन बुदबुदाने-सी लगी—'यू शट अप! बकवास बंद करो।' बुदबुदाहट को सुनकर प्रो० पवन और मारुति सचेत हो गये। चौंककर पूछने लगे—''क्या भाभी जी, क्या बात है? सुनिए मेरे पास मोबाइल फोन है, अगर आपकी तबियत ठीक नहीं है तो मैं नितेश को बुला लेता हूं।''

''नहीं...भाई साहब, कुछ नहीं...बस कुछ पास्ट में चली गई थी।''

घर आकर प्रो० पवन और मारुति ने खाने की खूब प्रशंसा की। मारुति तो कुछ क्षणों में गहरी नींद की गोद में चली गयी लेकिन प्रो० पवन को अपने कमरे में गरिमा भाभी की सिसकियों, रोने की आवाजें सुनाई दे रही थी। उनकी आंसुओं में डूबी आंखें चैन से सोने नहीं दे रही थीं। 'भाई साहब, अब मैं क्या करूं? न जाने कब से इंग्लैंड की धरती पर गमों की चादर ओढ़े मैं चुपचाप पड़ी हूं, एक अर्धजीवित लाश! बच्चों के कारण तलाक भी नहीं लिया और बच्चा भी छोड़ गया। हर पल मानो तलवार की नोंक पर जिंदगी चल रही है।'

उस रात के बाद प्रो० पवन ने डॉ० गौरव के साथ घूमना-फिरना, पबों में जाना, होटलों में पीना-खाना, बियर पीना लगभग बंद-सा कर दिया। बार-बार फोन आता तो पवन कुछ न कुछ बहाना बना देते। वह गौरव की उपेक्षा, तिरस्कार करके उसे दोषों का अहसास दिला रहे थे।

लेकिन एक दिन सायंकाल के समय डॉ० गौरव, गरिमा के साथ सांझ ढले आये। हालचाल...फिर बातों का दौर शुरू हुआ...

बात चल रही थी इंग्लैंड की सभ्यता की, शिक्षा की लेकिन पैंडुलम की भांति अटक गई शराब पर। डॉ० गौरव ने कहा—''यार, मैं दोस्तों की खातिर, उनकी संगत में ज्यादा पीने लगा हूं।''

प्रो० पवन उत्तेजित हो गये—"यह अपनी गलत, गंदी आदत दोस्तों पर मत थोपो, गौरव! यहां पर भी लोग शराब नहीं पीते हैं, या मांस नहीं खाते हैं? रुपयों का ढेर लगने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता है। यार, बुरा मत मानना—तू धनी है, ज्ञानी नही। मेरी बात मान, यह सब लड़ना-झगड़ना, पीना छोड़ दे। इंसान बन जा और सच बोला कर। लड़का घर से भाग गया है और मुझसे कह रहा है कि वह यूनिवर्सिटी में पढ़ता है। छि:..छि: यार, तू अपने दोस्त से झूठ बोला। मुझे बहुत दु:ख है और अफसोस भी।"

कहकर प्रो० पवन खिड़की से कमरे के अंदर आई हुई उस धूप के टुकड़े को देखने लगे, जो सोफे के कोने पर बैठा हुआ था और कुछ ही पलों में भागनेवाला था, लेकिन उससे भी उजास फैला हुआ था। प्रो० पवन की बातें डॉ० गौरव को ऐसी लगी जैसे कोई तेज धूप में चल रहा हो और उसे नीम की ठंडी छांव मिल जाए। उन्होंने दोस्त की बातों को सहज रूप में स्वीकार करने और अपनाने की मन में ठान ली थी। नीची निगाहें किए उनकी बातें सुनते रहे, अमृत की तरह पीते रहे...पीते रहे।

फिर थोड़ी देर बाद प्रो० पवन ने गरिमा भाभी के मुरझाये चेहरे की ओर देखकर कहा—"भाभी जी, कब तक चलेगा ऐसे? संतानमोह के जलकुंड में कीड़ों की तरह बिलबिलाने से अब कोई लाभ नही है। आप स्वयं को और गौरव को संभालिये। गरिमा जी, बहुत कमा लिया इसने, बहुत मेहनत कर ली। अब आराम के ही तो दिन हैं। देख यार, तुझे तो पुस्तकें पढ़नी चाहिएं, टी०वी० देखो, आपस में बैठकर सुख-दु:ख बांटना चाहिए..."

प्रो० पवन की बातों को डॉ० गौरव प्रेमपूर्वक सुन रहे थे और स्वयं को मथ रहे थे। सोफे पर नाचते हुए सांझ की धूप के टुकड़े को देखते रहे। एकाएक प्रो० पवन मुस्कराकर, डॉ० गौरव से बोले—"यार, मैं ज्यादा तो नही, इतना जरूर कहूंगा कि तू गरिमा भाभी और अपने परिवार के लिए सुबह की धूप का नहीं, तो सांझ की धूप का टुकड़ा बन जा। देख, खिड़कियां बंद हैं, दरवाजे बंद हैं, बाहर की हवा दस्तक दे रही है और यह सांझ की धूप का टुकड़ा शीशे से झांककर कितनी मस्ती से चहल-कदमी कर रहा है, उजास फैला रहा है। सीख, नेचर से कुछ सीख।"

धीमी आवाज में—"हां," कहकर प्रो० पवन की बात को डॉ० गौरव ने सहमति दे दी और उधर गरिमा सोचने लगी—'हो सकता है, सुबह का भूला सांझ को घर लौट आये। हो सकता है, गौरव मेरे लिए, घर के लिए ऐसे ही सांझ की धूप का टुकड़ा बन जाए।'

□

वह/मेरी बेटी

गोपाल शेखरन

दहेज के लालच में महिलाओं को जला देने के दर्दनाक हादसे आज भारतीय समाज में यहां-वहां दिखाई पड़ते हैं। ऐसी ही नृशंस हत्या की शिकार बेटी के पिता को जब यह अवसर मिलता है कि वह वर पक्ष की बेटी को मौत के घाट उतार सके, तो उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है। क्या वह अपनी बेटी की हत्या का बदला ले पाता है? जवाब दे रही है वरिष्ठ साहित्यकार की प्रस्तुत कहानी।

उस दिन मैं अकादेमी मे ट्रेनिंग लेने आए लड़कों, लड़कियों के होस्टल में प्रवेश के आवेदन-पत्रों की जांच-पड़ताल कर रहा था। तभी मैं एक आवेदन-पत्र को पढ़कर चौंक उठा। वह आवेदन-पत्र मेरे पूर्व संबंधी की बेटी प्रतिभा का था, जिसके सारे विवरण अर्थात् पिता का नाम, पता इत्यादि वही थे, जो मेरे पूर्व संबंधी के थे।

मैंने उस आवेदन-पत्र को दोबारा बड़े ध्यान से पढ़ा और मैं तत्काल लगभग दस वर्ष पहले के अतीत में डूब गया। मुझे वह दिन याद हो आया जब मैंने अपनी लाड़ली बेटी सुधा का विवाह, प्रतिभा के बड़े भाई इन्द्रजीत के साथ किया था। सुधा का विवाह मैंने अपनी सामर्थ्य से भी अधिक शान-शौकत से किया था। मैंने अपनी भविष्यनिधि से लगभग सारा धन निकलवा लिया था और अपना मकान भी गिरवी रखकर कुछ हजार रुपये उधार लिए थे। सुधा का विवाह कर मुझे इस बात का संतोष हुआ और खुशी भी हुई, क्योंकि सारे बाराती हमारे सत्कार से खुश थे और सभी तृप्त होकर हमारी प्रशंसा कर रहे थे।

प्रतिभा का भाई अर्थात् मेरी बेटी का पति इन्द्रजीत सार्वजनिक निर्माण विभाग का ठेकेदार था और मैंने यथाशक्ति पूरी जांच-पड़ताल कर रिश्ता पक्का किया था। बातचीत और व्यवहार से वे लोग भले और व्यवहार-कुशल लगते थे। उनका दिल्ली की 'पुष्पांजली' कालोनी में अपना मकान था। हमें यही बताया गया था कि इन्द्रजीत की ठेकेदारी बहुत अच्छी चल रही है। इन्द्रजीत के पिता अपने प्रभाव की डींगे भी मारते थे, जो मैंने सच समझ ली थीं।

उन दिनों मैं देहरादून मे तैनात था और इन्द्रजीत दिल्ली में ठेकेदारी करता था। मैं कभी-कभार दिल्ली जाता था। मुझे ऐसा महसूस होता था कि मेरी बेटी खुश नही थी, पर सुधा इस प्रकार प्रकट करती जैसे कि वह खुश हो! कई बार वे दोनों देहरादून आकर कुछ दिनों के लिए रुकते थे। तब भी सुधा से कभी हमने कोई शिकायत नही सुनी।

सुधा की शादी के लगभग दो वर्ष बाद मुझे दिल्ली से फोन पर किसी ने वह मनहूस समाचार दिया था। मुझे पक्का विश्वास है कि वह टेलिफोन न सुधा के ससुर ने किया था, न इन्द्रजीत ने और न ही उनके किसी निकट के रिश्तेदार ने। वह टेलिफोन सुनते ही जैसे मेरे प्राण ही निकल गए थे। टेलिफोन करनेवाले ने कहा था— 'बड़ा अशुभ समाचार दे रहा हूं, भाई साहब! आपकी बेटी सुधा ने अपने आपको आग लगाकर आत्महत्या कर ली है।' मैने टेलिफोन करनेवाले से कुछ और जानकारी चाही थी, पर उसने तत्काल टेलिफोन बंद कर दिया था।

टेलिफोन का रिसीवर रखते हुए मेरे हाथ कांप रहे थे। मै आगे बढ़ा तो ठोकर से गिर पड़ा। मैं रो रहा था... पर आंसू नहीं निकल रहे थे! मैं चिल्ला रहा था... पर मेरी आवाज गायब थी... मै दौड़ना चाहता था... पर मुझमें शक्ति नही रह गयी थी।... कुछ क्षणों तक मेरी यही स्थिति रही। फिर मै जैसे-तैसे सचेत होकर, पागलों की तरह बाहर भागा। मुझे याद नही कि यह समाचार मैंने किस प्रकार अपनी पत्नी को सुनाया था। घर में रोना-पीटना मच गया। कुछ ही देर में मेरा भाई अपने बेटे के साथ टैक्सी लेकर आ गया और हम दिल्ली की ओर चल पड़े।

जब तक हम दिल्ली पहुंचे, सुधा का दाह-संस्कार किया जा चुका था। पुलिस ने जांच-पड़ताल की थी और इसे आत्महत्या का मामला बताया था। हमने भी अपनी जांच-पड़ताल की। हमें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि हमारी बेटी आत्महत्या कर सकती है। हमने गली-मौहल्लेवालों से बातचीत की। उनके मकान के सामने पान बेचनेवाले ने कहा—'जब सुधा जल रही थी तो उनके परिवार के सारे लोग घर में ही थे, पर किसी ने सुधा को बचाने की कोशिश नहीं की... मैंने ही एक कंबल से सुधा को लपेटा था।'

एक अन्य पड़ौसी ने कहा—'मैं टैक्सी बुलाकर लाया और हम उसे अस्पताल ले गए, पर डॉक्टरों ने उसे मृत घोषित कर दिया।'

हमने जिस-जिससे बात की, उसकी यही राय थी कि यह मामला आत्महत्या का नहीं, हत्या का है—वह भी दहेज के लिए। ये बड़े लालची आदमी हैं और सुधा को कम दहेज लाने के लिए तंग करते रहते थे।

इस प्रकार हमें सारी जानकारी मिल गई। हमें यह भी पता लग गया कि पुलिस ने कोई विशेष जांच-पड़ताल नहीं की। लगता है, उन्होंने मामला दबा दिया है। फिर हमें भी पूरा विश्वास था कि हमारी बेटी आत्महत्या नहीं कर सकती थी। वे लोग क्यों उसे आग लगते देखते रहे और उन्होंने उसे बचाने की कोशिश क्यों नहीं की? इससे सिद्ध होता है कि यह आत्महत्या का नहीं, हत्या का मामला था। उन लोगों के पास इन प्रश्नों के कोई संतोषजनक उत्तर भी नहीं थे।

मैंने वहां छाती पीट-पीटकर और चिल्ला-चिल्लाकर कहा कि इन दरिंदों ने मेरी बेटी को जला दिया! मैं छाती पीटते-पीटते सारे मौहल्ले में उन लोगों के नाम ले-लेकर पागलों की तरह घूमता रहा। गली-मौहल्ले के कई लोग मेरे पीछे हो लिए—क्योंकि उन्हें मुझसे पूरी हमदर्दी थी। वे लोग सहानुभूति प्रदर्शन के सिवाय और कर ही क्या सकते थे? मुझे अभी तक याद है कि जब मैं छाती पीटते-पीटते लोगों के समूह के आगे चल रहा था तो एक महिला सफाई-कर्मचारी ने कहा था—'क्या करे बेचारा, इसकी तो छाती फटी जा रही है! इसके साथ जो बीत रही है, यही जानता है...एकदम पगला गया है बेचारा!'

फिर हम, सब कुछ एक महिला-संस्था और पुलिस पर छोड़कर वापिस आ गए। हम एक बड़े पुलिस अधिकारी को भी मिले थे जिसने उन लोगों पर दहेज के लिए हत्या का केस बना दिया। पर बाद में उन्होंने केस रफा-दफा करवा लिया।

अब उसी इन्द्रजीत की बहन मेरे अधिकार-क्षेत्र में थी। मै इस होस्टल का प्रभारी था। उन हत्यारों की बेटी अब मेरे नियंत्रण में थी। मैं योजना बनाकर अपनी बेटी की हत्या का बदला लेने की सोचने लगा। मैं मन ही मन प्रतिभा को समाप्त करने की योजनाएं बनाने लगा। मैं यह काम इतनी सफाई से करना चाहता था, ताकि किसी को मेरे ऊपर तनिक भी संदेह न हो। अब मेरे जीवन का बस यही ध्येय रह गया था। मुझे यह भी विश्वास था कि दस वर्ष पूर्व की वह छोटी-सी बच्ची प्रतिभा, मुझे पहचान नहीं पाई है।

प्रातः उठकर मैं घंटों योजनाएं बनाता। पर मैं किसी निश्चय तक नहीं पहुंच रहा था। एक बार मैंने प्रतिभा को बुलाकर कहा—'मुझे तुम्हारे हस्ताक्षर के नमूने चाहिएं। रिकॉर्ड के लिए। मैंने एक सफेद कागज पर उसके हस्ताक्षर करवा लिए। फिर मैंने उसके हस्ताक्षरों के ऊपर ये शब्द टाइप कर दिए—'मैं प्रतिभा, इस संसार से तंग आ चुकी हूं। मेरे प्रेमी ने मुझे धोखा दिया, जो मेरे लिए असहनीय है। मेरे लिए अब यह संसार बेकार है... इसलिए मैं स्वयं अपनी जान ले रही हूं। इसके लिए कोई अन्य व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है।'

इसके बाद मैं मौके की तलाश में रहा। कभी-कभी मैं रात को होस्टल का दौरा करता तो प्रतिभा के कमरे में अवश्य जाता। उसका हालचाल पूछता, पढ़ाई-लिखाई के बारे में भी। मेरे वहां जाने का केवल एक ही उद्देश्य होता था कि किस प्रकार मैं उसे समाप्त करूं? वास्तव में, मैं वहां इसलिए भी जाता था कि जान सकूं कि क्या मुझमें साहस है और क्या मै वास्तव मे हृदयहीन बन सकता हूं? मैंने जान लिया था कि मुझमें हिम्मत है और जब भी मै उसके कमरे मे गया, मेरा इरादा और पक्का होता गया।

अब मुझे लगने लगा कि अगर मैंने यह काम शीघ्र नही किया तो मैं पागल हो जाऊंगा। दिन-रात उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते मेरे दिमाग मे कई भयंकर और अपराधशील योजनाएं पनपने लगीं। मैंने किसी अन्य विषय पर सोचना ही बंद कर दिया था और स्पष्ट रूप मे मेरी आत्मा और मेरा मन कुलषित बाते सोचता रहता। मेरी मन:स्थिति अब बिल्कुल वैसी ही हो गई थी जैसी दस वर्ष पूर्व इन्द्रजीत के घर के चक्कर लगाते हुई थी। केवल इतना अंतर था कि यह अंधड़ मेरे अंदर ही अंदर घूम रहा था, बाहर नहीं निकल रहा था।

जब मैं प्रात: उठकर योजनाएं सोचता तो उसके साथ मुझे मेरी प्यारी बच्ची, सुधा बहुत याद आती। उसके बचपन से लेकर शादी के दिन तक के चित्र मेरे सामने घूम जाते। कितनी लाडली और प्यारी बातें करती थी। जब भी मै दफ्तर से घर आता तो सबसे पहले वही मुझे पानी का गिलास देती और बिना कहे, चाय बनाकर ले आती। उस जैसी सुशील, शुद्ध और निर्मल मनवाली बच्ची को उन अपराधियों ने मार डाला! अगर मैंने उसकी दर्दनाक मौत का बदला नहीं लिया मै अपने मां-बाप का नहीं!

एक दिन मैंने अपनी योजना के प्रारूप को अंतिम रूप दे दिया।

बहुत सोच-विचार और आत्ममंथन के बाद मैंने यह योजना बनाई। मैंने बड़े गुप्त स्रोतों से देहरादून जाकर एक प्रयोगशाला से ऐसा पाउडर खरीदा, जिसके सेवन के एक सप्ताह बाद प्रतिभा की स्वाभाविक समझी जानेवाली मृत्यु अवश्यंभावी थी। मैने योजना बनाई कि एक रात प्रतिभा के कमरे में जाऊंगा और चाय पीने की मांग करूंगा। जब प्रतिभा चाय बनाकर लाएगी तो मैं पानी की मांग करूंगा और जब प्रतिभा रसोई से पानी लाने जाएगी तो मैं पुड़िया को उसकी चाय मे डाल दूंगा। फिर कहूंगा, थोड़ी-सी चीनी और चाहिए और इसी बीच उसकी आत्महत्या का पर्चा वही कहीं छिपा दूंगा।

मैंने कई योजनाएं सोची थीं। पर यह योजना मुझे सुरक्षित लगी थी। अब वह छोटी-सी पुड़िया मेरी जेब मे आ गई थी, और मैंने उस पुड़िया को दूसरी पुड़िया में लपेटकर रखा था ताकि वह सुरक्षित रहे। दिन में लगभग चालीस बार जेब में हाथ डालकर देखता कि वह पुड़िया सुरक्षित मेरी जेब में है या नहीं?

मैं कृतसंकल्प था। भगवान ने मुझे यह सुनहरा अवसर दिया था। मैं बार-बार मन ही मन यही सोचता, अगर इस अवसर से चूक जाऊंगा तो अपनी मां का जाया नहीं। जब से प्रतिभा इस होस्टल में आई थी, मेरा सुख-चैन नष्ट हो गया था। मेरे जीवन का केवल एक ही उद्देश्य रह गया था—अपनी बच्ची का बदला, उनकी बेटी को मारकर लेना! मैं यह घिनौना काम इसलिए करना चाहता था ताकि प्रतिभा के मां-बाप भी कई रातों तक कलपते रहें और सो न सकें, वे भी मेरी तरह विक्षिप्त बनकर रह जाएं।

अब आप समझ सकते हैं कि मैंने यह योजना कितनी बार सोच-समझकर बनाई थी। अब उपयुक्त समय आ गया था। प्रतिभा कुछ दिन से बहुत उदास थी और उसकी सहेलियां उससे इसका कारण पूछ रही थीं। उसके दूसरे दिन मैंने अपनी योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय कर लिया। उस दिन जब मैं उठा तो मेरी टांगे कांप रही थीं। मैंने अपने आप पर पूरा नियंत्रण रखा और सायंकाल को यह काम करने का निश्चय कर लिया। मैं अब बिल्कुल तैयार था। प्रतिभा के 'आत्महत्या के पत्र' पर मैंने ऊपर से बड़ी सावधानी से रुमाल फेरा ताकि उस पर मेरी उंगलियों के निशान न रह जाएं। फिर मैंने एक सफेद कागज में इस प्रकार रखा ताकि उसे प्रतिभा के कमरे में छिपाते हुए, मेरी उंगलियों के निशान उस पर न लग सकें। मैं वह आत्महत्या का पत्र इसलिए वहां छिपाना चाहता था कि यदि पुलिस को कोई संदेह हो तो उस पत्र को ढूंढकर प्रस्तुत कर दिया जाए। मैं वह पत्र सबसे गुप्त स्थान पर छिपाना चाहता था।

फिर वह समय आ ही गया। मैं रात के लगभग आठ बजे ऐसे समय में प्रतिभा के कमरे में चुपके-चुपके पहुंचा जबकि आसपास कोई चलता-फिरता नहीं दिखाई दे रहा था। मुझे उसके कमरे में जाते किसी ने नहीं देखा था। सब कुछ योजनानुसार हो रहा था। जब मै उसके कमरे में पहुंचा तो वह पढ़ रही थी। मुझे देखकर प्रतिभा ने बड़े भोलेपन से मुस्कराते हुए कहा—'आइए, बाऊजी बैठिए।'

मैं चौंक पड़ा। यह प्रतिभा मुझे 'बाऊजी' क्यों बुला रही है? 'सर', क्यों नहीं कहा उसने जैसे दूसरी लड़कियां कहती हैं। मेरी बेटी सुधा भी बिल्कुल ऐसे ही मुझे 'बाऊजी' कहती थी।

मैने कहा—'आज तुम्हारे यहां चाय पीने की इच्छा से आया हूं। सुना है, तुम बहुत अच्छी चाय बनाती हो।'

'बैठिए, अभी चाय बनाकर लाती हूं।' यह कहकर वह जैसे छलांगे लगाकर रसोई में पहुंच गई। मैंने अपनी जेब में हाथ डाला। पुड़िया सही-सलामत थी।

कुछ ही देर में वह चाय बनाकर ले आई। चाय का एक कप उसने मेरे सामने रख दिया, एक अपने पास रखकर वह बोली—'लीजिए, बाऊजी, पानी भी लाई हूं। पहले पानी पी लीजिए।'

मैंने उसके चेहरे की ओर देखा, उसके चेहरे पर बचपन की अबोध मासूमियत

थी। उसके हाव-भाव निर्दोष थे और उसकी आंखें विशुद्ध संवेदनशील लग रही थीं— जैसी कि मेरी बेटी सुधा की लगती थीं।

मैं एक क्षण कुछ कहते-कहते रुक गया। फिर साहस बटोरकर मैंने एक घूंट चाय का पिया और कहा—'प्रतिभा, चीनी कम है। मुझे एक चम्मच चीनी और चाहिए।'

'ओह! अभी लाई... बाऊजी!' यह कहकर वह एक गीत गुनगुनाते हुए रसोई की ओर लपक पड़ी—'कर चले हम फिदा दिलो जां साथियो, अब तुम्हारे हवाले वतन साथियो!' मैं आश्चर्यचकित था। मेरी बेटी, सुधा भी यही गाना, इसी तरह गुनगुनाया करती थी। मैंने अपनी जेब में हाथ डाला। मेरे हाथ कांपने लगे। यह एक मानसिक आघात की तरह था। मुझे ऐसे लग रहा था मानो मेरे हाथ की उंगलियां जेब से चिपक गई हैं। मैं वह पुड़िया न निकाल सका। मेरा सारा शरीर कांप रहा था। एक क्षण मुझे ऐसे लगा, जैसे मुझे पक्षाघात का दौरा पड़ेगा!

मैं अपना संतुलन खो चुका था।

तभी प्रतिभा आ गई और मुस्कराते हुए बोली—'क्षमा करें बाऊजी, मुझे कुछ देर लग गई, चीनी निकालने में... कितनी चीनी डालूं?'

न जाने मुझे क्या हुआ, मैं फूट-फूटकर रोने लगा। मैं उठ खड़ा हुआ। रोते-रोते, जोर-जोर से बोला—'तुम तो बिल्कुल मेरी बेटी की तरह हो, तुम बिल्कुल सुधा की तरह भोली हो...!' यह कहते हुए मैं बिना चाय पिए कमरे से बाहर निकल आया।

□

तिमार श्ज़ोफ़ी का वैधव्य

मिकसाथ कालमान

जीवन की दु:खभरी गाथाएं हमें न केवल दूर तक प्रभावित करती हैं बल्कि देर तक याद भी रह जाती हैं। दु:ख वास्तव में ऐसा गहरा रंग है जो हमें डराता ही नहीं, ज़बरदस्त तरीके से सम्मोहित भी करता है। उच्चतर साहित्य सृजन अपने पाठकों को जीवन का यही 'शेड' अधिक दिखाता है और यह संभवत: विश्व की प्रत्येक भाषा में लिखित साहित्य का अंतरंग सत्य भी है। हंगारी की प्रस्तुत कहानी में भी यह दु:ख कुछ इस 'सहजता' और 'स्वाभाविकता' के साथ उभरता है कि पाठक गमगीन हुए बिना नहीं रह सकता।

यह छोटी-छोटी, प्यारी-सी नाचीज़ औरतें, यह सुनहरे बालोंवाली औरतें, इतनी नाज़ुक और अच्छी हैं जैसे बेजुबान मेमने। कम-से-कम यह तिमार श्ज़ोफ़ी तो बिल्कुल उसी तरह की है।

जब से इसकी शादी हुई तब से सिर्फ़ इसकी मुस्कराहट ही दिखती थी। पहले की खुशीभरी मुस्कान अब दर्द की मुस्कान में बदल गई है!

ना किसी को इसकी खुशी से कोई फ़र्क़ पड़ता था, न दु:ख से। ना इसने पहले कभी खुशी ज़ाहिर की थी, न अब किसी से शिकायत करती है। मगर उसका सफ़ेद चेहरा, हमेशा चमकता चेहरा रोज़ हर एक को वह बात बताता है जो यूं भी सब जानते हैं।

यहां छोड़ गया इसका पति इसे बेरहमी से। हालांकि बहादुर जवान आदमी था,

सबसे ज्यादा काम करनेवाला, सबसे ज्यादा मेहनती बढ़ई अपने पूरे क्षेत्र में। कौन सपने में भी सोच सकता था कि वह अपनी ऐसी देवी-जैसी पत्नी से बेवफ़ाई करेगा और उस दूसरी औरत की फ़रेबी आंखों के कालेपन से अपनी आत्मा को कलुषित कर नर्क में झोंकने चला जाएगा।

कोई ख़बर तक किसी ने न सुनी कि कहां गए दोनों; रास्ते की धूल, जिसमें उनके पैरों के निशान बने था, वह भी कुछ न बोली। हवा ने भी राज़ न खोला कि कहां हैं, सरसराते पत्तों की बात भी समझ में आनीवाली नहीं थी, हालांकि शायद वह उनका पता ही बता रहे थे।

काश! गांव से जाते वक़्त कुछ बोलकर ही जाता तो इस सुनहरे बालोंवाली औरत का दु:ख इतना गहरा न होता। इस औरत का जिसे लोग अब 'परित्यक्ता' कहकर बुलाते थे। काश! बांहो में भरकर एक बार प्यार से, चाहे ऊपरी ही सही, चाहे रौब से ही—सिर्फ़ इतना कह दिया होता, 'तू अब मुझे दुबारा नहीं देखेगी; दूसरी को चाहता हूं...अब मेरी जिंदगी उसी के लिए है।'

मगर नहीं; वे दोनों तो चुपचाप ही चले गए। आपस में एक-दूसरे से ही बातें करते हुए। चले गए और अब कभी वापिस नहीं आयेंगे। अब एक साल बीत गया है। पूरा एक साल।

'आएगा, वह ज़रूर वापिस आएगा। पीटर बुरा आदमी नहीं है। उसका दिल हमेशा से अच्छा था। यूं पूरी तरह थोड़े ही बिगड़ सकता है? हो सकता है, उस औरत ने उसकी बुद्धि हर ली हो, या खुद को उसके दिल में ज़बरदस्ती बिठा दिया हो? लेकिन यह सब एक नक़ली पेंटिंग की तरह समय के साथ धुंधला पड़ जाएगा, फीका पड़ जाएगा और वह फिर से वापिस आयेगा।' तिमार श्ज़ोफ़ी उम्मीद करती रहती थी। जब सिलाई के समय कैंची उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती, तो ठंडी सांस लेकर कामना करती कि काश, यह ज़मीन पर सीधी खड़ी हो जाए (यह एक शुभ संकेत माना जाता है हंगरी में), या जब किसी कौए के पंख खिड़की से दिखाई देते तब भी लंबी सांस लेकर मनाती कि काश! वह उसके ही आंगन में बोले। मगर न कैंची झूठा दिलासा दिलाती, न कौआ ही किसी के आने की ख़बर लाता।

हर शाम घर की ड्योढ़ी पर आकर बैठ जाती थी जहां से सांप की तरह बलखाती सड़क दूर तक नज़र आती थी—वहां तक जहां क्षितिज दिखाई देने लगता था। अपने ज़र्द पड़े चेहरे पर हाथ की ओट करके ताकती रहती थी उस दृश्य को जिसमें एक-एक करके उभरते आते थे तरह-तरह के गाड़ीवान, ख़रीद-फ़रोख्त के लिए चलते यात्री, यूं ही डोलते लोग और भगवान जाने और कौन-कौन!

गांववाले कई बार उसके क़रीब से गुज़र जाते, उसे सलाम भी करते पर उसकी नज़र किसी पर न पड़ती।

'श्ज़ोफ़ी अपने पति का इंतज़ार कर रही है।' वे एक-दूसरे से फुसफुसाकर कहते

और उसका मज़ाक भी उड़ाते।

मगर साहब श्ज़ोफ़ी ही सच्ची थी। उसका दिल ही सच को जानता था, दुनिया के सब ज्ञानी लोगों से ज्यादा समझता था।

एक सुबह जब तंबाकू के पौधों पर पानी छिड़क रही थी (यह सोचते हुए कि यदि इस समय उसका पति आ जाता तो सर्दी में उसे ताज़ा तंबाकू पीने को देती), तो एक बूढ़ी औरत ने, जिसके मुंह पर चेचक के दाग़ थे, आंगन में क़दम रखा। वह संदेशा लेकर आई थी।

'मै तुम्हारे पति के पास से आ रही हूं। उसने कहलवाया है कि वह अपने किए पर शर्मिंदा है। उसे माफ़ कर दो। यहां से तीसरे गांव गेज़ौन मे काम करता है। उसमें स्वयं आने की हिम्मत नहीं थी। डरता था कि तुम बहुत गुस्सा करोगी। अगर तुमने उसे माफ़ कर दिया हो तो उसकी इच्छा है कि तुम उसके पास पहुंच जाओ।'

'चलो, चलें।' सुनहरे बालोंवाली भोली श्ज़ोफ़ी बोली। अपना काला दुपट्टा उतार फेंका और तेल के धब्बेवाला लाल दुपट्टा ओढ़ लिया रास्ते के लिए। पीटर को पसंद है यह रंग और यूं भी आज के शुभ दिन के लिए उपयुक्त भी है।

उधर गेज़ौन में एक सोने का क्रॉस मीनार की चोटी पर लगाना था। ऑफ़िसर की पत्नी ने जुड़वां बच्चो को जन्म दिया था इसकी खुशी मे यह क्रॉस भेंट में चढ़ाया गया था।

'यह काम कौन करेगा लड़कों?' रअगी मिहाय जो प्रमुख बढ़ई थे, उन्होंने आवाज़ लगाई।

'मै!' पीटर बोला, 'मै जाऊंगा ऊपर साहब।'

'मेरे ख्याल से बैलिन्दैक शौमू ठीक रहेगा। तू थोड़ा भारी है।'

'अरे साहब, आज से ज़्यादा हल्का तो मैंने अपने को कभी महसूस ही नही किया।'

'हां, वह तो समझ सकता हूं। अपने गले में लटके बोझ से अपने को आज़ाद जो कर लिया है। बस यूं ही निकाल फेंका ना? काफ़ी ख़ूबसूरत लड़की लाया था, है ना शौमू?'

'साहब, मुझे उससे नफ़रत हो गई थी। सच है—जो एक की नहीं, वह किसी की नहीं। जो एक बार लुढ़की, वो बस लुढ़कने की आदी हो गई समझो।'

'तेरे हाथ से भी फिसल गई क्या? शौमू सुना! हा-हा-हा! अरे बदमाश! अच्छा चल तू ही लगा यह क्रॉस।'

पीटर ने शौमू की तरफ़ विजयभरी, लेकिन शांत नज़र डाली।

'जी हां, रअगी साहब, आज शौमू को रहने ही दीजिए। मैं असल में आज किसी के कहीं से आने का इंतज़ार कर रहा हूं। मेरा दिल धड़क रहा है कि आयेगी या नहीं। इसलिए भी मैं मीनार की चोटी पर जाना चाहता हूं ताकि अपने गांव से

आनेवाली सड़क पर दूर-दूर तक देख सकूं।'

'चल ठीक है, मुझे इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? चल, अब जल्दी से चढ़ जा। सबसे ऊपर की खिड़की से मैं तुझे क्रॉस पकड़ा दूंगा जब तू ऊपर पहुंच जायेगा।'

और जल्दी ही पीटर ऊपर जा चढ़ा; कमाल की फुर्ती से... लकड़ी के फट्टों पर पैर जमाते।

नीचे झूलते हुए आवाज लगाई, 'लाइए पकड़ाइए क्रॉस ताकि ऊपर लगा सकूं।'

'यह रहा बेटा।'

पीटर और ऊपर चढ़ा और जब बिल्कुल सही जगह पर पहुंच गया तब उसकी नज़र अपने गांव से आनेवाली सड़क पर पड़ी।

वह आ रही है...हां, श्ज़ोफ़ी ही है...बूढ़ी औरत के साथ कूदते हुए क़दमों से अभी मुड़ी है गांव की ओर।

उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा, किसी चीज़ को कसकर पकड़ा। हाथ कांपे। आंखें डबडबा गईं।

'पीटर, लगा दिया क्रॉस?'

'कौन-सी चोटी पर लगाना है?' लड़खड़ाती आवाज़ में पीटर बोला।

बूढ़े बढ़ई के चेहरे का रंग फीका पड़ गया। खिड़की में दुआ करते हुए अपने ऊपर क्रॉस बनाया और दु:खी होकर दबी-सी आवाज़ में बोला, 'किसी पर भी लगा दे।'

लेकिन जानता था कि मीनार पर सिर्फ़ एक ही चोटी थी। उस चक्करखाते पीटर को दो-तीन दिखाई दे रही थीं। बूढ़ा समझ गया कि अब क्या होने वाला है? अपने होश खोता, बदहवास नीचे भागा सोचते हुए कि अब पीटर शीघ्र ही धरती पर होगा, बहुत दूर... इस दुनिया से भी परे!

मीनार के नीचे पति-पत्नी दोनों एक साथ पहुंचे। पर एक मृत अवस्था में।

इस 'मिलन' के लिए तो काला दुपट्टा ही सही रहता।

श्ज़ोफ़ी गूंगी होकर मृत शरीर से लिपट गई, लिपटाकर उसे देर तक चूमती रही; चिपकाए रही।

जब लोगों ने बड़ी ताक़त लगाकर उसे पति की देह से अलग किया तब भी उसका चेहरा शांत था, पहले की तरह। न शब्द थे होंठों पर, न आंख में आंसू।

पीछे मुड़ी, आख़िरी बार देखने के लिए और निढ़ाल होकर गिर पड़ी।

फिर उठी, भरपूर ताक़त से बूढ़ी औरत का कंधा पकड़ लिया, लटके हुए चेहरे से बहुत धीमी आवाज़ में पूछने लगी, 'मुझे यहां किसलिए लाई थीं? अब मैं यहां से आगे कैसे इंतज़ार करूंगी?'

और बस आंसू यूं बह निकले मानो एक मुक्त झरना।

□

अनुवादक: इन्दू मज़लदान

न लिखने की कला

रवीन्द्रनाथ त्यागी

हिंदी के वरिष्ठ व्यंग्यकार रवीन्द्रनाथ त्यागी अपने व्यंग्य लेखों में जिस विषय के पीछे पड़ जाते हैं तो उस विषय की राई-रत्ती तक की खबर लेते-देते हैं। इस बार उन्होंने हिंदी लेखकों की खबर के बहाने, अपनी खबर ली तो पता लगा कि लेखन में बड़ी खबरदार स्थितियां उत्पन्न हो गई हैं। समकालीन हिंदी समाज में हिंदी का लेखक राजा हरिश्चन्द्र-सम दु:ख पा रहा है और बाकी 'सब ठीक है' की घोषणाएं हैं। लेखक के दर्द का मर्म है यह—हंसाता-रुलाता व्यंग्य।

मुझे लगता है कि जीवन में दो ही सुख सब से बड़े है। एक सुख है लिखना और दूसरा सुख है न लिखना। यह महान् रचना मैं ये दोनों सुख एक साथ प्राप्त करने के हेतु ही लिख रहा हूं, किसी और हेतु नहीं। 'हेतु' का चलन अब नहीं रहा; उसका स्थान 'कारण' ने ले लिया। कारण, चारण और धारण—ये सब के सब शब्द प्राचीन काल के हैं जब लोग विरुदावली लिखकर चक्रवर्ती सम्राटों से जागीर पाया करते थे। अब चक्रवर्ती सम्राट् तो क्या, चक्रवर्ती गणित तक नहीं रहा। जागीरें ख़त्म हो गईं और फ़िल्मों में जागीरदार नामक जो एक श्रेष्ठ अभिनेता थे, वे भी पंचत्व को प्राप्त हो गए। पंचत्व प्राप्त करना भी अब बंद हो गया चूंकि वह शब्द काफ़ी कठिन था। अब सरलीकरण के इस युग में लोग मरना पसंद करते हैं, पंचत्व प्राप्त करना नहीं। सरलीकरण की तर्ज़ पर और शब्द भी सीन पर मौजूद रहे जैसे समीकरण, वशीकरण और बाजीकरण। इनकी चर्चा और प्रभाव, रात्रि को ही प्रकाश में आते हैं, दिन में

नहीं। कुछ चीज़ें बनी ही ऐसी है कि वे अंधकार में ही प्रकाश को प्राप्त करती हैं, वैसे नहीं करतीं। रंग लाती है हिना, पत्थर पे पिस जाने के बाद। 'हिना' मेंहदी को कहते हैं, किसी अविवाहिता कन्या को नहीं।

मेंहदी लगाने की भांति, कभी लिखने को भी कला माना जाता था। उन दिनों लेखक लोग भी पढ़ा करते थे और पाठक लोग भी लिखा करते थे। श्रीधर पाठक और वाचस्पति पाठक क्रमशः कवि और कहानीकार ही थे, पढ़ने वाले नहीं। कुछ पुस्तकों के छपने के बाद, इन लोगों ने अपने लिखे ग्रंथ पढ़े और वे इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने लिखना ही बंद कर दिया। वे अनुवादक व प्रकाशक हो गए। लेखक के लिए, लिखना छोड़ना भी एक कला है। 'कला' उस चीज़ को कहते हैं जिसे प्रायः 'गला' खा जाता है। कलावती कन्या और चंद्रमा की कला जानने के लिए आप 'सत्यनारायण की कथा' व महाकवि पंत का 'कला व बूढ़ा चाँद' नामक उत्कृष्ट ग्रंथ पढ़ें। यदि उन्हें लिखना बंद करने की कला आती तो वे 'लोकायतन' जैसी लचर कृति हर्गिज़ नहीं लिखते। इस महाकाव्य की सृष्टि करने के कारण, वे मात्र अठहत्तर वर्ष की आयु में ही महाप्रयाण कर बैठे।

लेखन-कार्य के प्रति मुझे जो विरक्ति सहसा उत्पन्न हुई है वह वर्षों के संचित अनुभवों के कारण उत्पन्न हुई है और ये अनुभव, मुझे विभिन्न लोगों और संस्थानों से समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं। सबसे पहिले मैं संपादकों को पकड़ता हूँ हालांकि काफ़ी संपादक ऐसे होनहार हैं कि उन्हें मैं तो क्या, स्काटलैंड यार्ड की पुलिस भी कभी नहीं पकड़ सकती। ऐसे संपादक भी मिले जिन्होंने मेरी रचनाओं को अपने नाम से छापा और ऐसे संपादक भी मिले जिन्होंने रचनाएँ तो मेरे नाम से ही छापीं पर उनका मानदेय अपनी जेब में रख लिया। मैंने याद दिलाई तो उन्होंने चुप्पी साध ली और अगर मैंने ज़्यादा तकाज़ा किया तो उन्होंने जो कुछ दिया वह 'मानदेय' कम और 'अपमानदेय' ज़्यादा था। एक संपादक इतने स्त्री-प्रेमी निकले कि उन्होंने मेरे शुभ-नाम के पहिले भी 'श्रीमती' जोड़ दिया और जब मैंने उन्हें अपने यौन-परिवर्तन न होने की सूचना दी तो उन्होंने उसकी पुष्टि में सिविल-सर्जन का प्रमाणपत्र भेजने को कहा और मेरा फ़ोटो भी मांगा जिसका कि किसी ऐसे राजपत्रित-अधिकारी द्वारा अनु-प्रमाणित होना अनिवार्य था जो कि कोई स्त्री हो। सब कुछ हो जाने के बाद उन्होंने 'भूल-सुधार' छापा और देश की जनता को सूचित किया कि अमुक स्त्री-अधिकारी के अनुसार मैं अभी भी पुरुष ही चल रहा हूँ और उनसे जो गलती हुई उसके लिए उन्हें खेद है। इस बीच मेरे कुछ विनोदी पाठकों ने मुझे जो टिकुलियाँ, चूड़ियाँ और बालसफ़ा साबुन की टिकियाँ भेजी थीं, उन्हें मैंने संपादक जी की सेवा में भेज दिया जिसके लिए उन्होंने मुझे हार्दिक धन्यवाद दिया। इस सबके बावजूद पत्रिका के दफ़्तर से जो चेक आया, उसमें अभी भी 'श्रीमती' ही छपा था, 'श्री' नहीं। एक अत्यंत प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थान से तीन चेक अभी भी आने हैं हालांकि एक रचना को छपे

लगभग एक वर्ष हो चुका है। पत्र-पत्रिकाएं बराबर छप रही हैं, हालांकि चेक अलबत्ता नहीं छप रहे। उन संपादकों की बात मैं यहाँ नहीं करूंगा जो कभी भी मुझे कुछ नही भेजते।

पिछले दिनों दो साहित्यकारों पर मैंने अपने संस्मरण लिखे और उन्हें दो ऐसे संपादकों को भेजा जो समयसिद्ध होने के साथ-साथ प्रसिद्ध भी थे और जिनका मै स्नेहभाजन भी था। दोनों ने काफ़ी आभार प्रकट किया और चर्चित लेखकों के चित्र भी मंगाए। इस सबके बावजूद, संस्मरण अभी तक नहीं छपे हैं। एक संपादक को यह एतराज़ है कि वे दिवंगत लोगों के बारे में कुछ नहीं छापना चाहते जब कि दूसरे संपादक का कहना यह है कि वे रचना तभी छापना चाहेंगे जब कि चर्चित लेखक, जो फ़िलहाल जीवित है, दिवंगत हो जाएंगे। अब आप ही बताइए कि ऐसी स्थिति में, फ़ौजदारी के अलावा और क्या किया जा सकता है?

संपादकों का प्रसंग समाप्त करने से पहिले, मैं चार और संपादकों की चर्चा ज़रूर करूंगा। संयोग से ये चारों ही मेरे मित्र हैं। पहिले संपादक जो है वे आजीवन-सदस्य बनाने की कला मे पारंगत हैं। ये प्राय: वृद्ध या बीमार व्यक्तियों को ही ऐसा सदस्य बनाते हैं ताकि पत्रिका उन्हें ज़्यादा दिनों न देनी पड़े। दूसरे संपादक जो है वे विज्ञापन बटोरने में चतुर है। पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ पर एक ओर मैटर छपता है और दूसरी ओर विज्ञापन छपता है। तीसरे संपादक विभिन्न पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं से रचनाएँ लेते हैं और शानदार किताब छपाते हैं। अब तक लगभग सौ पुस्तकें छप चुकी हैं और वह दिन दूर नहीं है जब कि 'गिनीज़ बुक आफ़ वर्ल्ड रिकार्ड्स' में इनका नाम छपा हुआ मिलेगा। चौथे संपादक वे है जो पत्रिका का वार्षिक या आजीवन चंदा बटोरते है और उसके बाद एक शानदार अंक निकालते हैं जो प्राय: उस पत्रिका का अन्तिम अंक भी होता है। किसी भी लेखक को, इन चारों संपादकों से प्राय: कुछ नहीं मिलता। हाँ, इन्होंने अपने बंग्ले ज़रूर बनवा लिए, प्रेस खोल लिए और एक संपादक ने तो अपने मालिक-मकान का मकान और उसकी पत्नी—दोनों का दाखिल-ख़ारिज भी अपने नाम में ही करवा लिया। अब आप ही बताइए कि क्या सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, बख़्शी जी या बनारसीदास चतुर्वेदी इन संपादकों का मुकाबला कभी कर सकते हैं?

संपादकों को छोड़ता हूँ और ज़ायका बदलने के लिए, प्रकाशकों को पकड़ता हूँ। मैंने अपनी शुरू की कई पुस्तकें अपने खर्चे पर ही छपाई और उनमें लगाया पैसा, आजतक नहीं लौटा। इनमें से दो पुस्तकों के द्वितीय संस्करण भी हुए और उसके फलस्वरूप मुझे डेढ़ हज़ार रुपये और कुछ किताबें मिलीं। उन दिनों किताबों की कीमत कम होता थी और रुपये की कीमत ज़्यादा होती थी। धीरे-धीरे किताबों की कीमत बढ़ती गई और लेखक की कीमत घटती गई। मैं किताब के बाद किताब लिखता गया और विभिन्न प्रकाशक देर-सबेर उन्हें प्रकाश में लाते गए। हिंदी के सभी

बड़े प्रकाशकों ने मुझे छापा पर ईमानदारी जो बरती, वह मात्र दो ने ही बरती। इस वर्ष एक प्रकाशक ने मुझे रायल्टी के रूप में मात्र बारह रुपयों की महान् राशि भेजी है। एक दूसरे प्रकाशक ने छह पुस्तकों की रायल्टी दो सौ साठ रुपये भेजी है। इनके पास मेरा कुल स्टाक मात्र लगभग तीन हज़ार प्रतियों का है और यदि बिक्री की गति यही रही तो इस स्टाक को ख़त्म होने में पचास वर्ष लगेंगे क्योंकि प्रतिवर्ष मात्र लगभग साठ प्रतियां ही बिकती हैं। इस प्रकाशक ने मुझे सचमुच अमर कर दिया क्योंकि जब मैं दिवंगत हो चुका हूँगा तब भी मेरी कालजयी कृतियां, दरियागंज और करौल बाग़ के फुटपाथों पर, रद्दी के भाव आपको मिलती रहेंगी। तीसरे प्रकाशक से रायल्टी कम होने का कारण पूछा तो उन्होंने मुझे काफ़ी कड़े शब्दों में बताया कि ये मेरे जैसे शंकाग्रस्त लेखक ही हैं जो ईमानदार प्रकाशकों के चरित्र को गिराते हैं और उन्हें मातृभाषा की सेवा नहीं करने देते। चौथे प्रकाशक जो हैं वे रायल्टी के बारे में (जो प्रत्येक वर्ष घटती जा रही है) मात्र एक ही बात कहते हैं कि 'मैं किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहता। क्या आप हमारी ईमानदारी पर शक करते हैं? नई पुस्तक दीजिए और फिर देखिए कि क्या होता है!' कुल मिला कर स्थिति यह है कि छियालीस पुस्तकों के इस महान् लेखक को (जिसे डॉ० शुकदेवसिंह हिंदी के जीवित लेखकों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं 'क्योंकि मेरी काफ़ी किताबें छप चुकी हैं') इस वर्ष बारह हज़ार छः सौ रुपयों की रायल्टी मिली जिसमें से सात हज़ार सात सौ रुपयों की रायल्टी अकेले एक ही प्रकाशक ने दी। औसत लगाया जाये तो प्रति पुस्तक मुझे दो सौ चवहत्तर रुपयों की रायल्टी मिली। एक मैं हूँ और एक अंग्रेजी लेखक खुशवंतसिंह हैं जिन्हें अखबारी कालमों से बेतहाशा पैसा मिलता है और अपने नए उपन्यास के लिए जिन्हें प्रकाशक ने चालीस हज़ार रुपया एडवांस में दिया है। खुशवंतसिंह ठीक ही कहते हैं कि लिखना है तो अंग्रेजी में लिखो। उनका यह उपन्यास (दी कम्पनी आफ़ वीमेन) छप गया है और एक हाईकोर्ट ने केंद्रीय गृहमंत्रालय को कहा है कि इसकी बिक्री पर रोक लगाई जाए। सच्ची बात तो यह है कि मैं भी चाहता हूं कि मेरी भी किसी पुस्तक या रचना पर प्रतिबंध लग जाए ताकि मैं भी पण्डित सुन्दरलाल, मंटो, इस्मत चुगताई, इब्ने इंशा, सल्मान रुशदी तथा कुमारी तस्लीमा नसरीन की पंक्ति में बैठ सकूं। किताब भी करोड़ों में बिकेगी और ख्याति जो होगी वह अलग। यशः प्रार्थी कवि। तो स्थिति यह है कि मेरी रायल्टी व पत्र-पत्रिकाओं से मिली आय, लगभग बीस हज़ार रुपया वार्षिक है जिस पर जो आयकर देना पड़ता है वह अलग। हाँ कोई पुरस्कार मिल जाए तो बात अलग है। यह उचित ही होगा कि अब मैं पुरस्कारों की ही चर्चा करूं। रायल्टी कम होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि हिंदी-भाषी क्षेत्र के लोग किताबें खरीदते ही नहीं।

पुरस्कारों की परंपरा इस देश में बड़ी पुरानी है। बल्लाल की अमर कृति 'भोजप्रबन्ध' के अनुसार राजा भोज श्रेष्ठ कवियों को एक-एक अक्षर के लिए एक-

एक लाख सोने की मुद्रा तक दे दिया करते थे (प्रत्यक्षरलक्षं ददौ) और इसी कारण संस्कृत के लगभग सारे महान् कवि अपनी-अपनी कविता लिए, उनके दरबार में खड़े रहते थे। हिंदी मे वीरगाथाकाल व रीतिकाल के प्राय: सभी कवि 'दरबारी' होते थे और कवि केशवदास ने तो इतना धन कमाया था कि उसका रिकार्ड तो काका हाथरसी भी शायद नहीं तोड़ पाए। आज़ादी के बाद, न जाने कितने छोटे-बड़े पुरस्कार, या तो केंद्रीय सरकार व राज्यों की सरकारों ने खोले या फिर श्रेष्ठ (सेठ) लोगों ने शुरू किए। श्रेष्ठ लोगों के पुरस्कार बहुत बड़ी राशि के है और विभिन्न सरकारें चाहते हुए भी 'महाजनो येन गत: स पंथा:' वाले नीतिवाक्य का अनुसरण नहीं कर सकी क्योंकि न तो उन्हे आय-कर से बचना है और न उनके पास नि:स्वार्थ चापलूसों की कमी है। बहरहाल पुरस्कार इतने ज़्यादा है कि बिना किसी सिफ़ारिश, तिकड़म व दलाली के, लगभग डेढ़ लाख के पुरस्कार तो मुझ जैसे मुँहफट व्यक्ति को भी मिल गए। आगे भी मिलेंगे यह भी मै जानता हूँ क्योंकि मेरे जन्मस्थान में सूर्य परम उच्च स्थान पर है हालांकि साथ मे राहु होने के कारण मेरा पूरा हक, न मुझे कभी मिला है, न कभी मिलेगा। अपनी कविता के लिए मुझे साहित्य-अकादमी एवार्ड मिलना ही है और उसमें कोई भी ब्रह्मराक्षस बाधा नहीं डाल सकता, चाहे वह कितना भी नामवर क्यों न हो। ईश्वर के दरबार में देर हो सकती है पर अंधेर नही। अगर परसाई जी बोले हुए अक्षर तक का पैसा वसूल करते थे तो मैं अधिकारी होते हुए भी, लिखे हुए शब्द का, अपना वाजिब हक क्यों न उम्मीद करूँ?

हिंदी में पुरस्कारों का व्याकरण समझना कठिन है। न जाने कितने ही अत्यंत श्रेष्ठ लेखक उपेक्षित पड़े हैं जब कि कुछ करटक व दमनक है जो थर्ड रेट होते हुए भी लाखों-लाखों के पुरस्कार हर साल लूट रहे हैं। एक पुरस्कार मिलता है तो दूसरा व तीसरा पुरस्कार भी स्वयं खिंचा चला आता है। यह धांधलेगर्दी हमेशा नहीं चल सकती। 'निराला' को 'महाप्राण' कह-कह कर कुछ मिडिलिचियों ने वक्त से पहिले ही मार दिया (परसाई), पर क्या वह महान् कवि किसी भी एवार्ड के लायक नही था? मैंने तो एक-एक हज़ार के पुरस्कार भी लिए हैं और अब भी लेता हूँ। मैं डॉ० रामविलास शर्मा नहीं हूँ जो हिंदी के जीवित लेखकों में सब से बड़े विद्वान, भाषाशास्त्री व समीक्षक हैं और जो लाखों का पुरस्कार पाने पर, सम्मान तो सहेज कर रख लेते हैं पर पुरस्कार की राशि 'साक्षरता के प्रसार के लिए' लौटा देते हैं और उनके इस त्याग को उनके प्रकाशक अपने सूचीपत्र में बराबर छापते हैं। मै माननीय डॉ० शर्मा को वही उत्तर दूंगा जो कभी नैपोलियन बोनापार्ट ने स्पेन के राजदूत को दिया था। भविष्य में सम्मान शर्मा जी अपने पास रख लिया करें और पुरस्कार की राशि मुझे भेज दिया करें क्योंकि उन्हें सम्मान की कमी खलती है तो मुझे धन की।

मैं सरकार का काफ़ी बड़ा ब्यूरोक्रैट था। पेंशन जो मिलती है वह मेरी पत्नी से भी कहीं ज्यादा मोटी है। मेरा बंग्ला काफ़ी बड़ा और सुन्दर है जिसके भीतर मेरी

लाइब्रेरी है और बाहर आम, लीची तथा दीगर वृक्षों का उपवन है। मैं सुरुचि से रहता हूं और मुझे 'निराला' बनने का कोई शौक नहीं है। जिस देश में चालीस करोड़ लोग ग़रीबी की रेखा के नीचे रहते हैं, वहाँ साहित्य को रच कर और ज़्यादा धन की आशा करना शर्मनाक है—यह भी मै जानता हूँ। मगर मैं लाचार हूँ। मोटर में काफ़ी काम होना है और बंग्ले की छत ठीक करानी है। मैं किसी हद तक उस ग़रीब अमीरज़ादे की तरह हूँ जिसके दो ड्राइवर, पाँच नौकर, दो चौकीदार, दो खानसामा, तीन माली, एक आया, तीन रखैल व दो बावर्ची—सब के सब ग़रीब थे। सुभाष मुखोपाध्याय के अनुसार उनका तो संसार ही पुरस्कारों पर निर्भर है। मै शाकाहारी व्यक्ति हूँ जिसने न कभी मदिरा पी और न कभी रिश्वत ली। मगर यश और धन की तृष्णा कभी नही मिटती। तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा: (भर्तृहरि)।

पुरस्कार मिलने पर जो खुशी मिलती है वह किसी और तरह नही मिलती। यश का यश और धन का धन। हॉ, अगर कोई पुरस्कार किसी घटिया लेखक को मिलता है तो उससे मुझे क्षोभ होता है। मगर स्थिति यह है कि काफ़ी पुरस्कार घटिया लोगों द्वारा ही हथियाए जा रहे है। श्रीलाल शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि हिंदी मे लेखन-कार्य करना नरक है। एक हम लोग हैं और दूसरी तरफ़ वे लोग हैं जो फ़िल्मों के संवाद लिख-लिख कर लाखों कमा रहे है और विदेशी लेखक जो है वे तो अरबों कमाते है। पता नही मैं क्यों इस देश में पैदा हुआ और लेखक बना। विधिरहो बलवान् इति मे मति:।

मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि अगले जन्म में मुझे वह लेखक न बनाए। जाली नोट बनाने वाला उस्ताद बनाए या जेबकतरा बनाए। इस जन्म मे भी मुझे, जयशंकर 'प्रसाद' की अपेक्षा, प्रसिद्ध ठग नटवरलाल कही ज्यादा अच्छा लगता है। बहरहाल इस जन्म में तो मैं लेखक ही रहूँगा। साहित्य-सृजन भी एक नशा ही होता है और कुछ नहीं। और नशा छूटना कितना मुश्किल है, यह आप जानते ही हैं। उस्ताद 'ज़ौक' का कलाम भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है:

ऐ ज़ौक, देख दुख़्तरे-रज़ को न मुँह लगा
छुटती नहीं है मुँह से, ये काफ़िर लगी हुई।

□

हर वह रचनाकार विनम्र होगा जिसके पास रचना है: कमलेश्वर

रूपसिंह चंदेल

'गगनाञ्चल' के विश्व हिंदी विशेषांक में वरिष्ठ साहित्यकार कमलेश्वर के नव्यतम उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' का अंश तथा 'हिंदी को हिंदी से बचाना ज़रूरी है' शीर्षक आलेख पाठक पढ़ चुके हैं। कमलेश्वर हिंदी के उन साहित्यकारों में प्रमुख हैं जो लेखन के उद्देश्य को पूरी तरह अर्जित करने में सफल रहे हैं। कहानी-संग्रह, उपन्यास, आलोचना, यात्रा-वृत्तांत, आत्मकथात्मक संस्मरण तथा भारतीय भाषाओं की शीर्ष कथाओं के कोश के संपादन आदि विधाओं में लगभग 50 पुस्तकों के लेखक कमलेश्वर ने अपने समय की महत्त्वपूर्ण कथा-पत्रिकाओं 'सारिका', 'नई कहानियां' आदि का संपादन किया तथा अनेक दैनिक समाचार-पत्रों का भी। हिंदी फिल्मों के लेखन में भी वे सक्रिय रहे हैं तथा उन्होंने लगभग 100 फिल्मों का लेखन किया, इनमें 'अमानुष', 'मौसम', 'आंधी' तथा 'द बर्निंग ट्रेन' जैसी चर्चित फिल्में भी शामिल हैं। दूरदर्शन के पहले पटकथा लेखक होने के साथ-साथ कमलेश्वर का 'परिक्रमा' अत्यंत दर्शनीय और रेखांकनीय कार्यक्रम रहा। भारतीय दूरदर्शन के एडीशनल डायरेक्टर जनरल (1979-82) रहे कमलेश्वर ने 'चंद्रकांता', 'युग' और 'बेताल पचीसी' जैसे अनेक सफलतम धारावाहिकों का लेखन भी किया।

कमलेश्वर के लेखन के दो रूप पाठक 'गगनाञ्चल' के

पिछले अंक में पा चुके हैं। अब प्रस्तुत है कमलेश्वर का वह सम्यक् लेखक रूप जिसमें वे अपने समय, समाज, विचार और साहित्य पर खुलकर स्वयं को व्यक्त करते हैं तथा अन्यों को प्रेरित भी। हिंदी के चर्चित लेखक रूपसिंह चंदेल ने कमलेश्वर के कई साहित्यिक रूपों को छुआ और छेड़ा है तथा कमलेश्वर ने अपने उत्तरों को मूर्तिवत् नहीं, जीवंत शब्दों में अवतरित किया है। प्रस्तुत है यह बातचीत।

रूपसिंह चंदेल : आप 'नई कहानी' आंदोलन के प्रमुख स्थापक रहे है, फिर आपने 'समांतर कहानी' आंदोलन की आवश्यकता क्यों अनुभव की?

कमलेश्वर : शब्द तो कोई भी हो सकता है। 'समांतर' शब्द मराठी का है, हिंदी में है 'समानांतर'। उस समय, नई कहानी के बाद, जितने हिंदी कहानी आंदोलन है, मै उन सबको महत्त्व देता हूं। लेकिन महत्त्व देने का यह मतलब नहीं कि मैं उनसे सहमत हूं। मेरी असहमतियां अपनी जगह हैं और उनको महत्त्वपूर्ण मानना अपनी जगह। जैसे कि, मैं रास्ते में चलता हूं या किसी लंबी यात्रा में निकलता हूं पैदल, तो हर पेड़ के नीचे बैठकर मै उसकी छाया में विश्राम नहीं करता। लेकिन जिस पेड़ की छाया में बैठकर विश्राम करता हूं वह पेड़ मुझे याद रहता है। यानी उन तमाम चीजों को याद रखना जरूरी नही होता, लेकिन यात्रा में मिले पेड़ों के लिए यह कह देना कि पेड़ थे ही नही, यह भी गलत है। ऐसी स्थिति में जितने भी आंदोलन आए—अकथा का आया, अकहानी का आया, नई कहानी के विरोध में सचेतन कहानी आंदोलन आया, उसके साथ-साथ एब्सर्ड कहानियों का, उसके बाद एकांतवादी कहानियों का, अस्तित्ववादी कहानियों का आंदोलन आया...साठोत्तरी कहानियों का...तो जितने भी आंदोलन आये, उसमें एक चीज मुझे दिखायी दी, वह है मनुष्य, जिसके प्रति हिंदी का पूरा कथा साहित्य...मात्र कहानी नहीं, पूरा कथा साहित्य प्रतिश्रुत था, वह मनुष्य गायब होता जा रहा था। उसका संघर्ष गायब होता चला जा रहा था, उसके दु:ख-सुख गायब होते चले जा रहे थे। संवेदना यानी संक्षिप्त संवेदना नहीं दिखाई दे रही थी, बल्कि तार्किक और जिसे कहना चाहिए कि एक ठंडी संवेदना भी नहीं, बल्कि एक ठंडी दृष्टि दिखाई पड़ रही थी। जो व्यक्तिवादी चरित्र आने शुरू हुए थे... अगर आप कहानी को भी याद करें तो उनमें से एक काफी महत्त्वपूर्ण कहानी थी, जिसमें एक नौजवान अपनी आत्महत्या के लिए जगह तलाश करता है। आत्महत्या करनेवाले का 'साइक्लोजिकल' सत्य यह नही है। उसे जहां जगह मिलेगी, वहां आत्महत्या

कर लेगा। वह किसी दफ्तर की ऊंची बिल्डिग से छलांग क्यों लगाता है; नदी में क्यों कूद पड़ता है; पंखे से क्यो लटक जाता है... वह मरने की जगह नहीं तलाशता। लेकिन यह बुद्धिवादी आकलन है। मृत्यु का वर्णन करनेवाले एक निगेटिव पात्र का आना तर्कसम्मत है... लेकिन सच यह नहीं हो सकता। यह एक बनाया हुआ सच है। निर्मित सच है, जो आपको चमत्कृत करता है कि अच्छा ! एक आदमी आत्महत्या के लिए परेशान है...और अंततः एक दोस्त का कमरा उसे आत्महत्या के लिए मिलता है। फिर भी वह आत्महत्या नहीं कर पाता। आपने देखा होगा, उन्ही दिनो साहित्य में प्रतीक (सिंबल्स) आने शुरू हुए थे। वे सिंबल्स एकाएक बदल गये थे। कहानियों में, घरों या कस्बों के घरों में, या शहरों में भी... अपने दूर के रिश्तो को चिट्ठी लिखे जाने के जो संबंध थे वे मानवीय संबंध सूख रहे थे। उन सूखे हुए संबंधों में जो सिंबल्स आ रहे थे—उनमें उन लेखकों को कंकरीट के जंगल नही दिखाई दे रहे थे बल्कि उन कंकरीट के जंगलों की गलियों में भागती हुई कुतियां दिखाई पड़ रही थी, या तिलचट्टे दिखाई पड़ रहे थे। तिलचट्टे उलट जाते थे तो फिर सीधे नहीं होते थे। वे जो कुतियां थी—वे अपनी दोनों टांगों के बीच पूंछ दबाये भागती थीं। ये सब क्या कह रही थीं! ये जो बिंब थे—ये क्या कह रहे थे? नीले अंधेरो मे शांति पीते हुए... मै निर्मल वर्मा का बखान नही कर रहा हूं, क्योंकि निर्मल को बहुत बुरी तरह से कॉपी किया गया है... यानी जो 'ऑरिजनल' निर्मल वर्मा हैं, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। लेकिन जितना उसका उल्था किया गया है वह बहुत ही घटिया है। कहने का मतलब यह कि कहानी में 'दो अंगुल जगह' की तलाश होने लगी और वह दो अंगुल जगह की तलाश पहले मेज के नीचे हल्के नीले अंधेरे मे... घुटनो के सहारे होती थी, फिर बांये हाथ के सहारे होने लगी। इस प्रकार यह जो अजीब-सी दुनिया आ रही थी—यह अपने समय और हमारे अपने समय के समुदाय के व्यक्ति का औसत सत्य नहीं था। विशिष्ट सत्य को आप व्यापक सत्य बनाने का प्रयास कर रहे थे। उदाहरण के लिए, आज के अखबार में एक रिपोर्ट है कि हमारे स्कूलों-कॉलेजों में 'टीन एजर्स' इक्कीस वर्ष से पहले ही... उनमें से 93% लड़कियां सेक्स का अनुभव प्राप्त कर चुकती हैं और 'एबोर्सस' होते हैं। हम इसको लेकर चेतस तो होते है... हमें लगता है कि ऐसा हो रहा है! लेकिन यह आपके अपने समय और उस स्थिति का औसत सत्य नहीं है। आपने तीन लड़कियां पकड़ लीं, वे उन्मुक्त हो चुकी हैं अपने परिवार से... जिनके पास से परिवार की हया, शर्म, लगाव, रिश्ते टूट चुके हैं। अगर आप किसी बस्ती विशेष की वेश्याओं से पूछें तो वे आपको अपने मां होने का दर्द नहीं बता पायेंगी। लेकिन वह दर्द पूरे समाज के दर्द का एक

हिस्सा होते हुए भी पूरे समाज का दर्द नहीं है। मेरा मतलब है कि तब तक, जब तक आप अपने समय के औसत सत्य को नहीं देख पाते... जो सामान्य सत्य, जो दिखाई न पड़ता हो, लेकिन आपको सामान्य लगता हो...ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि जब इस तरह के पात्र, स्थितियां, इस तरह के तर्कहीन तर्क, जो चमत्कृत करने के लिए आये थे... तो यह लगा था कि वह (आम) आदमी कहां चला गया? अमरकांत का वह 'डिप्टी कलक्टर' का सपना पालनेवाला बाप कहां गया, 'दोपहर का भोजन' के समय खाना देनेवाली मां कहां गयी, या शेखर जोशी का 'दाज्यू' कहां गया... मार्कण्डेय के 'गुलरा के बाबा' कहां खो गये... नही? या मोहन राकेश का 'मलबे का आदमी' कहां चला गया... मन्नू भंडारी की 'यही सच है' की लड़की कहां चली गयी... जो हमारे बड़े सच थे। तो लगा कि अगर ये सब कहानी से तिरोहित हो रहे है तो इनकी पहचान... इनको दोबारा देखा जाना चाहिए। और यही 'समांतर' था, जो कि समानांतर रूप से चली। उन्मुक्त रूप से... चाहे वह समाज हो, अर्थतंत्र, राजनीति-तंत्र हो... चाहे वह सामाजिक विषमताएं हों... चाहे अपमान-अवमानना की स्थितियां हों। अतः समान रूप से... समानांतर रूप से, उस दृष्टि को लेकर तमाम अपने दौर की औसत सच्चाइयों को देखते हुए, उस मनुष्य की दोबारा पहचान स्थापित करना... यही 'समांतर कहानी' का मुख्य उद्देश्य था और यही आवश्यकता थी।

रूपसिंह चंदेल : आज हिंदी कहानी जहां अवस्थित है उसमें 'समांतर कहानी' की क्या कोई भूमिका आप देखते है?

कमलेश्वर : देखिए चंदेल जी, अगर मै यह बात कहूंगा तो यह बड़ी बात मानी जायेगी... बड़बोली कही जायेगी।

रूपसिंह चंदेल : अगर मै यह कहूं कि मैं ऐसा मानता हूं कि 'समांतर कहानी' की भूमिका है...

कमलेश्वर : इस विषय में एक उदाहरण दे रहा हूं। जिस समय महेश दर्पण ने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी के दो बड़े संग्रह संपादित किए तो इत्तफाक से मै उन दिनों दिल्ली में ही था। महेश ने इसके लोकार्पण के लिए मुझसे कहा, जो कि मैने कर दिया, क्योंकि मुझे तो कहानियों से लेना-देना था। उसके बाद प्रदीप पंत ने उन करीब डेढ़ सौ संकलित कहानियों मे से गिनकर बताया कि उनमें से अट्ठासी कहानियां समांतर आंदोलन के दौरान की कहानियां है। घर आकर मैने दोनों संकलनों में से इस बात की जानकारी ली। आप कह रहे है कि यह आपका सोचना है, लेकिन यदि मैं कहूंगा तो चूंकि मैं आंदोलन का... माना जाता हूं... तो यह 'ज्यादती' हिंदी के साथ मैंने ही की थी। (हंसी)

रूपसिंह चंदेल : हाल में प्रकाशित अपने एक आलेख में मैंने उल्लेख किया है कि आज की कहानी जहां अवस्थित है, उसके पीछे 'समांतर कहानी' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। चूंकि आम आदमी कहानी से गायब हो चुका था और वह आम आदमी 'समांतर कहानी' के कारण ही वापस आया और आज चूंकि आम आदमी से जुड़ी कहानियां ही अधिकांशतया आ रही है तो यह 'समांतर कहानी' के कारण ही संभव हुआ।

कमलेश्वर : आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। मैं आपकी इस बात को रेखांकित करता हूं, इसलिए नही कि इससे मुझको शक्ति मिलती है। जब मैं आज की कहानियां पढ़ता हूं तो मुझे अपने शहर के, महानगर के... धूर्त नहीं दिखाई पड़ते। धूर्त दिखाई भी पड़ेंगे तो चरित्र के रूप में आ जायेंगे, लेकिन जिंदगी को सहते हुए... जिदगी को बर्दाश्त करते हुए, जिन्दगी से जूझते हुए जो पात्र मुझे दिखाई पड़ते हैं, जो चरित्र मुझे नजर आते हैं, जो माहौल, जो वातावरण, जो दुनिया मुझे नजर आती है वह दुनिया ही समांतर की दुनिया थी और इसीलिए कहीं अंदर ही अंदर मैं अपने को पूर्ण महसूस कर रहा हूं।

रूपसिंह चंदेल : 'नई कहानी' की जब भी चर्चा होती है, मुख्य रूप से तीन नाम ही सामने आते हैं—आप, राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश। कहते हैं कि आप तीनों की चर्चा के कारण कुछ नाम उभर नहीं पाये और अंतत: असामयिक साहित्यिक मृत्यु का शिकार हो गये?

कमलेश्वर : मेरे ख्याल से कुछ हद तक यह सही है। इसलिए कि इन तीन नामों पर 'नई कहानी' की पूरी पहचान केंद्रित हो गयी। मेरे कहने का मतलब यह है कि हम तीन लोगों पर सभी का ध्यान अधिक केंद्रित हुआ, लेकिन उसके साथ-साथ कोई अमरकांत को नहीं रोक पाया, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, शिवप्रसाद सिह, शेखर जोशी और मन्नू भंडारी को नही रोक पाया। लेकिन वे लोग जिनमे कहानी लेखन की निरंतरता नहीं थी, वे छूटते गये। जिसमें ओमप्रकाश श्रीवास्तव भी हैं, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कमल जोशी, श्रीमती कल्पना... अनेक नाम हैं। इसका यह मतलब नहीं कि इन तीन नामों ने लोगों को उभरने नहीं दिया। यह आज के संदर्भ में उतना ही सत्य है। लेकिन यह भी सही है कि इन तीन लेखकों की औसतन जो कमजोर कहानियां हैं—उनकी चर्चा भी नहीं होती।

रूपसिंह चंदेल : 'नई कहानी' के समानांतर एक और कथा धारा उभरी—'आंचलिक कहानी', जिसमें कुछ ऐसे भी रचनाकार थे जो 'नई कहानी' से भी जुड़े थे। लेकिन आंचलिक कहानी, जो आज भी लिखी जा रही है, किसी आंदोलन का रूप क्यों नहीं ले सकी?

कमलेश्वर : वह इसलिए नहीं ले सकी, क्योंकि आंचलिक कहानी में जो अधिकांश... यानी उसका जो हिस्सा भाषाई लोक का, और भाषा की एक अनुपम खूबसूरती होती है, उसका प्रभाव आंचलिकता मे अधिक है। जब रेणु का 'मैला आंचल' आया था मैं उस समय राजकमल प्रकाशन में संपादक हुआ करता था इलाहाबाद में। इसका जो पहला संस्करण था, मै बता दूं, उसमे फुटनोट में उसी तरह मैथिली के शब्दों के अर्थ दिए गये थे जैसे उर्दू ग़ज़लों में दिए जाते है। शिवदानसिंह चौहान ने भी उसे पढ़ा था। उसे पढ़कर मैंने कहा था कि यदि फुटनोट दिए गये तो कहानी की लय टूट जायेगी। रेणु ने इतनी खूबसूरत भाषा लिखी थी कि अपने वाक्य-विन्यास में जहां पर शब्द जुड़ा हुआ था वहां वह शब्द नया होते हुए भी अपने अर्थ दे देता था। इसलिए ये फुटनोट्स हटा दिए जायें। राहुल सांस्कृत्यायन जी ने कहा था कि हिंदी कोई भाषा नहीं है, हिंदी एक भाषा-मंडल है। जब तक अन्य भाषाओं के शब्द नही आयेंगे, तब तक हिंदी समृद्ध कैसे होगी? तो आंचलिक कहानी लेखक, जो इस आंदोलन से भी जुड़े रहे, उससे भी जुड़े रहे... मुझे लगता है कि इसमें पहचान की उतनी बड़ी जरूरत नहीं थी, बल्कि अपने-अपने अंचलों में जाकर अपने अनुभवजन्य सत्य की तलाश ही आंचलिक कहानियों मे है। इसलिए यदि उनकी आंचलिक कथाकारों के रूप में पहचान नहीं बनी तो यह कोई गलत बात नहीं। क्योंकि आंदोलन जो थे वे सिद्धांत, विचार और कथ्य के थे, मूल रूप से शैली, शिल्प और भाषा के नहीं थे। उन्होंने क्षेत्र विशेष और भाषा की अपनी जो खूबसूरती होती है, उसमें कहानियां लिखी। और इस प्रकार अपनी भाषा की अनुपम खूबसूरती के साथ ही साथ राहुल जी के कहे अनुसार, वे हिंदी के भाषा-मंडल की कहानियां हैं।

रूपसिंह चंदेल : साहित्य के प्रति पाठकों की घटती रुचि के पीछे कौन से कारण मुख्य हैं?

कमलेश्वर : चार-पांच कारण हैं। पहला कारण तो हमारी शिक्षा नीति है। दूसरा कारण हमारे लेखकों ने पैदा किया है और वह है अपने समय की भाषा न लिखकर, व्यक्तिगत भाषा लिखना जो प्रयोगवाद के नाम पर हमारे यहां आई। आज भी कुछ उपन्यासों में हमें वह भाषा दिखाई पड़ती है। वह भाषा हम तो पढ़ लेंगे लेकिन दूसरे लोग नहीं पढ़ेंगे। तीसरा हिंदी का सरकारी राजकाज का रूप आया। चौथा कारण किताबों की थोक खरीद से जुड़ा हुआ है। पांचवां कारण पुस्तकों के भेजे जाने और कागजों की कीमत बढ़ने के कारण किताबों के दाम अधिक रखने से संबद्ध है।

एक उदाहरण दे रहा हूं। मेरे पास बनारस से किसी प्रकाशक ने पुस्तक भेजी है और उसके साथ एक बंडल है। रसीद आपको दिखा सकता हूं—तीन

सौ रुपए वहां से यहां तक पहुंचने में लगे हैं। जब तीन सौ रुपए उसे यहां आने में लगे हैं तब किताब पर पचास रुपए तो चले ही जायेंगे। तो ये कारण हैं। एक बात पुस्तकों की बिक्री की कही जाती है। आज आप देखें, जो तकनीकी लेखन है उसके पाठकों की कोई कमी नहीं है। किताबें तो बिक रही हैं। हां, कहा जा सकता है कि पाठकों की रुचियां बदली हैं। रुचियों के हिसाब से हिंदी में साहित्यिक लेखन के अलावा हिंदी के विशिष्ट लेखन का वह (तकनीकी लेखन) अंग बना है। और वह पढ़ा जाता है। बच्चों की पुस्तकें बिकती हैं। नाटक और यात्रा-विवरण बिकते हैं। हिमांशु जोशी की जो पुस्तक अण्डेमान निकोबार पर छपी है, उसका बहुत कम समय में तीसरा संस्करण हो रहा है। छोटी-सी किताब है, लेकिन बहुत ही आत्मीय किताब है। हमारे स्वतंत्रता सेनानियों का संवेदनात्मक वर्णन है उसमें। कहना होगा कि पाठकों की 'मूवेबिलिटी' बढ़ी है। दूसरा यह कि भविष्य का यह एक रूप भी सामने है: एक ही घर में— एक अंग्रेजी पढ़नेवाला, एक बी० एड० की डिग्री तलाशनेवाला, एक दुकान के लिए आढ़त के माल का हिसाब रखनेवाला और एक, जो बाप है वह मोटर मेकेनिक है, जो गैराज में काम करता है... घर में समान-शिक्षा और समान-संस्कार की कमी आई है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हमारे परिवार संस्कारहीन हो गये हैं... हां, उनके संस्कार विभाजित अवश्य हुए हैं। ऐसी स्थितियों में जो अच्छा उपन्यास एम० ए० में पढ़नेवाली बहन के काम आता है, बी० एड० की डिग्री लेनेवाले भाई के काम नही आता। उसकी मानसिकता के साथ नहीं जुड़ता। फिर जो बच्चे अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ रहे है उन्हें हिंदी समझ में नहीं आती। बच्चे की जरूरतें क्या है, यह देखने की बात है। मेरे ऊपरवाले मकान में एक बच्चा रहता है। वह प्रतिदिन मेरे पास आता था और तार के बने कछुए और बिच्छू से खेलता और बिना बोले चला जाता। एक दिन उसे यहां एक पुस्तक मिली, जिसमें पक्षियों के चित्र थे। उसे पढ़ना नहीं आता, लेकिन वह खिलौनों से खेलना बंद कर उस किताब के चित्रों को देखने लगा। यह सिलसिला कम से कम पचीस दिन चला। अर्थात् उसकी जरूरत अब वहां पूरी हो रही थी। मैं कहना चाहता हूं कि वह डॉ० चंदेल को नहीं जानता। आपको नमस्ते नही करता, लेकिन वह आसमान में उड़ते पक्षी को पहचानता है और वह उसे उड़ता तब तक देखता रहता है, जब तक वह उसकी आंखों से ओझल नहीं हो जाता। तो यह जो जरूरतें हैं भाषा की, उसमें कहीं न कहीं हमारे लेखकों की भाषा ने उपद्रव मचाया हुआ है। यह जो आप पांच सितारा होटलों में देखते है—वहां आपको कुछ विचित्र-से कपड़े पहने लोग दिखाई दे जायेंगे। वैसे देखने में वे अच्छे है, चश्मा लगाए होंगे, लुक्स अच्छे होंगे, लेकिन आप पायेंगे कि कमीज जो

उन्होने पहन रखी है वह कमीज नहीं, फ्राक है। यही प्रवृत्ति हिंदी में भी पैदा हुई है और इसी ने सत्यानाश किया। अन्यथा आप मूलधारा मे चलते हुए किसी नदी को मोड़ देते हैं तो वह साहित्य का मोड़ कहलाता है। लेकिन अगर किसी नाली को मोड़ दें...! (अट्टहास)

रूपसिंह चंदेल : साहित्य में आज जो अनेक गुट दिख रहे हैं या यों कहे कि खेमेबाजी है—उसकी शुरुआत आप कब से मानते हैं? क्या कुछ ऐसा स्वतंत्रतापूर्व भी हुआ करता था?

कमलेश्वर : नही... मेरे ख्याल से हम लोग जब आये साहित्य मे, उससे पहले तो बिल्कुल ही नहीं था। उस समय स्वच्छंदतावाद को लेकर पंत, निराला, महादेवी—जिसे बाद में छायावाद नाम दिया गया, पर आरोप थे। पंत को स्वच्छंदतावादी माना गया। उसके बाद दिनकर जी आए, नवीन जी आए, द्विवेदी जी आए तो उनको स्वतंत्रता की धारा मे माना। लेकिन हुआ क्या कि 'नई कहानी' के आंदोलन के साथ और उसके बाद... शुरू होने पर नहीं, उसके थोड़े दिनों बाद... हम लोगों ने तो अपनी पिछली पीढ़ी की रचना की विशेषताएं देखी थीं, उन्हें पढ़ा था, समझने की कोशिश की थी... नहीं समझ पाये तो दूसरों से पूछते थे। लेकिन नई कहानी की ऐतिहासिक सफलता के बाद लोगों ने हमारी सफलताएं देखीं। रचना के कथ्य को और उसके कहने के ढंग को नहीं देखा। वे सफलताएं जो थीं वह कुछ ईर्ष्याओं मे और कुछ... शुरू वहीं से हुआ। वह चाहे आप 'नई कहानी' का दौर ले लीजिए या चाहे नई कविता का।

रूपसिंह चंदेल : इस प्रकार की खेमेबाजी क्या साहित्य के विकास मे बाधक नहीं है?

कमलेश्वर : बहुत बाधक हुआ। बाधक यह हुआ कि जिस खेमे में जो था उसने अपने खेमे की तरह या अपनी ही तरह की कहानियां या रचनाएं लिखी ताकि उसकी पहचान बनी रहे। मतलब, विशिष्ट बने रहने की जो मजबूरी है—उसमें एकरसता पैदा होती है।

रूपसिंह चंदेल : क्या आप मानते है कि जो साहित्यकार किसी गुट से नहीं जुड़ते, वे चर्चा से बाहर रहकर डूब जाते हैं या पाठकों द्वारा समादृत होकर गुटबाजों की अपेक्षा कहीं अधिक उचित स्थान पा सकने में समर्थ होते हैं?

कमलेश्वर : मुझे लगता है कि बाद मे जो वाक्य आपने कहा, वह अधिक सही है। आजकल अधिकांश जो गुटबाजी का साहित्य आ रहा है, समझिए कि वह एक तरह से तरकारी-सब्जी का मैदान है। काटा और बेचा! पालक खत्म हो

गया तो लौकी आ गयी, वह भी आनी बंद हो गयी तो उसकी जगह कद्दू आ जायेगा। मतलब यह कि इस तरह के लेखन की वजह से, एक तरह के प्लैंड लेखन की वजह से, दिक्कत यही पेश आई है कि वे तमाम चीजें जो कि निश्चित रूप से ज्यादा रचनात्मक और सृजनात्मक हैं, उनके ऊपर ध्यान नही दिया गया। आज जो परिदृश्य धुंधला दिखाई पड़ रहा है उसमें वे रचनाएं खड़ी हुई है। साहित्य की अनुपम रचनाएं या कालजयी रचनाएं कभी मरती नहीं है। वे अपना स्थान बना ही लेती हैं। आप मुझे बतायें कि हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के 'चारुचंद्र लेख' को या रेणु के 'मैला आंचल' को कोई खारिज कर सकता है? रेणु उससे पहले किस गुट में थे? कहने का मतलब यह कि कुछ चीजें थोड़ी देर के लिए धुंध में पड़ी रहती है, लेकिन उसके बाद... उसका कारण यह होता है कि जो मनीषा है आगे की, वह अपनी परंपरा तलाश लेती है। नहीं तो प्रेमचंद अपने जमाने में कलम-घिस्सू मुंशी माने जाते थे। प्रसाद की कहानियों के आगे प्रेमचंद की कहानियों की क्या औकात थी उस समय? लेकिन बाद में प्रेमचंद तलाशे गये कि नही? प्रेमचंद ने खुद को नहीं तलाशा... उन्हें उनकी अगली पीढ़ी ने तलाशा।

रूपसिंह चंदेल : गत दिनों हिंदी में 'उत्तरआधुनिकता' का बहुत शोर मचाया गया। आप 'उत्तरआधुनिकता' के विषय में क्या सोचते हैं और कितना और कैसा हिंदी साहित्य उसकी परिधि में आता है?

कमलेश्वर : आप एक चीज समझ लीजिए... जैसे इस समय उत्तरआधुनिकता— 'पोस्टमार्डनिज़्म' आया, हमारे यहां उसी प्रकार 1952-53-54 में अस्तित्ववाद आया था। सार्त्र की मानसिकता थी, जिसमें अधिकतर हीन मनुष्य... उनको छोटा दिखाई देता था। लेकिन भारत की अपनी सच्चाई को पहचाननेवाले लेखक... उस छोटे मनुष्य में भी अपने अधिकारों को प्राप्त करने की और अपनी जगह प्राप्त करने की जो लालसा थी, वह इतनी बड़ी थी कि उसे मनुष्य बड़ा दिखाई पड़ रहा था। यह देखने-देखने का फर्क था। इसी तरह उत्तरआधुनिकता है। अभी 'वैसे' बहुत उपन्यास आयेंगे... कि यह कीर्तिमान है उत्तरआधुनिकता का... उसके बाद यह कीर्तिमान... उसके बाद...! तो सवाल इस बात का है कि उत्तर आधुनिकता में जहां इतिहास का अंत कर दिया गया है... ईश्वर का अंत तो कांट ने पहले ही कर दिया था, लेकिन यह अंत कैसा? अभी हमारे अपने समाज में... जो कि पूरी तरह से आधुनिक नही हो पाया है... यहां उत्तरआधुनिक होने की स्थिति है कहां? अभी तक लोगों के पास साइकिल नहीं है और आप हैं कि 'सुपर जैट' की बात कर रहे है! यह आपके अनुभव का हिस्सा नहीं है। इसलिए 'उत्तरआधुनिकता' की

बात व्यर्थ है। हां, यह बात अलग है कि कुछ विचित्र नाम रखकर, कुछ इधर-उधर का कहकर, कुछ भाषा का चटखारा लेकर... जैसे आप महीने में पांच बार खाना खाने जाते हों बाहर, तो एक बार पावभाजी जरूर खायेंगे। क्योंकि भाजी में सब भाजियां मिली होती हैं। अलग भाजी का कोई 'टेस्ट' नहीं होता। तो यह भी एक अजीब तरह की पावभाजी है... जो बड़े तवे पर बन रही है, सिक रही है और बिक (भी) रही है...! (मुक्त हंसी)

रूपसिंह चंदेल : हमारी पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ी के रचनाकारों के विषय में आपके क्या विचार हैं? अधिकांश वरिष्ठ रचनाकारों का कथन है कि उनमें असहिष्णुता और असम्मान का भाव है और वे कम लिखकर अधिक पाने के प्रयास में समय का मूल्यवान अंश खर्च करते रहते है!

कमलेश्वर : मुझे ऐसा लगता है कि आपके और आपके बाद की पीढ़ी का हर वह रचनाकार विनम्र होगा, जिसके पास रचना है। असहिष्णु और विनम्रताहीन वही होगा जिसके पास रचना नहीं है... केवल महत्त्वाकांक्षा है।

रूपसिंह चंदेल : दूसरी भाषाओं के किन लेखकों ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया है?

कमलेश्वर : मैं दूसरी भाषाओं के सभी लेखकों के विषय में तो नही कह सकता, लेकिन अधिकांश लेखकों को मैंने पढ़ा है। कुछ वे जो मुझे अंग्रेजी में मिल गए... कुछ वे जो मुझे भारतीय भाषाओं से हिंदी में मिल गए। वे कहानियां जो मैं स्वयं 'सारिका' के दौरान संपादित करता रहा, बाद में 'शिखर कथाकोश' के जरिए प्रस्तुत करता रहा। इसी प्रकार मेरा संपर्क दलित साहित्य से हुआ। मुझे व्यक्तिगत रूप से दो चीजें अधिक प्रभावित करती हैं। एक तो दुष्यंत कुमार की ग़ज़लें... जो मेरा समकालीन था, और दूसरे हरिशंकर परसाई के व्यंग्य। कभी-कभी जब मैं परेशान होता हूं तो... आपको ताज्जुब नहीं होना चाहिए... मै निर्मल वर्मा, रामकुमार या कृष्णा सोबती की पुरानी कहानियों को पढ़ता हूं। अपने समकालीनों में मुझे वह सब मिलता है जो मै नहीं लिख सका हूं।

रूपसिंह चंदेल : हिंदी आलोचना के विषय मे आपकी क्या राय है? क्या वह निष्पक्ष है?

कमलेश्वर : हिंदी आलोचना है कहां? (हंसी)

रूपसिंह चंदेल : प्रायः देखने में आता है कि जिन रचनाकारों की किसी रचना विशेष का कोई आलोचक एक बार उल्लेख कर देता है, शेष आलोचक-लेखक भी उसी का उल्लेख करने लगते हैं; जबकि रचनाकार उल्लखित

रचना के बाद भी उस जैसी या उससे भी अच्छी रचनाएं लिखता है, लेकिन उनकी चर्चा नहीं की जाती। क्या यह माना जाये कि आलोचक अधिक पढ़ना नहीं चाहते और सहज उपलब्ध चीजों से काम चलाते हैं? यही नही, रचनाकारों के प्रति वे पूर्वाग्रह निर्मित करके काम करते हैं?

कमलेश्वर : आपने जो कहा वह बिल्कुल सही है। जो और जितना पढ़ लिया बस उतना ही। उसके बाद किसने क्या लिखा, यह वे जानना नहीं चाहते। मै यह नहीं कहता कि लेखक 'रामायण' के बाद 'विनय पत्रिका' लिखता है। यह तो एक घटना है। पहले 'रामायण' (रामचरित मानस) लिखी गयी, फिर 'विनय पत्रिका'। बहुतो ने 'विनय पत्रिकाएं' पहले लिखीं, 'रामायणें' बाद में लिखीं। तो अगर उन्होंने विनय पत्रिका पढ़ ली तो उनके लिए वही महान् हो गयी, रामायण पढ़ी ही नहीं। फिर एक ने दूसरे को पढ़ा... सवाल यह है कि पुस्तक कौन पढ़े? दूसरे आलोचक ने कुछ और पढ़ लिया, किसी अन्य ने कुछ और। जब उसने देखा कि इस पर बात करने से मैं महत्त्वपूर्ण आलोचक नहीं बन पा रहा हूं, तब उसने किसी दूसरे की 'विनय पत्रिका' उठा ली। (हंसी)

मैं समझता हूं कि उस तरह का जो लेखन है वह एक प्रकार की विनय पत्रिकाएं ही हैं, जो आलोचक के दरबार में रखी हुई है... (हंसते हुए)... जो जिसे पढ़ ले। आप किसी भी हिंदी आलोचक के घर चले जाइये। अगर आपको हिंदी रचनाओं की पुस्तकें बहुसंख्या में दिखाई पड़ जायें बनस्बित अंग्रेजी पुस्तकों के, तो मै अपनी आंखों पर पट्टी बांध लूंगा।

□

झुलसे साल-वनों का नाद

अशोक अग्रवाल

''काश! झोपड़ियोंवाली इसकी बस्ती तक
पहुंच पाते अपन
रातोंवाली अड्डेबाजी में साथ देते इसका
साखू के पत्तोंवाले दोने में साथ-साथ पीते सल्फी
चखते भुना हुआ गोश्त... साथ-साथ
फिर शायद खुलकर बातें करता यह हमसे...।''

—*नागार्जुन*

सुक्कू और मामा टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ियों पर चलते नही दौड़ लगाते है—कंधों पर 30-40 किलो वजन उठाये हुए। मैं और मेरे साथी हमेशा पीछे रह जाते हैं। चढ़ाई चढ़ते हांफते है, सुस्ताते हैं, और फिर उनका पीछा करते है। सुक्कू और मासा के साथ-साथ सहसा पगडंडी भी गायब। चारों तरफ साल, सागौन और बांस के झुरमुट। सूखे, हरे, गीले पत्तों की ऊबड़-खाबड़ चादर बिछी हुई। पैरों के निशान तक नहीं। किसी बस्ती या आदमी का दूर-दूर तक कोई चिह्न नहीं। शायद इसी कारण इसे 'अबूझमाड़' कहा जाता होगा—यानी वे पहाड़ियां जिन्हे बूझा न जा सके।

हम रास्ता तलाश रहे हैं कि सुक्कू और मासा एक साथ दिखाई देते हैं—आराम से साल के पेड़ से पीठ टिकाये बीड़ी फूंकते हुए। अपनी ओर आने का इशारा करते सुक्कू के दांत चमकते हैं। सुक्कू अठारह गांवों का कोटवार और मासा अपने गांव का पटेल। पूछने पर सुक्कू मिनट से भी कम समय में उन अठारह गांवों के नाम

गिनवाता चला जाता। वह ठहरा उन अठारह गांवों का राजा। उसका साम्राज्य पिछले तेरह साल से बिना किसी संकट के यथावत चला आ रहा है। हर गांव में उसने दो किताबें रखी हुई हैं। एक किताब में जन्म तथा दूसरी में मरण का हिसाब दर्ज करने की जिम्मेदारी सुक्कू की। उन गांवों का हर आदिवासी जानता है कि सुक्कू के हिसाब को भगवान भी गलत नही ठहरा सकता। उसे नाराज किया तो वह पहली किताब से नाम काटकर दूसरी में लिख देगा। फिर, वह लाख चिल्लाये, कही भी भागे, सुक्कू की कृपा के बिना उसे दुबारा कोई नही 'जिंदा' कर सकता। सुक्कू के ही जिम्मे किसी भी दुर्घटना की खबर पुलिस-चौकी तक पहुंचाना। इन कामों के बदले उसे साल में एक बार गांव के हर घर से पांच पल्ली धान मिलता है। सरकार की ओर से सुक्कू साल में छः सौ रुपये पाने का अधिकारी किंतु उसने आज तक एक भी पैसा नही लिया। सुक्कू का कहना—"गांव वाले लोग बोलते है यदि पैसे लोगे तो धान नही मिलेगा।" पैसों का वह क्या करे? उसे तो धान चाहिए। अठारह गांवों में इकलौता सुक्कू ही ऐसा जो टूटी-फूटी हिंदी में पुलिस और हाकिम से बातें कर सके। ... लेकिन सुक्कू आज बेहद दुःखी। उसकी सारी शान एक पल में धूल चाटने लगी। पटवारी ने गांव वालों के सामने उसे चांटा मारा। सुक्कू खामोश बैठने वाला नही। वह 'बारसूर' की पुलिस-चौकी में रपट लिखवाने के लिए निकला पर बीच रास्ते हमने उसे अपने साथ ले लिया।

मासा 'कोकापार' का पटेल लेकिन गांव के ही आदमी ने कल उसे पीट दिया। जेब से दो रुपये निकाल उस पर तीर भी चला दिया। मासा डरकर भागा। मासा की भेंट सुक्कू से हुई। सुक्कू उसकी रपट भी लिखवायेगा। फिलहाल, दोनों हमारे साथ। मासा एकदम चुप्प और हर बात का उत्तर हां... हूं... में ही। सरकार की ओर से उसे जो भी रुपये मिलते है (छत्तीस रुपये सालाना), वह पांच रुपये अपने पास रखकर बाकी गांव वालों को थमा देता है। रुपये नहीं देगा तो धान और मुर्गा कौन देगा? नमक भी तो चाहिए। उसके लिए झाड़ू, इमली और कटिया रस्सी ले उसे 'बारसूर' की हाट जाना ही होगा।

सुक्कू नीचे झुका। पके हुए अंजीर की तरह के तीन-चार फलों को उठा हमारी तरफ बढ़ाया। 'तोया' के पेड़ पर लगने वाला फल। मुलायम और मीठा। पहाड़ियों पर उगे पेड़ों के सघन झुंड धूप की तेज चिलचिलाहट को अपनी फुनगियों के ऊपर से वापिस लौटाते हुए। पत्तों के ऊपर गिरती बीच-खुची किरणें पीली, बीमार और क्षणों में प्राण तजने को तत्पर। घुमावदार पगडंडियों के बीच पहाड़ियां कभी तेजी से ढलान की तरफ लुढ़कती तो कभी पेड़ों की ऊंचाई तक चढ़ने लगती।

पता नही, कितनी देर ऐसे ही अनवरत चलते रहने का क्रम।

सुक्कू ने उंगली से इशारा किया, दूर पहाड़ी पर चमकते धुंधले बिंदुओं की ओर। 'हितवड़ा'... हमें बताने के बाद सुक्कू जल्दी-जल्दी बोलने के साथ-साथ मासा

को कुछ समझाने लगा। मासा ने सब कुछ समझने के भाव से हमें अपने पीछे आने का इशारा किया और आगे बढ़ लिया। सुक्कू ने दूसरी पगडंडी पकड़ ली। साथ चल रहे दुभाषिये गोगा ने बताया कि सुक्कू अपने सल्फी के पेड़ तक जा रहा है और मासा हमें 'हितावड़ा' ले जायेगा। सुक्कू को आवाज लगाते मैंने साथ चलने की अनुमति मांगी। सुक्कू शर्माते हुए हंसा और अपने पीछे चले आने का इशारा किया। मेरे साथ मासा के पीछे-पीछे और मै सुक्कू की पगडंडी की ओर लपका।

सुक्कू की चाल मेरे कारण धीमी। पगडंडी संकरी... और संकरी। कहीं-कही बेहद फिसलनदार उतराई। "सूरज छिपने तक हम 'हितावड़ा' पहुंच जायेंगे?" मेरी आशंका के उत्तर में उसने लापरवाही से गर्दन हिलाते हुए अपनी हथेली आगे बढ़ाई। अपनी सिगरेट मैंने उसके हाथ में पकड़ायी। सुक्कू ने सिगरेट को उलटा-पुलटा और फिर जोर-जोर से कश खीचे। सिगरेट का चौथाई हिस्सा भी समाप्त नही हुआ था कि उसे बुझा कान से टिका लिया और बीड़ी की मांग की।

सुक्कू का सल्फी का पेड़ आ गया। पत्तों के पीछे छिपी ऊंचाई पर लटकी तुम्बी। रस्सी के सहारे उसने तेजी से चढ़ना शुरू किया और कुछ ही क्षणों मे तुम्बी के साथ उतरता मेरे सामने आ खड़ा हुआ। इस बीच तीन आदिवासी वहां चले आए—पेड़ों के सघन झुरमुट के पीछे से प्रकट होते हुए। हम सभी उसी पेड़ के नीचे बैठे एक गोलाई में। सुक्कू ने पास पड़े बांस के छोटे टुकड़े को उठाया। चीरते हुए पत्थर के टुकड़े को बीच मे फंसाया। बांस के दूसरे टुकड़े को पहले के ऊपर टिका तेजी से रगड़ना शुरू किया। कुछ ही क्षणों मे हल्का धुआं निकलने लगा, फिर एक-दो चिंगारी। बांस के टुकड़े के निकले हुए रोयें-रेशे छोटी काली गोली में बदल गए। पास पड़े सूखे पत्तों पर सुक्कू ने उस गोली को गिरा दिया। पत्ते को मोड़ते हुए तेजी से दो-चार फूंके मारीं। देखते-देखते लपट ऊपर की ओर उठी। सूखे पत्तों के ढेर को करीब करते सुक्कू ने लपट को फैला दिया। दो आदिवासी उठे और एक दिशा में भागे। वापिस लौटे तो उनके हाथ में ढेर सारे साल के बीज थे। बीजों को उन्होंने लपटों के ऊपर रख दिया। सुक्कू ने फटाफट पत्तों के दोने बना डाले। भुने हुए बीजों को मुंह में रखते हम सभी सल्फी पीने लगे—बिना किसी स्वर और शब्द के, अपने-अपने आंतरिक आनंद में डूबे। तुम्बी गोलाई मे घूमती हुई सुक्कू के पास पहुंच ठहर जाती। सूरज छिपने तक यही क्रम चलता रहा।

सुक्कू और तीनों आदिवासी कुछ-कुछ खुमारी में डूब उठे। सुक्कू के बाजू में तुम्बी लटकी थी। 'जुहार' की आवाज के साथ चारों की अंगुलियां माथे तक उठीं और वे विपरीत दिशा में मुड़ गये। सुक्कू आगे बढ़ लिया।

मैं सुक्कू के पीछे-पीछे। मन के भीतर हिलोरें लेता भय कि सुक्कू ठहरा अपनी मरजी का मालिक। कहीं उसका मन 'हितावड़ा' की बजाय कहीं और जाने के लिए न मचल उठे। धीरे-धीरे घिरते आ रहे अंधियारे मे मस्ती से आगे बढ़ते सुक्कू की मटमैली लंगोटी मेरे लिए प्रकाश-स्तंभ का काम करती हुई।

कुत्तों के भौंकने से दिलासा मिली कि हम बस्ती के नजदीक पहुंच रहे है। पूरी बस्ती में अंधेरा। किसी-किसी झोपड़ी से बाहर आती आग की रोशनी—लालटेन की तरह टिमटिमाती हुई। उसी वक्त चेहरे पर टार्च की रोशनी पड़ी। चिंताग्रस्त साथी सामने खड़े थे।

सुक्कू सबसे अलग-थलग गोगा और मासा से फुसफुसाता हुआ। गोगा हमारे पास आया और हंसा—"साहब, आप तो मुर्गा खायेंगे नहीं। सुक्कू का कहना गांव का कोई आदमी उन्हें मुर्गा नहीं देगा। वह हमारे नाम पर मुर्गा मांग लायेगा।" उमंग और उत्साह से उमगता सुक्कू बस्ती की ओर चल दिया।

'थानागुड़ी' में सामान टिकाया। छोटे बच्चे सफाई में जुटे थे। आंगन में लकड़ी के बड़े-बड़े टुकड़े लाये जाने लगे। सिहाड़ी रस्सी से बुनी दो खाटें, पानी का घड़ा और उसके ऊपर रखे बड़े-बड़े पत्ते। पास की झोपड़ी के बाहर खड़ी युवतियों के बालों मे बंधे रंग-बिरंगे कंघे चमकते हुए।

कुछ दूरी पर खड़ा सुक्कू तेज आवाज में कुछ गांववासियों से बहस-सी कर रहा था। वापिस लौटा तो उसके हाथ में दो फड़फड़ाते मुर्गे थे। 'जुहार' के साथ सुक्कू और मासा तेजी से दौड़ते हुए गायब हो गये—मुर्गे वापिस छीने जाने का भय उनका पीछा करता रहा।

पंद्रह-बीस माड़िया हमारे निकट चले आए। गोगा उनसे घिरा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करता रहा। उनके बीच एक युवा तीर-कमान हाथ में पकड़े हमारी ओर उत्सुकता से देखता। काले रंग, दबी हुई शक्ल और चपटी नाकवाले माड़ियाओं के बीच इस तरुण का गंदुमी रंग और तीखे नक्श उनमे पृथक-सा करता। करधनी में ठुंसी छुरी और बंडा। खूबसूरती से काढ़े गए बालों मे खुसी हुई कंघियां। यह अभी-अभी शिकार से वापिस लौटा था। माड़िया युवतियां सहज और उन्मुक्त खिलखिलाती हुई। गोगा हमारे साथ भात और दाल तैयार करने मे जुट गया। पत्तों के दोने। इनकी पैंदी से पानी या दाल की एक बूंद भी नीचे नहीं गिर सकती। पहाड़ियों से टकराकर आती ठंडी हवाएं।

'थानागुड़ी' से बाहर निकला। पूरी बस्ती शांत। कुत्तों की आवाज भी नही। अलाव की आग धीमी-धीमी सुलगती हुई। शुक्लपक्ष की अष्ठमी का चांद सामने की पहाड़ी पर देर से थिर। तभी कोई स्वर अपनी ओर खीचता हवा में तिरता समीप चला आया। थोड़ी ही दूरी पर चट्टान पर बैठा वही तरुण दिखा—बांसुरी के सुरों में डूबा।

आंखें खुलीं तो मुर्गे बांग दे रहे थे। गायों के रंभाने के स्वर। रात की धुंधली और अछूती-सी बस्ती सुबह के साथ खुलने लगी। उन्नीस झोपड़ियां एक-दूसरे से अलग-थलग। गोलाई में घूमती बांस की खपच्चियों की चारदीवारी के भीतर सिमटी हुई। झोपड़ियों के बाहर प्रातःकालीन भ्रमण करते मुर्गे और चूजे। 'थानागुड़ी' के दूसरी तरफ बाड़े के भीतर रंभाती आठ-दस गायें। दूध से लबालब झूलते हुए थन जिनका

स्पर्श भी माड़िया कभी नहीं करेंगे। इनके दूध पर सिर्फ गायों की संतानों का ही अधिकार।

गोगा पास आया। रात कहां गुजारी, पता नही। पूरी तरह तरोताजा। हाथ में केलो का गुच्छा। हमारा सुबह का कलेवा।

तुम्बी लिए माड़िया औरतें पानी लाने एक विशेष दिशा की ओर जाती हुई। गोगा के साथ मैं उसी दिशा में आगे बढ़ा। कुछ कदम चलने पर मुश्किल से एक फुट ऊंचा आम का पेड़—घुटनों से ऊपर का हिस्सा कटा हुआ। गोगा हंसा—कोई बीस दिन पहले किसी माड़िया को सपना दिखा कि गले में फंदा डाल वह इस आम से ही लटक गया है। सुबह ही उसकी कुल्हाड़ी ने आम को काट डाला। पेड़ ही नही रहेगा तो वह लटकेगा कैसे? उनके सपनो में देव जैसा कहेगा या दिखायेगा उसे कोई नहीं टाल सकता।

दलदल मे पांव धंसने लगे। दलदल के एक सिरे पर मुश्किल से दस हाथ लंबा और दो हाथ चौड़ा—गड्ढा, गड्ढे के भीतर कीचड़, कीचड़ के ऊपर पानी और पानी की सतह पर भिनभिन करते मच्छर। तालाब नही, नाला नहीं, ठहरा हुआ सोता भी नहीं। सिर्फ कीचड़ और गंदे पानी से लबालब चहबच्चा। माड़िया औरतें उसी चहबच्चा में अपनी तुम्बियां डुबोती हुई। इसके अलावा दूर-दूर तक कही पानी नही।

केले और पपीते के आठ-दस पेड़ों का एक छोटा-सा कुंज। गोगा हमारे लिए यहीं से केलों का गुच्छा लेकर आया था। गांव के माड़िया सिर्फ झाड़ू तैयार करते हैं जिसे लेकर पहुंचते है 'बारसूर' या 'गीदम' की हाट मे। गायें उनकी व्यक्तिगत संपदा का चिह्न जिसे बेचने का सवाल ही नही। बैलों की बिक्री करते है। खरीदने के लिए पहाड़ियों के उस पार वाले लोग इधर आते है। गोगा ने जिस दिशा में इशारा किया, उधर सिर्फ पहाड़ियां ही पहाड़ियां।

कुंज के दाहिने चारपाई के आकार का फूस और पत्तों का छोटा-सा बंद कोठार। बांस की खपच्चियों से बनी चटाई से चारों तरफ ढका हुआ। धान का गोदाम।

गोगा एक बड़े-से गोल पत्थर के पास ठहर गया। चारों तरफ लाल धागा बंधा था। चावल के कुछ दानें बिखरे हुए। गोगा ने घुटनों के बल झुकते हुए सिर नवाया। यह देवगुड़ी है। देवता का नाम 'इदुरकोला'। नया धान आयेगा तो सबसे पहले यही उत्सव मनाया जायेगा।

मुझे अपने साथ लिए गोगा झोपड़ियों की तरफ बढ़ा। एक झोपड़ी के बाहर लुंगी पहने तरुणी दाहिने पैर के पंजे को बायें पंजे पर रखे नृत्य की मुद्रा में। जूड़े में कंघी और लाल रंग का फूल खुसा हुआ। कानों मे अटके फूल, कलाइयों में सफेद रंग के प्लास्टिक के कड़े और गले मे झूलती चार लड़ियोंवाली सफेद मनकों की माला।

गोगा मुझे कोमा की झोपड़ी के भीतर ले आया। इस समय वहां उसकी वृद्धा

पत्नी के अलावा कोई नहीं। दीवार पर टंगे दो तीर-कमान, मोर के कुछ पंख, कोने में रखी तीन तुम्बियां और उसके समीप लकड़ियों का ढेर। बस यही कोमा की संपूर्ण दुनिया। दो फुदकते चूजे अंदर आने की कोशिश करते हुए।

झोपड़ी के बाहर एक छोटा बच्चा लकड़ी के पाइप की बंदूक से निशानेबाजी करता हुआ। पत्ते को मीड़ते हुए पहले उसकी गोली बनाता फिर उसे पाइप के एक सिरे से भीतर सरकाने के बाद दूसरे सिरे से खपच्ची से तेज गति के साथ अंदर की गोली पर चोट करता। पत्ते की गोली जैसे ही आवाज करती हुई दूर गिरती, वह खुशी से किलकारियां भरने लगता।

लौटते हुए आखिरी झोपड़ी के बाहर खड़ा वही रात वाला बांसुरी-वादक। महुए के तेल से नहाया उसका गठीला शरीर शीशे की तरह चमकता हुआ। सिर के ऊपर साफा-सा बांधा था जिसमें खुसे थे तीन-चार कबूतर के पंख और उनके बीच मोर का एक बड़ा पंख। हाथ में तीर-कमान और करधनी लटकती कटार। गले में काले रंग के मोटे धागों की माला। अपने साथियों की प्रतीक्षा करता हुआ। कुछ ही देर में यह शिकार के लिए निकल जायेगा।

वापिस 'थानागुड़ी' पहुंचने तक धूप तेज और तीखी। मासा और सुक्कू वहां पहले से मौजूद। मासा बेहद परेशान। आंखें लाल—गुड़हल की तरह सूजी हुई। सुक्कू के चेहरे पर ताजगी। सुक्कू ने बताया कि मासा के ऊपर किसी ने ज़ादू कर दिया है। उसके पेट में रात-भर मुर्गा कुकड़ू-कूं करता रहा। मासा जैसे ही लेटता कोई तीर उसका पीछा करने लगता। मासा कहां-कहां नहीं भागा, कहां-कहां नही छिपा, लेकिन तीर ने उसका पीछा ही नहीं छोड़ा। मासा सुक्कू की हर बात का हां...हूं... की कराहट के साथ समर्थन करता रहा।

मासा बुरी तरह से डरा था। बहुत समझाने के बाद वह हमारे साथ आगे बढ़ने के लिए तैयार हुआ।

सुक्कू और मासा साथ न हो तो हम भटककर रह जायें। मेरी आंखें ठहर गईं। लकड़ी के गोल थंब के ऊपर एक पुराना कोट लटका हुआ। नजदीक गोल पत्थरों का ढेर। सबसे ऊपर के नुकीले पत्थर में हरे रंग का कपड़ा फंसा हुआ। कुछ-कुछ दूरी पर ऐसे ही अद्भुत दृश्य। किसी पेड़ की शाखाओं से लटक रहे रंग-बिरंगे कपड़ों के टुकड़े तो किसी पत्थर के ऊपर तुरही और काले धागों की मालाएं। यह 'हितावड़ा' के माड़ियों का पितरदेश है। पितरदेश यानी कब्रिस्तान। लकड़ी के एक बड़े टुकड़े को तराशकर नारी का आकार दिया गया है जिसके एक हाथ में लटक रहे पर्स में जड़े छोटे-छोटे गोल शीशे धूप में चमकते हुए। दूसरे हाथ में एक टूटा हुआ आईना। लंबी गर्दन में मोटे काले धागों से गुंथी हुई कई लड़ियोंवाली माला। निश्चय ही यह किसी तरुणी का स्मृति-चिह्न है। इस तरुणी का डोका आज भी रात के सन्नाटे में यहां आता होगा। शिकार खेलने या बांसुरी बजाते हुए उसके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करता होगा।

उसे अपनी डोकी पर पूरा भरोसा कि जन्म लेने से पहले वह उसके सपने में आ उसे जरूर बता देगी। इस जंगल में वह चाहे किसी भी योनि मे क्यों न आ रही हो—मुर्गा, मछली, चिड़िया या किसी नवजात शिशु के रूप में।

आठ झोपड़ियों का गांव। सन्नाटे में डूबा। सभी शिकार के लिए जंगल में निकले हुए। वृक्षों के झुंड सहसा गायब। पथरीले मैदान को पार करते हुए दो मील की दूरी पर बारह घरों का गांव 'कोलाकल', और उससे तीन मील आगे बीस झोपड़ियों की बड़ी बस्ती 'गवाड़ी'। हमें 'गवाड़ी' पहुंचकर आराम करना होगा।

'कोलाकल' पार करते-करते धूप तेज होने लगी। दूर तक फैला बांस का जंगल। कहीं सघन, कहीं छितराया हुआ। कुछ माड़िया सिरों पर टोकरियां उठाये बांस के झुरमुट में देखते-देखते खो गए।

दूर तक जला हुआ जंगल। झाड़ियां और कोयले के रूप में पेड़ों के अवशेष। वर्षा से पहले इन झाड़ियों और पेड़ों को आग के हवाले कर दिया जाता। फिर, सफाई का अभियान। धान के बीज बिखेर दिए जायेंगे। धरती इनकी सबसे बड़ी देवी। हल जमीन में डालने से पाप चढ़ेगा। मां अपने बच्चे को भूखा कैसे रख सकती है? ये बीज नष्ट नहीं होंगे। धरती मां इन्हें अंकुरित करेगी। जिस दिन इन्हें नई फसल का उपहार मिलेगा, ये 'नवाखानी' (नई फसल का उत्सव) मनायेंगे। माटी की पूजा करेंगे। रात-भर मंद पीते हुए ढोल लटका नाचेंगे। नगाड़ों की आवाज जंगल में दूर-दूर तक गूंजेगी। सारे देवता उनके इस उल्लास में शरीक होंगे।

जहां आज यह गांव है, तीन साल के भीतर उसके अस्तित्व का लोप हो जायेगा। सारी झोपड़ियां उजड़ जायेंगी। तीन साल से अधिक वह यहां रह गए तो देवता नाराज हो जायेंगे और गांव का एक भी प्राणी जीवित नहीं रहेगा। ...तीन साल बीतने से पहले ही वे मिलकर जंगल के किसी अछूते कोने में आग लगा उसे नये सिरे से बसायेंगे। नये गांव में जीवन एक बार फिर से शुरू होगा। गायें, बकरियां और मुर्गियां नये सिरे से नई जमीन से अपना परिचय बनायेंगी। कुछ समय तक पुरानी जगह पर छूटे हुए चिह्न उनकी कहानी सुनायेंगे। धीरे-धीरे झाड़ियों का विस्तार होगा और पंद्रह-बीस साल बाद ये झाड़ियां पेड़ों में बदलती हुई जंगल की बांहें बन जायेंगी और उनकी हरी शिराओं में जब खून प्रवाहित होने लगेगा तो फिर एक दिन कुछ माड़िया अपना घर बसाने के लिए यहां चले आयेंगे। यही क्रम चलता रहेगा। न जाने कितनी शताब्दियां बीत गईं—उनके आदिम राग-विराग, उनकी परंपरा और उनके अदम्य संघर्ष का एकमात्र साक्षी यह जंगल उनकी कहानी सुनाता रहेगा।

बीस घरों का एक बड़ा गांव 'गावाड़ी'। 'थानागुड़ी' के बाहर तोया के पेड़ के नीचे बिछी खाट पर बैठते ही पका हुआ तोया नीचे टपका। मुर्गियां, चूजे, सूअर के दो-तीन छोटे-छोटे बच्चे एक साथ उस ओर लपके लेकिन उनसे पहले ही एक बच्चे ने उसे उठाकर मुंह में रख लिया। चूजे, मुर्गियां और सूअर के बच्चे खिजलाये हुए

एक-दूसरे के मुंह पर वार करने लगे। एक छोटे बच्चे की टुनटुनी और उससे बंधी घंटी एक साथ बजती हुई। कुछ दूरी पर एक माड़िया लोहे की जंगखायी बड़ी छुरी से दूसरे माड़िया के सिर के बालों को काटता-छांटता। दूसरा बूढ़ा माड़िया लुंगी में खुसी पतली बांस की पोंगारी को काटकर बनायी गयी डिब्बी में से तम्बाकू निकाल हथेली पर मसलता हुआ। चार माड़िया उन्मुक्त तेज खिलखिलाहटों के साथ भागते हुए एक-दूसरे का पीछा करते पीठों और छातियों पर बड़े-बड़े मिट्टी के ढेले बरसाते हुए। उनमें से एक युवा माड़िया पास से गुजरती तरुणी की आंखों को पीछे से मूंद लेता है। तरुणी खिलखिलाते हुए आगे बढ़ गयी। सभी बच्चों, युवकों और युवतियों के पेट काफी आगे को निकले हुए। कोई छोटी तुम्बी जैसे वहां रखी हो।

पास की झोपड़ी के बाहर एक बलिष्ठ माड़िया युवक पीठ को बांस की चारदीवारी से टिकाये उत्सुकता से कभी हमारी तरफ तो कभी खिलवाड़ में व्यस्त माड़ियाओं की ओर देखता हुआ। मैने उसे पास आने का इशारा किया लेकिन वह मुस्कुराता हुआ उसी तरह खड़ा रहा। चार दिन पहले यह माड़िया लड़की का पिता बना है। पंद्रह दिन तक इस निर्वासित जीवन जीना होगा। अपनी झोपड़ी में नही जा सकता और न दूसरे माड़ियाओं से मिल-जुल सकता है। माह के कुछ विशेष दिनों मे औरतों के लिए भी गांव के बाहर बनी झोपड़ी मे रहना जरूरी। सात दिन बाद नहा-धो और कपड़े साफकर उसी वक्त अपने घर लौटेंगी जब पूरा गांव सोया हुआ हो।

गोंगा के पीछे-पीछे दो माड़िया। पत्तों की थालियां और कटोरियां। इनमें हमारा दोपहर का भोजन होगा। दाल और भात हम तैयार कर चुके हैं। ढेर सारी भुनी हुई लाल मिर्चे।

कुछ दूरी तक चले गए समतल मैदान के बाद उतराई ही उतराई। चारों तरफ जला हुआ जंगल, झुलसी हुई झाड़ियां और स्याह कोयले में रूपांतरित पेड़ों के ठूंठ। हम 'कोहकापदर' की दिशा में आगे बढ़ रहे है। गायों और बकरियों के झुंड के बीच एक माड़िया टंगिया से बांसों को काटता बारीक लंबे टुकड़ों में बदल रहा है।

'कोहकापदर' उन्नीस घरों का गांव। एक बड़ी चट्टान के ऊपर दो भारी पत्थर रखे हुए। इसी चट्टान के ऊपर लांदा (धान की एक किस्म) पीसा जाता है और फिर उसे हांडी-भर पानी में डालकर आग पर पकाया जाता है। खूब उबल जाने पर उसमें नमक और खटाई का योग। तैयार हुए 'पेज' के साथ भुंजा महुआ, सिवना फल, चार, सूखा तेंदु या सिकाड़ी के भुंजे हुए बड़े-बड़े बीज जो भी सहजता से हासिल हो जायें।

'थानागुड़ी' से सटा सल्फी का पेड़। ऊपरी सिरे पर लटकी हुई दो तुम्बियां और उसके नीचे खड़ा तरुण। मैली पतली रस्सी से बंधे सिर के बालों मे खुसे हुए कौए का एक काला पंख और दो सफेद पंख बगुले के। शरीर और चेहरे पर गुदने गुदे हुए। हाथ में 'ऐना' (दर्पण), जिसे पास खड़े दो अन्य तरुण और एक किशोरी ललचायी

आंखों से देख रहे हैं। किशोरी के हाथों में पीतल के कड़े और गले में दस-पंद्रह लोहे की मुंतिया (हमेल) उसके कुंआरी होने का चिह्न। एक झोपड़ी के बाहर एक युवती कमर के नीचे झुकाये बायें हाथ से कोई वस्तु ऊपर उठाती हुई और दायें हाथ में झूलता दो-तीन माह का शिशु निर्द्वंद्व दुग्धपान में जुटा। पास ही दोनों हाथों को धरती में टिकाये बूढ़ा तल्लीनता से भागते चूजों को देखता हुआ।

'थानागुड़ी' की अंदर की दीवार से लटके हुए गायों और भैसों के सींगों की तुरही (तोड़ी) और बड़े-बड़े नगाड़े। हमें आज की रात यहीं ठहरना है।

बस्ती के ऊपर रात उतरने लगी। गोगा ने 'थानागुड़ी' के बाहर लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों को सटाते हुए आग सुलगायी। धीमी-धीमी सुलगती आग फीकी रोशनी फैलाती हमारे नजदीक पहुंचने लगी। सुक्कू और मासा हमेशा की तरह चावल और दाल अपने साथ ले अज्ञात दिशा की ओर चले गए। उनके हाथ आज सिर्फ एक मुर्गा ही लग सका।

सुबह आंखें खुलीं तो पाया सुक्कू पास ही खड़ा है। मासा उसके साथ नहीं। सुक्कू ने बताया मासा देवगुड़ी में लेटा है। रात उसे तेज बुखार चढ़ गया। सिरहा (ओझा) उसका उपचार कर रहा है। मैं सुक्कू के साथ देवगुड़ी के लिए निकला। गोगा पीछे-पीछे।

देवगुड़ी में पहुंच देखा कि मासा जमीन पर लेटा कांप रहा है। सिरहा जोर-जोर से बुदबुदाता उसके पूरे नग्न शरीर पर मोर के पंख का गुच्छा पटक रहा है। मासा को अब सिरहा को एक मुर्गा और पांच पल्ली धान देना होगा। देवगुड़ी के भीतर एक बड़ा नगाड़ा। नगाड़े के पास मोर की पूंछ का चंवर। माड़िया पर जादू किया गया हो तो मोर की पूंछ की मूठ फैलना शुरू कर देती है। गोगा ने कहा कि यह सिरहा 'सवांग विद्या' का भी जानकर। जिस आदमी को मारना होता है पहले उसका मिट्टी का पुतला बनाया जाता है, फिर सिरहा मंत्र पढ़ते हुए पुतले पर तीर छोड़ता है। पुतले के गिरते ही आदमी भी समाप्त।

अबूझमाड़ के इन तमाम गांवों में न कोई हकीम, न कोई वैद्य। हर बीमारी से छुटकारे का इकलौता उपाय—देव से विनती। देव और उनके बीच का एकमात्र सेतु सिरहा।

मासा उठकर खड़ा हुआ, लेकिन चेहरा एकदम पीला। हमने वहीं ठहरने को कहा लेकिन उसकी जिद कि वह हमें 'ओरछा' पहुंचाने के बाद ही वापिस लौटेगा। गोगा हमारे साथ आगे नहीं जायेगा। उसका गांव यहां से बहुत पास। घर से निकले उसे एक सप्ताह से अधिक होने को आया।

चार-पांच किलोमीटर की दूरी पर पड़ने वाले गांव। आठ से बीस तक झोपड़ियों वाले। 'मंडावड़ा' से आगे बढ़ने पर दिखाई दिए आम के पेड़ के नीचे जड़ों के ऊपर झुके हुए छोटे-छोटे बच्चे। भूरे रंग की चींटियों को मारकर पत्तों के ऊपर इकट्ठा करते।

ये चींटियां ठहरीं उनका सुस्वादु भोजन। हमारा साथ कुछ दूरी तक देने के लिए जो तरुण माड़िया आगे-आगे चल रहा है, उसके गले में 'स्कार्फ' लहरा रहा है। 'स्कार्फ' -eavee yeej1e Pee[kee i eue—महीन मलमल की तरह।

पहली दफा जलता हुआ जंगल दिखाई दिया। लपटें ही लपटें। आकाश की ओर लपकतीं, चारों दिशाओं मे फैलती हुईं। चट्-चट् की तीव्र ध्वनि कानों में गूंजती है। माड़ियाओं का समूह दूर खड़ा देख रहा है। कुछ माह बाद हमारा यहां आना हुआ तो एक नया गांव जन्म ले चुका होगा।

'केरल' पहुंचने तक अंधेरा घिरने लगा। पीछे छूटे जितने भी गांवों से हम होकर आ रहे हैं, 'केरल' सबसे अलग-थलग, ऊबड़खाबड़ और अबूझा-सा। 'थानागुड़ी' मुख्य बस्ती से दूर निर्जन में। चारों तरफ घना जंगल। 'थानागुड़ी' का प्रवेशद्वार इतना संकरा कि प्रवेश करते ही मोटे बांस से सिर टकरा गए। कोने में लेटे दो सुअरों ने गुर्राते हुए बाहर की तरफ छलांग भरी। भीतर बड़ी-बड़ी घास उगी हुई। सुक्कू ने बताया कि 'केरल' ठहरा अबूझमाड़ का भीतरी गांव। इन भीतरी गांवों में कोई नही आता-जाता। 'केरल' के माड़िया भी अबूझमाड़ की पहाड़ियों से नीचे नहीं उतरते। 'बारसूर' और 'गीदम' की हाट भी ठहरी उनके लिए बाहरी दुनिया।

अभी तक हमें इस गांव का एक भी माड़िया दिखाई नही दिया। सन्नाटे में घिरी दूर दीख रही इक्का-दुक्का झोपड़ी। सुक्कू झोपड़ियों की दिशा में चला गया। वापिस लौटा तो उसके साथ एक प्रौढ़ा हाथ में झाड़ू लिए आयी। वह आसपास की सफाई में जुट गई। पूरा चेहरा नीले गोदनों से गुदा हुआ। दो छोटे बच्चे भाग-भागकर बारी-बारी से पानी की 'टोकनी', लकड़ियां और बड़े-बड़े पत्ते लाते रहे। औरत भागती हुई तेजी से गायब। वापिस लौटी तो दोनों हाथों में दो खटियाएं। दूसरी बार हाथ में केले का गुच्छा। वह सुक्कू के साथ लकड़ियां सुलगाने में जुट गई।

माड़िया औरत और बच्चे वापिस लौट गए। इनके अलावा अभी तक हमें गांव का दूसरा प्राणी दिखाई नहीं दिया। इस गांव की सभी झोपड़ियां एक-दूसरे से काफी दूरी पर और पेड़ों के पीछे छिपी हुई। सुक्कू से पता चला कि पूरा गांव एक साथ कही दूर शिकार के लिए निकल गया है। यात्रा में पहली बार मासा और सुक्कू रात हमारे साथ ठहरेंगे। हमारे पास सिर्फ इसी एक वक्त का राशन शेष। सुक्कू हमारे साथ भोजन की तैयारी में जुटा। केले की सब्जी और चावल। मासा बेहद-बेहद खुश। उसके पीले चेहरे पर हंसी कई दिनों बाद चमकी।

आग को तेज करने के लिए सुक्कू और मासा सूखे पत्तों को लपटों के ऊपर बिछाने लगे। पूरी रात यहां आग का जले रहना जरूरी। जंगली सूअर या भालू कभी भी आ सकता है। हमारी सुरक्षा के लिए ही सुक्कू और मासा ने रात में कहीं और जाना स्थगित किया होगा।

रात में जब-जब मेरी नीद उचटती—सुक्कू तेजी से उठ बैठता, आग मे

लकड़ियां डालता, तीन-चार फूंक मार बाजुओं में मुंह ढाप तत्काल सो जाता। बिना किसी आहट और करवट के मेरी आंखों के खुलते ही सुक्कू की आंखें भी खुल जातीं। किसी वन्य प्राणी-सी तीव्र घ्राणशक्ति। रात के आखिरी पहर में सुक्कू मासा को साथ ले पहाड़ियों के पार निकल गया।

सुबह आंखें गायों के रंभाने से खुलीं। उठते ही कई माड़िया दौड़े-दौड़े हमारे पास आए। रात में इनके लौटने का हमें पता नही चला। समूचा गांव जागा हुआ।

कोई दो घंटे बाद सुक्कू मासा के साथ माखुर (तंबाकू) हथेली पर मसलता वापिस लौटा। सुबोसुबह उसके जाने के रहस्य का पता हमें अब चला। पास का एक गांव सुक्कू के 'साम्राज्य' में आता है। सुक्कू अपनी 'परजा' के सारे हालचाल मालूम कर आया है।

'केरल' से कोई एक किलोमीटर की दूरी के गांव 'टाकुली' को पार करते हम 'जुआरा' आ पहुंचे। पीछे के सारे गांवो की अपेक्षा अधिक विकसित और समृद्ध। 'ओरछा' के निकट का गांव। पटेल लगभग सभी गांववालों के साथ हमारे पास चला आया। सभी की देह सुगठित, गेहूं का रंग और तराशे हुए चेहरे। गांव के सारे लड़के-लड़कियां पढ़ना चाहते है, लेकिन गुरू जी पढ़ाते ही नहीं। शाम को साइकिल से आते है, खाते-पीते यहीं का है, 'थानागुड़ी' में आराम करते है और सुबह वापिस। बच्चों को मिलनेवाला दलिया और तेल सभी उनके पेट में।

एक माड़िया की बांई आंख गायब और चेहरे पर घाव का गहरा तिरछा निशान। आंख भालू ने निकाल ली, लेकिन इसने भी भालू को कुल्हाड़ी से वही ढेर कर दिया।

नीचे उतरती पगडंडी समतल होने लगी। 'गुदाडी' और सालवनों को पार करते हुए हम 'ओरछा' पहुंचे। 'ओरछा' यानि अबूझमाड़ का प्रवेशद्वार। आदर्श सरकारी गांव। प्राथमिक पाठशाला, बालक आश्रम, विकास खण्ड अधिकारी, सरकारी अस्पताल सभी कुछ। विभिन्न विभागों की पक्की इमारतें, एक छोटा-सा होटल, बस-अड्डा और कुछ दुकानें। राजधानी से चलकर आयी विकास की सारी योजनाएं इसी प्रवेशद्वार पर मानो ऊंघती हुई।

मासा और सुक्कू ने 'जुहार' के साथ यहीं हमसे विदा ली। दोनों पीछे मुड़े और हमारे देखते-देखते तेज गति से भागते हुए आंखों से ओझल। एक बार फिर वही पगडंडियां, पहाड़ियां और जंगल कुलाचें भरते फादेंगे जिनका नाद अभी भी हमारी धमनियों में गूंज रहा है। ... सुक्कू और मासा को घर छोड़े कितने दिन हुए? सुक्कू मासा के साथ सबसे पहले 'बारसूर' जायेगा। पुलिस-थाने में अपनी और उसकी रपट लिखाने। उसके बाद...।

□

मॉस्को से आंखों देखा हाल

जसदेव सिंह

भारत के करोड़ों देशवासी ऐसे हैं जो जसदेव सिंह की आवाज में देश-विदेशों में संपन्न खेलों की कमेंट्री सुनकर बड़े हुए हैं। वे भारत के पहले ऐसे रेडियो कमेंटेटर हैं जिन्हें न केवल भारत सरकार ने अपने राष्ट्रीय सम्मान 'पद्मश्री' से सम्मानित किया है बल्कि उन्हें अपने क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए 'ओलिंपिक आर्डर' जैसे अतिप्रतिष्ठित सम्मान से भी अलंकृत किया गया है। अभी हाल ही उन्होंने अपनी आत्मकथा पूरी की है जिसका एक वृत्तांत 'गगनाञ्चल' के पाठकों के लिए प्रस्तुत है।

सन् 1980 मे 19 जुलाई से 3 अगस्त तक तत्कालीन सोवियत संघ की राजधानी मॉस्को में आयोजित बाईसवें ओलिंपिक खेलों की 'कवरेज' के लिए जाने के आदेश जब मुझे मिले, मै रोमांचित था। मॉस्को तब उस देश की राजधानी था, जिसे सारी दुनिया 'आईरन कर्टेन' (लोहे के आवरण) से ढका देश मानती थी। इस बार भी सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने दो और कमेंटेटरों के नाम जोड़ दिए थे। अर्थात् चार कमेंटेटरों का दल था हमारा—दो हिंदी और दो अंग्रेजी। 1976 मे मांट्रियल खेलो के लिए पांच कमेंटेटर भेजे गए थे, जबकि उसका कोई विशेष लाभ नहीं था। कमेंटेटरों की संख्या बढ़ाये जाने के बावजूद 'कवरेज' उतनी ही रहती थी, जितनी 1964 से 1972 तक दो कमेंटेटर कर दिया करते थे—वही प्रतिदिन आधे घंटे की एक रिपोर्ट, जिसमें कुछ खेलों, विशेषकर जिनमें भारतीय खिलाड़ी भाग लेते थे और उनके पराजित हो बाहर हो जाने की स्थिति में फिर जो महत्त्वपूर्ण स्पर्धाएं बचती थीं, उनके

आंखो देखे विवरण के अंश और जहां-जहां संभव होता था, कुछ छोटी-छोटी भेंटवार्ताएं सम्मिलित की जाती थीं। 1972 के म्यूनिख ओलिंपिक्स से हॉकी के उन तमाम 'पूल' मैचों की कमेंट्री, जिनमें भारतीय हॉकी टीम खेलती थी, और दोनों सेमी फाइनल और फाइनल (भले ही उनमें भारतीय टीम हो या न हो), की कमेंट्री सीधे (लाईव) प्रसारित की जाने लगी थी। हॉकी कमेंट्री के सीधे प्रसारण से व्यक्तिगत रूप से मुझे अवश्य ही लोकप्रियता मिली। कारण शायद यही कि मैदान मे गेंद कहां है, किस टीम के पाले में है, कब किस खिलाड़ी से किस खिलाड़ी को मिली आदि के साथ-साथ जिस नगर में खेल हो रहा होता है, मै बीच-बीच में अवसर मिलने पर उस नगर या देश की खेल परंपराओं, नामी खिलाड़ियों, इतिहास, विख्यात इमारतों, मौसम, रीति-रिवाज आदि की जानकारी भी दे दिया करता हूं। 1975 के कुआलालुम्पुर विश्व कप हॉकी की कवरेज के दौरान जब भारत-जर्मनी मैच वर्षा के कारण बाधित हुआ, मैंने वहां के 'बोमो' लोगों के बारे में बताया था। जैसे हमारे गांवों और आदिवासी क्षेत्रों में जादू-टोना करनेवाले ओझा होते है, वैसे ही मलेशिया मे अभी भी गांवो में बोमो लोगों पर विश्वास किया जाता है। मुझे कुआलालुम्पुर के समाचार पत्रों और कुछ स्थानीय मेजबान पत्रकारों से ज्ञात हुआ था कि विशेष आयोजनों मे वर्षा से बाधा न पहुंचे, उसके लिए बोमो की सहायता ली जाती है। जैसे हमारे यहां ओझा लोग अनुष्ठान करवाते है, वैसा ही कुछ बोमो करते है। इसी प्रसंग मे मुझे जानकारी मिली थी कि मलेशिया और एक अन्य देश के बीच पहले कभी जब हॉकी का कोई मैच हो रहा था, तब मैदान के मलेशियाई भाग में तो वर्षा हो रही थी, विपक्षी टीम के हिस्से में नहीं। परिणाम यही रहा कि मलेशिया के खिलाड़ी तो सूखे मैदान में विपक्षी गोल में गेंद दागते रहे, पर उनके हिस्से के वर्षा से गीले मैदान पर विपक्षी खिलाड़ी वैसा नही कर पाये। ऐसा 'बोमो' के चमत्कार से ही संभव हुआ बताया।

कमेंट्री को रोचक और ज्ञानवर्धक बनाने के लिए अनेक बार मैंने खिलाड़ियों की ईश्वर में आस्था के अतिरिक्त उनमें से कई के अंधविश्वास और वहमों की चर्चा भी की है। मैदान में प्रवेश करते समय कितने ही खिलाड़ी अपने-अपने ढंग से अपने ईष्ट देवता का स्मरण करते हैं। हॉकी, फुटबाल आदि के अनेक खिलाड़ी मैदान में सदा एक निश्चित स्थान या दिशा ही से प्रवेश करना पसंद करते हैं। और तो और कितने ही खिलाड़ी होटल में किसी नंबर विशेष के कमरे में ही ठहरना चाहते हैं। कुछ यह देखते हैं कि कमरे के नंबर के अंकों का जोड़ मन-माफिक हो।

मैं अपनी ही बात बताऊं। कुआलालुम्पुर मे, मैं हर दिन एक ही कमीज पहनता रहा। रोज रात को धोकर सुखा देता, अगले दिन पहन लेता। एक दिन दूसरी कमीज पहन ली। उसी दिन भारत अर्जेंटीना से हार गया। वहम पक्का हो गया। बस फिर तो फाइनल तक वही पहलेवाली कमीज ही पहनता रहा। भारत विश्व कप जीत गया। बाद में ज्ञात हुआ कि केवल मैं ही नही, हमारे अनेक खिलाड़ी भी रोजाना एक ही

जर्सी पहनकर मैदान में उतरते थे। दिल्ली क्षेत्र के तत्कालीन जनरल ऑफीसर कमांडिग मेजर जनरल यूस्टस डि सूज़ा, जो हॉकी टीम के साथ पर्यवेक्षक के रूप में गये थे, वह भी हर दिन बराबर एक ही कमीज पहना करते थे। दिलचस्प बात यह रही कि उन्होंने भी उस दिन कमीज बदलकर पहन ली थी, जिस दिन भारत, अर्जेंटीना से हार गया था। वापस उन्होंने फिर वही पहलेवाली कमीज पहनना शुरू कर दिया था। जनरल डि सूज़ा ने बाद में एक अंग्रेजी खेल पत्रिका में उनके और मेरे इस 'विश्वास' की चर्चा भी की थी। यों जीतने के बाद एक-दूसरे पर अपना यह भेद खोलते हुए हम हंसे भी खूब थे पर जो सच्चाई थी, वह तो थी ही।

1972 में म्यूनिख ओलिंपिक्स 'कवर' करने के बाद दिल्ली लौटने पर एक भेंट के दौरान मेरा परिचय मिलने पर अपने दूतावास में कार्यरत एक जर्मन महिला श्रीमती बासाक ने समस्त औपचारिकताओं को परे रख सीधे ही मुझसे आदेशात्मक स्वर में कहा था, 'ओपन योर माउथ' (अपना मुंह खोलो)। मुझे बड़ा अजीब लगा, बुरा भी। वहां कुछ जर्मन और भारतीय भी खड़े थे। मेरे दिमाग में एक बात आई, 'कहीं मेरे मुंह से बदबू तो नही आ रही थी?' इतने में फिर उस महिला ने जिद पकड़ ली, 'ओपन योर माउथ, आई वांट टू सी इट'। मुझे थोड़ा गुस्सा भी आ रहा था। तभी पास ही खड़े जर्मन दूतावास के पुस्तकालय में एक भारतीय अधिकारी जगदीश प्रसाद ने हिंदी में कहा, 'जसदेव जी, मुंह खोल दीजिए, देखें तो क्या चाहती है?' मैंने पूरा मुंह खोल दिया। मेरे और निकट आकर उस महिला ने मेरे मुंह में झांकते हुए जो कुछ कहा, उसे सुन सारा स्थल उपस्थित लोगों के कहकहों से गूंज उठा। महिला के शब्द थे, 'हाउ यू स्पोक सो फास्ट, नो मोटर इन योर माउथ'। आखिर बात खुली। उन दिनों देश में टी०वी० तो था नही। महिला सहित दूतावास के सभी जर्मन कर्मचारी आकाशवाणी से हॉकी की हिंदी-अंग्रेजी कमेंट्री सुना करते थे। जर्मनी उस बार चैंपियन रहा था। उस महिला को हिंदी तो समझ में आती नही थी, पर मेरी कमेंट्री की गति से वह आश्चर्यचकित अवश्य थी।

बात मॉस्को ओलिंपिक्स से शुरू हुई थी। औरों की तरह मुझे भी उस देश को देखने और जानने की जिज्ञासा थी। सोवियत संघ से तब भी और अब उसके विघटन के बाद भी अलग-अलग बंटे उसके देशों से हमारे संबंध बराबर मधुर और मैत्रीपूर्ण बने हुए हैं। उन दिनों सोवियत संघ में कौन मित्र है, कौन नहीं, वहां के लोग ही आपस में नही जान पाते थे, तो हम तो विदेशी थे। मॉस्को हवाई अड्डे पर ही जिस तरह के अनुभव हुए, उसी से उस देश की सुरक्षा व्यवस्था का ज्ञान हो गया था। भारतीय दूतावास में कार्यरत अपने कुछ मित्रों के लिए मैं चाय, राजमां और कुछ दालें आदि ऐसी चीजें ले गया था, जो उन दिनों वहां नहीं मिलती थीं। हवाई अड्डे के अधिकारियों ने सिवाय डिब्बा बंद चाय के सभी चीजें रोक लीं। आश्वासन दिया कि निरीक्षण के बाद मुझे मेरे होटल में वापस भेज देंगे, पर वैसा नहीं हुआ। अन्य

कुछ खिलाड़ी भी ऐसा कुछ खाने का समान दालें आदि ले गये थे, वह सब हवाई अड्डे पर ही रोक लिया गया।

मॉस्को हवाई अड्डे पर ओलिंपिक आयोजन समिति की ओर से जो युवक हमारी अगवानी कर बस द्वारा हमें, हमारे होटल ले जा रहे थे, उनमें एक ने बड़ी शुद्ध हिंदी बोलते हुए हमसे भारत के बारे में बातचीत आरंभ की। वह शायद विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन कर रहा था। हमें बहुत ही खुशी हुई कि उस देश में हिंदी के प्रति इतना लगाव है। तभी उस युवक ने अपनी डायरी निकालकर उसमें से कुछ पढ़ते हुए हमारी ओर देखकर जिन शब्दों को उच्चारित किया, उन्हें सुनकर हम चारों सकते में आ गये। वह बोले जा रहा था, खुश हो रहा था कि वह हिंदी बोल रहा है, पर सुन-सुनकर हमें गुस्सा आ रहा था। हम चारों एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। हमारे चेहरों का बदलता रंग देखकर उसे जब कुछ संदेह हुआ तो रुककर धीमे-से उसने पूछा, 'मैं ठीक बोल रहा हूं न?' तभी हम चारों एक साथ बोल पड़े, 'किसने सिखाया यह सब आपको?' उसे पता नहीं था कि वह हिंदी में जो कुछ बोल रहा था, वह बहुत ही गंदी गालियां थीं। किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति से वह घृणित शब्द सुनने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। जब हमने उसे यह बात बताई, वह बहुत लज्जित हुआ। उसने बताया कि उसने वह शब्द कहीं पढ़े नहीं थे। हम-जैसे किसी भारतीय ने ही उसे वह 'शब्द' यह कहकर लिखवाये थे कि हिंदी में एक-दूसरे से भेंट के समय शिष्टाचारस्वरूप उन्हें बोला जाता है।

हमें शर्म आ रही थी। काश, हमारे उस देशवासी ने यह सब सिखाते हुए सोचा होता कि वह अपने ही देश का कितना घोर अपमान कर रहा था। वह सोवियत युवक हमसे क्षमा मांग रहा था और हम अपने उस अनजान देशवासी के उस कृत्य के लिए उस युवक से माफी मांग रहे थे। एक प्रश्न बार-बार मेरे मन को कचोट रहा था— उस अनजान भारतीय ने क्या सोचकर ऐसा किया था? मानसिक रूप से विक्षिप्त कोई व्यक्ति ही ऐसा घृणित आचरण कर सकता था।

तत्कालीन सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने और वहां अनेक सेनायें भेजने के विरोध में अमरीका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, पाकिस्तान आदि अनेक देशों ने मॉस्को खेलों का बहिष्कार किया था। केवल सोवियत ब्लॉक के देश और भारत-जैसे उसके कुछ मित्र देशों ने ही 1980 के खेलों में भाग लिया। आशंका थी कि प्रमुख देशों द्वारा बहिष्कार के फलस्वरूप 1980 के वह खेल पंगु होकर रह जायेंगे, किंतु जिस ढंग से सोवियत संघ और वहां की ओलिंपिक समिति ने अपने यहां इन खेलों का आयोजन किया, उससे यह आभास ही नहीं हुआ कि उनमें किसी तरह की कोई कमी थी।

सोवियत संघ ने उन दिनों वहां आनेवाले खेल प्रेमियों और पर्यटकों के लिए अपने नियमों में काफी नरमी कर दी थी। रेडियो मॉस्को ने अपने घरेलू प्रसारणों में

अंग्रेजी समाचार और कार्यक्रमों की संख्या बढ़ा दी थी। उन दिनों जमीन के नीचे चलनेवाली मैट्रो रेलगाड़ियों में रूसी भाषा के साथ-साथ स्टेशनों के नामों की घोषणा अंग्रेजी में भी की जाने लगी थी। हालत यह थी कि विभिन्न खेलों के प्रारंभिक मुकाबलों को देखने के लिए सभी स्टेडियम दर्शकों से पूरी तरह भरे रहते थे। हां, सुरक्षा व्यवस्था बहुत ही कड़ी कर दी गई थी—साधारणतः जैसी होती थी उससे भी बहुत अधिक। शायद ऐसा इस आशंका से भी किया जा रहा था कि बहिष्कार करने वाले देशों में से कोई इन खेलों को भंग करने के लिए कोई ऐसी-वैसी कार्यवाही न कर दे। हमें लगभग हर दिन ही कड़ी सुरक्षा व्यवस्था का सामना करना होता था। कभी-कभी जब हम भारतीय पत्रकार अपना पीछा करते किसी को देखते या अपनी तलाशी के समय सोवियत संघ के सर्वोच्च सुरक्षा विभाग के०जी०बी० की चर्चा एक-दूसरे से करते तो बजाय के०जी०बी० कहने के, उसका उल्लेख 'कृष्ण-गोविंद-बलदेव' कहकर किया करते थे। ऐसा इसलिए कि हमें बता दिया गया था कि सुरक्षा व्यवस्था में लगे अनेक लोग हिंदी जानते थे। इसका अनुभव मुझे भी हुआ। यदि हम अपने होटल से दो मिनट के लिए भी बाहर जाते, तो वापसी पर फिर सुरक्षा जांच की पूरी 'कवायद' दोहराई जाती।

उस दिन तो अति हो गई। रात को रेडियो मॉस्को के उर्दू विभाग में कार्यरत एक भारतीय मित्र जसवंत सिंह के यहां भोजन पर जाना था। वह मुझे लिवाने आया था और होटल से बाहर जानेवाले दरवाजे के ठीक सामने मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। अभी मैंने होटल के दरवाजे से एक पांव ही बाहर रखा था—एक अभी भी अंदर था कि याद आया, कमरे से जसवंत के लिए लाई गई भेंट का पैकेट तो ऊपर 24वीं मंजिल पर अपने कमरे में ही भूल आया। उसे वहीं द्वार से पांच-सात मिनट इंतजार करने को कहकर मैं उल्टे पांव वापस घूमा, पर तभी वहां नियुक्त सुरक्षा अधिकारियों में से एक ने हाथ आड़े लगा 'नीष्त-नीष्त' (नहीं-नहीं) कहकर मुझे इशारे से रूसी भाषा में बोलते हुए समझाया कि अब मुझे 'प्रवेश' द्वार से अंदर आना होगा। प्रवेश द्वार काफी घूमकर था। यही नहीं, मुझे पता था कि वहां अंदर आनेवालों की लंबी कतार लगी होगी। होटल हो या ब्रॉडकास्ट सेंटर (जहां हम अपनी रिपोर्ट तैयार कर दिल्ली को टेलीफोन लाईनों पर देते थे), हर प्रवेश करनेवाले की सुरक्षा जांच करने में कम-से-कम तीन-तीन, चार-चार मिनट तो लगते ही थे। शारीरिक जांच तो तुरंत हो जाती थी, पर झोलों, ब्रीफकेसों आदि की एक्स-रे जांच के बाद भी उनमें से एक-एक चीज, एक-एक कागज़ निकालकर देखा जाता था। कैमरे, टेप रिकॉर्डर और उनके उपकरणों की जांच बड़ी बारीकी से की जाती थी। यह कसरत प्रवेश के समय हर मर्तबा दोहराई जाती थी। मेरे पास उस समय कुछ नहीं था इसलिए भी मैं उस कसरत से बचना चाह रहा था। जसवंत सिंह ने भी रूसी भाषा में उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की पर जवाब में वही दो शब्द 'नीष्त-नीष्त'। मजबूरी में और कोई चारा भी नहीं था।

'अजीब लोग हैं, इतनी भी क्या सख्ती, रोज तो मुझे देखते हैं, पहचानते हैं। फिर एक पांव तो अभी अंदर ही था, वैसे 'रूसी-हिंदी भाई-भाई' की बात करते हैं'... बड़बड़ाते हुए मै प्रवेश द्वार पर गया। मेरे स्वर में थोड़ी कड़ुवाहट और नाराजी तो थी ही। यूं मेरी बात समझनेवाला वहां जसवंत के अलावा और कोई था भी नहीं, लेकिन यह मेरा मुगालता था। चार-पांच दिन बाद अपने होटल के प्रवेश द्वार पर जब मैं पंक्ति में खड़ा अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहा था, एक सुरक्षा अधिकारी मेरे पास आया और बहुत ही सुंदर संस्कृत-निष्ठ हिंदी में बोला, 'सिह जी, उस दिन आप बहुत रुष्ट हो गए थे।' मै उसे पहचान गया। जसवंत के घर जाते समय जो तीन-चार सुरक्षा अधिकारी चुपचाप एक ओर खड़े थे, यह उन्ही में से एक था—शायद उन सबका अफसर था। उसकी हिदी सुनकर मैं पानी-पानी हो गया। वह कहे जा रहा था, 'यह सब आप अतिथियों की सुरक्षा के लिए है। हम तो उसी के लिए अपने कर्तव्य का पालन कर रहे है।' मै केवल यही बोल पाया, 'आप हिंदी जानते है?' उसका विनम्र उत्तर था, 'बस, थोरी-थोरी!'

बाद मे ज्ञात हुआ कि सोवियत सुरक्षाकर्मियों मे विश्व की विभिन्न भाषाएं जाननेवाले लोग थे। साथ ही उन्हें लगातार एक स्थान पर नहीं रखा जाता था। बदल-बदलकर हवाई अड्डे, अन्य होटलो, ब्रॉडकास्ट सेंटर आदि मे तैनात किया जाता था। हां, उस दिन से मैने एक शिक्षा अवश्य ले ली। सुरक्षा नियमों का सदा पालन करना चाहिए।

अपने देश में भी हवाई अड्डे या विभिन्न समारोहों के दौरान कभी-कभार यदि कोई सुरक्षाकर्मी मुझे पहचानकर मेरी जांच नहीं करना चाहता और कह देता है, 'आपको तो जानते ही हैं', मै उससे विनम्रता से अनुरोध कर अपनी सुरक्षा जांच अवश्य करवाता हूं। मेरी समझ मे यह हर नागरिक का कर्तव्य है कि अपने पद या लोकप्रियता के बल पर सुरक्षा जांच से न बचे।

सुरक्षा और अनुशासन के मामले मे मॉस्को ओलिंपिक्स मे मेरा एक और अनुभव हुआ। एक दिन हम लोगों के पास सवेरे की खेल प्रतियोगिताओं से संबंधित काफी सामग्री इकट्ठा हो गई थी। मैंने सोचा इसे पहले से ही 'एडिट' (संपादित) करके रख लिया जाए। दोपहर बाद एकत्र की जानेवाली सामग्री बाद में संपादित करके पूरी रिपोर्ट थोड़ा जल्दी बना लेंगे। मैने अपने दुभाषिये सर्गे और नताशा (यों यह रूस में हर तीसरे पुरुष और महिला के नाम से जुड़े होते हैं) से अनुरोध कर दिया कि उस दिन वह दोपहर से पहले हमारा स्टूडियो खुलवा दें, जिससे हम काम थोड़ा जल्दी निपटा दें। स्टूडियो तो खुलवा दिया गया लेकिन अगले ही दिन उन दोनों को बदल भी दिया गया। एक दिन संयोग से सर्गे मिला, तो धीमे मे बता गया कि नियत समय से पहले स्टूडियो खुलवाने को कर्तव्य के प्रति कोताही माना गया था। हमारा अपना अनुमान था कि नियत समय से पहले स्टूडियो खुलवाना कोताही से ज्यादा, सुरक्षा

नियमों को तोड़ना माना गया था क्योंकि उस दिन अनेक रेडियो अधिकारी हमसे बार-बार पूछते रहे थे कि स्टूडियो नियत समय से पहले क्यों खुलवाया गया।

मॉस्को ओलिंपिक्स के चार वर्ष बाद 1984 में मुझे एक बार फिर सोवियत संघ जाने का अवसर मिला था। दूसरी बार मैं भारत-सोवियत संघ अंतरिक्ष उड़ान की कवरेज के लिए गया था। दोनों ही दफा मुझे उस देश की कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के कई अनुभव हुए लेकिन जो बात अच्छी लगी, वह थी भारतीयों के प्रति उस देश के लोगों का प्यार। भारतीय नेताओं के प्रति सम्मान-भावना तो देखने को मिली ही, पर भारतीय सिनेमा के साथ-साथ कुछ जाने-माने फिल्म कलाकारों और संगीत ने जिस तरह से उन्हें मोह लिया था, उसे देख तो असीम आश्चर्य होता था।

मेरे साफे से ही लोग पहचान जाते थे कि मैं भारतीय हूं। कई बार ऐसा हुआ कि सामने से आ रहा व्यक्ति मेरे पास पहुंचकर कुछ क्षण रुक जाता, मुस्कराता और हाथ जोड़कर बोलता, 'नमस्ते'। किसी भारतीय से अभिवादन का एक और निराला तरीका भी देखा वहां। पास से निकले, देखा और धीमे से 'ओह' कहकर महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, इन्दिरा गांधी आदि सभी या इनमें से दो-तीन का नाम बोलते हुए निकल गये। कई लोग तो राजकपूर, नर्गिस आदि अभिनेताओं का नाम भी जपने लगते। कुछ थे जो हमें देखते ही तान छेड़ देते, 'आवारा हूं, आवारा हूं', या 'मेरा जूता है जापानी, यह पतलून इंगलिस्तानी, सिर पे लाल टोपी रूसी, फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी', और जब आश्चर्यचकित हो हम उनका चेहरा ताकने लगते तो वे खिल-खिलाकर हंस देते। बहुत खुश होते। कुछ तो पूछ भी लेते, 'टीक (ठीक) है, आच्छा (अच्छा) है।' जाहिर है, हिंदी फिल्मों से यह दो-चार शब्द उन्होंने सीख लिए होंगे।

अन्य भारतीय साथियों की तरह मुझे भी यह सब सुनना बहुत अच्छा लगता। यही नहीं यूं महसूस होता जैसे उस दूर देश में मेरे वतन की सौंधी-सौंधी मिट्टी की सुगंध महक रही हो। उस जमाने में सोवियत संघ में कड़ी जासूसी, सुरक्षा व्यवस्था, अनुशासन और विदेशी तो विदेशी, अपने ही देशवासियों पर शक करने की प्रवृत्ति के बावजूद वहां के आम लोगों का भारत के प्रति यह स्नेहभाव बहुत निष्कपट और निश्छल होता था।

सोवियत लोगों की भारत में इस दिलचस्पी की जानकारी मैं कभी-कभी अपनी कमेंट्री के दौरान भी दे दिया करता था। हमारे हॉकी मैचों के मध्यांतर में भारतीय फिल्मों के लोकप्रिय गीत बजाये जाते थे। एक दिन तो जब लाउडस्पीकर पर एक फिल्मी गाना 'झूठ बोले, कव्वा काटे' बज रहा था, मैंने अपनी कमेंट्री के दौरान यह गाना भी हजारों मील दूर बैठे अपने श्रोताओं को सुनवा दिया था—यह बताने को कि हमारे देश का संगीत विशेषकर कुछ फिल्मी गाने सोवियत संघ में कितने लोकप्रिय हैं।

□

मलेशिया का सफरनामा

माजदा असद

इस संवेदनशील लेखिका ने अपने संक्षिप्त यात्रावृत्त में हमें मलेशिया के एक स्थल विशेष से ही मानो उस पूरी संस्कृति की सैर करा दी है। एक रोचक यात्रा-वृत्तांत को इस रूप में भी लिखा जा सकता है, यह वृत्तांत इसी तथ्य का साक्षी है।

19 मई 1999, आज दिन में मेरी बेटी का फोन आया, वह बहुत खुश थी कि कल अम्मी आ रही है। उसके डेढ साल के बेटे अरहम से 'बात' हुई, उसकी छोटी-सी, बारीक आवाज सुनाई दी। बेटी ने कहा, अरहम कह रहा है, कम-कम (आ जाओ, आ जाओ) नानी कम। शाम को हम हवाई अड्डे पहुंचे।

जहाज चलने से पहले एयर होस्टेज ने मलेशियन भाषा में सवारियों का 'त्वान-त्वान जलान' कहकर स्वागत किया। मलेशिया भाषा में शब्द के अंत में 'न' की ध्वनि प्राय: सुनाई देती है। उसके बाद उन्होंने इंग्लिश में, फिर हिंदी में कहा—'नमस्कार, मलेशियन एयरलाइन में आपका हार्दिक स्वागत है। किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करने में संकोच न करें।' जहाज के कप्तान का नाम बताया, और जहाज ने चलना शुरू कर दिया। स्मार्ट दुबली-पतली मले अफसरा के द्वारा किया गया हिंदी में यह स्वागत बहुत अच्छा लगा। विमान अफसराएं हल्के हरे प्रिंट के कपड़े, अच्छा-सा ब्लाउज और स्कर्ट में नीचे साड़ी की तरह लपेट डाली हुई पहने थीं। यह विमान अफसराएं मलय और चीनी थीं।

हम कुआलालुम्पुर हवाई अड्डे पहुंच रहे थे। जहाज से बाहर की रोशनी दिखाई देने लगी थी। आसमान पर सूरज की किरणों में सुनहरी चमक ने सोना-सा फैला दिया

था। बादल रूई के गाले की तरह उड़ रहे थे। फिर उद्घोषणा हुई मलय भाषा में जिसका 'त्वान-त्वान' ही समझ में आया और कुछ नहीं, फिर हिंदी और इंग्लिश में। 'हम थोड़ी देर में कुआलालुम्पुर उतरनेवाले हैं। मलेशियन एयरलाइन में यात्रा करने के लिए आपका बहुत-बहुत शुक्रिया।'

थोड़ी देर जमीन पर तेज चलकर जहाज रुक गया। हमारी सीटें आगे ही थी इसलिए हम एक्जेक्यूटिव क्लासवालों के बाद लाइन में थे। जहाज से निकलकर यह सोचकर चलते रहे कि यह सब बाहर ही जाएंगे और चलते रहे। यह इसी वर्ष बना नया कुआलालुम्पुर इंटरनेशनल एयरपोर्ट था। इतना साफ-सुथरा और चिकना कि बस लगे कि अब पैर फिसला। काफी आगे चलकर किसी से पूछा तो उसने एक तरफ इशारा कर दिया। ज्यादातर सवारियां यहां आकर रुक गई। हमारे सामने रेलवे लाइन थी। थोड़ी देर मे एक खूबसूरत-सी रेल उस पटरी पर आकर रुकी। हम रेल के उस बड़े डिब्बे मे आ गए। हमारे देखते-देखते यह डिब्बा सवारियों से भर गया। कुछ ही मिनट बाद वह रेल सीटी बजाती हुई जिधर से आई थी, उसी तरफ चल दी। रेल में बहुत मजा आया। एयरपोर्ट का दृश्य बहुत ही सुंदर लग रहा था। लगभग दस मिनट चलने के बाद रेल रुक गई। सब यात्री उससे उतरे। एक्सकलेटर से चलकर वहां पहुंचे जहां बेल्ट पर हमारा सामान आना था। हमारा सामान बेल्ट नंबर एच पर आया था। मैंने सोचा कि बाहर जाकर देखूं कि हमें लेने कोई पहुंचा है या नहीं। मैं थोड़ी दूर चलकर बाहर की तरफ आई और शीशे से झांककर देखा तो बाहर मेरे दामाद, बेटी और नवासा खड़े थे। हम एक-दूसरे को देखकर बहुत खुश हुए और हाथ हिलाया। मैं फिर अपनी बेल्ट की तरफ लौट आई। बेल्ट चक्कर काटती रही, सूटकेस, अटैचियां, हैड-बैग उस पर घूमते रहे। कोई नाजुक चीज या फल की बास्केट वगैरह होती तो बड़ी-सी ऊंचे किनारे वाली ट्रे में रखी हुई आती। बहुत देर के बाद हमारा सामान आया। सामान लेकर हम इमीग्रेशन की तरफ पहुंचे। इमीग्रेशन हो गया। कस्टम अधिकारी की तरफ बढ़े तो उसने कहा, 'आप जाइए।' हम बाहर आ गए। मेरे दामाद तीन घंटे गाड़ी चलाकर हमें लेने आए थे। हम सब एक-दूसरे को देखकर बहुत खुश हुए।

सामान ट्राली से उतारकर गाड़ी में रखा गया और हम कुआलालुम्पुर की सड़क की ओर बढ़े। हवाई अड्डे के बाहर आस-पास की जगह की सुंदरता का जवाब नही था। साफ-सुथरी चौड़ी-चौड़ी सड़क के चारों तरफ पेड़-पौधों की गहरी हरियाली, हसीन इमारतें। थोड़ी देर गाड़ी चलने के बाद हम हाई-वे पर थे। ट्रैफिक के नाम पर कुछ चमचमाती हुई गाड़ियां वहां दौड रही थी। हमारी गाड़ी लगभग 100 किमी की रफ्तार पर चल रही थी। सड़क के दोनों तरफ भव्य इमारतें और हरे-भरे पेड़ बहुत ही अच्छे लग रहे थे। कुछ दूर चलने के बाद जुनैद ने एक पेट्रोल पंप पर गाड़ी रोककर पेट्रोल डलवाया। पेट्रोल का मूल्य प्रति लीटर एक रिंगित कुछ सेंट (मुश्किल से 14

रुपए लीटर) होगा। उसके बाद काफी दूर जाकर एक जगह गाड़ी रुकी। वहां टोल-टैक्स दिया गया। रास्ते में एक-दो बड़े शहर पड़े। पूरा रास्ता इतना अच्छा था कि यात्रा का पता ही नहीं चला। दूर जौहरबारू की सरहद नजर आने लगी।

जौहर राज्य मलेशिया के दक्षिणी छोर में बसा हुआ है। यह मलेशिया मे प्रवेश के लिए दक्षिणी द्वार है। इस राज्य का क्षेत्रफल 19984 इसक्वायर किमी है। यह मलेशिया का दूसरा बड़ा राज्य है। इसमें 8 जिले हैं—जौहरबारू, पौन टिमान, पहात, वातू, मुहआर, मरसिंग, कोटाटिंगी, किलोआंग और गिमत। प्रत्येक जिले की अपनी विशेषताएं हैं। अन्नानास, रबर, नारियल और पाम की खेती यहां विशेष रूप से होती है। यहां के गांव बहुत पुरसुकून है जिन्हे कंपौग कहा जाता है। जगह-जगह मछेरों के गांवों में मछलियां भरे तालाब हैं। यहां मछलियां विशेष देखभाल के साथ पाली जाती हैं। मछली पालने का उद्योग बहुत लाभदायक होता है और अधिकांश लोग मछलियां पालने का काम करते है। जौहर राज्य की आबादी 2-3 मिलियन है, बहुत-सी जातियां रहती हैं। मलय, जावा, जावनीज, चीनी, बुगिस और भारतीय लोग बसे हुए हैं। यह परंपरागत संस्कृति मे विश्वास रखते हैं। यहां सांस्कृतिक एकता में अनेकता पाई जाती है। खाने-पीने की चीजें सारी दुनिया की मिल जाती हैं। खाना सस्ता है। अधिकांश लोग घर मे खाना नही पकाते। थोड़ी-थोड़ी दूर पर रेस्टोरेंट बने हैं, जहां ताजा सी-फूड मिलता है। रेस्टोरेंट मे बहुत ताम-झाम नही होता। बहुत सीधा-साधा हिसाब-किताब होता है इसलिए अधिकांश लोग बाहर खाना पसंद करते हैं। जौहर राज्य ताजा समुद्री खाने के लिए प्रसिद्ध है। मछलियां, झीगे, प्रोन, केकड़े (क्रेब), लाविस्तर, आइस्टर, वाटर मसरूम, सी कुकंबर, स्केलब आदि यहां का विशेष भोजन है। मलय मे चावल को नासी कहते हैं। 'नासी बिरयानी' यहां रहनेवाले हिंदुस्तानी बासमती चावल से बनाते है। बाकी चीजें मोटे चावल से बनती हैं। नासी गौरेंग, फ्रायड राइस, नासीपुती, खुश्का चावल, नासी लेमाक, कोकोनट, चीनी खाना बहुत पसंद किया जाता है और अधिकांश रेस्टोरेंट चीनियों और मलयों के द्वारा चलाए जाते हैं। जौहर के खाने में 'लक्शा जौहर' बहुत प्रसिद्ध है। इसमें नारियल का दूध, न्यूडल्स और सी-फूड डाला जाता है। बहुत चटपटा होता है। मलेशिया का विशेष खाना चावल के क्यूब हैं जो बड़ी मेहनत से विशेष त्योहार आदि में बनाए जाते हैं। यह क्यूब सत्ते, मूंगफली की चटनी, खीरा, प्याज आदि के साथ खाये जाते हैं। मीरीबूस, सोटो, रोजोक, मक्का का प्रयोग बहुत होता है। वहां के अधिकांश सुपर मार्केट में मक्का के उबलने की खुशबू बरबस अपनी तरफ खींच लेती है। जौहरबारू मे हर शॉपिंग सेंटर में 'पिज्जा' और 'मेकडोनल' केएफसी बर्गर भी बहुत सस्ता मिलता है। बर्गर के साथ आलू के फिंगर चिप्स इतने सारे मिलते हैं कि पेट भर जाता है। सॉस की छोटी-छोटी पैकिंग भी बहुत लुभावनी होती है। आइसक्रीम भी वहां बहुत सस्ती और बहुत ही मजेदार होती है।

जौहरबारू में बहुत से दर्शनीय ऐतिहासिक स्थल हैं। यह कुटीर उद्योगों का केंद्र है। स्टेट केंद्र के आसपास बहुत से छोटे-छोटे गांव और कस्बे हैं। यहां का समुद्री किनारा बहुत सुंदर है। लगता है कि प्रकृति की सुंदर छठा अपनी संपूर्ण आभा सहित लहलहा रही है। जौहरबारू से सिंगापुर नजर आता है। यहां से सिंगापुर को देखना अपने आपमें एक अनूठा अनुभव है जिसे शब्दों में व्यक्त कर पाना बहुत मुश्किल है।

जौहरबारू पहुंचने के बाद हमारी गाड़ी 'स्ट्रेट व्यू कंडो मीनियम' की तरफ बढ़ती है। परमास जया में बनी हई 22 मंजिला इमारत है जो दूर से ही दिखाई देने लगती है। यह चार इमारतें पास-पास मिली हुई बनी है जो दूर से अपनी ऊंचाई का अहसास दिलाने लगीं। कई गोल, ऊंची-नीची, चक्करदार, साफ-सुथरी, सड़कों से होते हुए हम स्ट्रेट व्यू कंडो मीनियम के गेट पर पहुंचे। गेट पर गाड़ी रुकी। सुरक्षा गार्ड गाड़ी को पहचानता था, उसने बैरियर खोल दिया। गाड़ी एक पोर्च के सामने रुकी जहां नो पार्किंग का बोर्ड लगा था। केवल सवारियां बैठने और उतारने के लिए एक चौड़ी जगह है। हम लोग वहां उतर गए। गाड़ी से सामान निकाला, कुछ चीजें अरहम के स्ट्रोलर पर लटकायी। सूटकेस और बैग को उनके पहियों पर चलाते हुए लंबी-सी गैलरी की तरफ बढ़े। बाएं हाथ पर बी ब्लाक है। यही मेरी बेटी रहती है।

दरवाजे के पास में एक छोटा-सा डिब्बा लगा था जिसमें बेटी ने काली धारीवाला कार्ड डालकर निकाल लिया। उस पर हरा प्रकाश आ गया जिसका अर्थ हुआ, दरवाजा खुल गया। जल्दी से हम सब उस दरवाजे से भीतर चले गये। हमारे अंदर पहुंचने के बाद दरवाजा बंद हो गया। हमने बहुत बड़े ड्राइंगरूम में प्रवेश किया जिसमें पूरे फर्श पर हल्के गुलाबी रंग का कालीन बिछा था। हमारे दाएं हाथ की तरफ रसोई थी जो एक चौकोर बडे कमरे में बसी थी।

ड्राइंगरूम से थोड़ा आगे बढ़ने पर चौड़ी खुली जगह है। तीन बैडरूम हैं और दो बाथरूम। अगर आप खिड़की खोल दें तो समुद्र को स्पर्श करनेवाली वहां की हवा अपनी शीतलता से आपको विभोर कर देगी। कमरे की दाई तरफवाली खिड़की से बाहर देखने पर बहुत दूर समुद्र दिखाई देता है और समुद्र के उस पार सिंगापुर की ऊंची इमारतें। एक कमरा मेरे नवासे अरहम का है जिसमें उसकी चीजें और ढेर सारे खिलौने रखे हैं। तीसरा कमरा बेटी और दामाद का है। इतने लंबे सफर के बाद घर पहुंचकर बहुत अच्छा लगा।

मै रैलिंग के पासवाली मेज के पास बैठी हूं। सीढियों से उतरकर बड़ा-सा स्वीमिंग पूल मेरे सामने है। उसमें नीले रंग का पानी चमक रहा है। पूल में दो बड़ी गोलाकार क्यारियां हैं। दोनो क्यारियों में तीन-तीन नारियल के पेड़ हैं जो पीले-पीले नारियलों से लदे है। पूल के अंदर इन पेड़ों का प्रतिबिंब बहुत सुहावना लगता है। मेरी बाई तरफ तीन जकूजियां, एक बड़े से घेरे के अंदर बनी हैं। इनमें पानी झरने की तरह उबलता रहता है और इस पानी से एक विशेष प्रकार का संगीत निकलता है। इस

संगीत को अनुभव किया जा सकता था, अभिव्यक्त नहीं। मुझे यह संगीत बहुत अच्छा लगता है, मैं इसकी लय में खो जाना चाहती हूं। इस पानी में बैठने पर यह उबलता हुआ पानी शरीर पर इस तरह पड़ता है कि मानो मालिश हो रही है जिससे शरीर को बहुत आराम मिलता है। इस कैंडो मे रहनेवाले लोग पूल का भरपूर लाभ उठाते हैं। रोज-सबेरे बच्चे, स्त्री, पुरुष यहां तैरते, नहाते हैं। शाम को दफ्तरों से आकर लोग अपनी थकान इस पूल में आकर उतार देते हैं। कुछ खाने-पीने की चीजें भी अपने साथ ले आते हैं जिन्हें नहाने के बाद खाते हैं। शनिवार और रविवार को इसकी छटा निराली होती है, इस कैंडो मे अधिकांश विदेशी लोग रहते हैं, उनके यहां हम हिंदुस्तानियों की तरह अपने शरीर को ढकने का रिवाज नहीं है। महिलाएं बेझिझक स्वीमिग कस्ट्यूम पहनकर नहाती और तैरती और उसके बाद वहां रखी हुई आराम-कुर्सियों पर लेटकर अपने शरीर को धूप से सेंकती दिखाई देती हैं। पुरुष और बच्चे भी साथ होते है। यहां खाने-पीने का सामान भी रहता है, अक्सर पार्टियां भी यहां होती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आनेवाले व्यक्ति अपने आपमे इस तरह से मस्त होते हैं कि न कोई किसी की तरफ देखता है और न ही कुछ कहता है। वातावरण मे किसी तरह की बदतमीजी, अश्लीलता, छींटाकशी नहीं दिखाई देती है। कोई किसी से कोई मतलब नही रखता, सब अपने और अपने ग्रुप मे मस्त रहते हैं। चांदनी रात में स्वीमिंग पूल और भी सुंदर दिखाई देता है, उसमे तारे जगमगाने लगते हैं और चांद नीचे उतर आता है।

कुछ आगे बढ़कर मैं पूल की चारदीवारी को देखती हूं। एक तरफ बास्केट बॉल खेलने के लिए बास्केट लगी हुई हैं और वहां उसके बाद थोड़ी जगह है। दीवार के पार हरे-हरे पौधे और पेड़ हैं। पेड़ों के बाद दूर तक फैला हुआ समुद्र है। उसका स्लेटी पानी मुझे यहां से दिखाई दे रहा है। पानी के पार सिंगापुर की भव्य इमारते और काज़वे को देखा जा सकता है। सिंगापुर के दफ्तर और अपार्टमेंट बहुत दूर तक यहां से साफ नजर आ रहे है। सफेद बहुमंजिला इमारतें हैं जिन्हें सिंगापुर के हाउसिंग डेवलपमेंट बोर्ड ने बनाया है। यह सारी इमारतें एक ही तरह की बनी हुई हैं। रात को यहां खड़े होकर देखिए तो सिंगापुर के प्रकाश की जगमगाहट दीपावली या अलफ-लैला की कहानियों की भव्यता और प्रकाश को दर्शाती है। दाहिनी तरफ पानी ही पानी है। सिंगापुर मे पानी के उस पार कहीं बड़े-बड़े हरे पेड़ हैं जिन्हें सुरमई बादल चूम रहे है। यह पेड़ आसमान को छूते हुए नजर आते हैं। सन् 1997 मे जब मै सिंगापुर गई थी तो वहां 'वुड लैंड' से मलेशिया नजर आता था। उसके इलेक्ट्रॉनिक प्रकाश में मलेशिया के इश्तहार दिखाई देते थे। तब मैने यह नहीं सोचा था कि मैं कभी मलेशिया से सिंगापुर भी देखूंगी।

बांस की भव्यता यहां विचित्र है। बांस को मैंने यहां आकर ही इतने निकट से देखा और उसकी भव्यता को पहचाना। मैं इन पेड़-पौधों को छूना चाहती हूं लेकिन

मुझे मना कर दिया गया। क्योंकि मलेशिया 'रेन फारेस्ट' है और वहां के पेड़-पौधों को छूने से बीमारी होने का डर रहता है। बांस की जड़ों में मनी प्लांट लगे हैं। बांस को देखकर ऐसा लगता है जैसे गंडेरियोंवाला गन्ना। कहीं यह बांस लाल होता है और कहीं हरा। बांस में पोरियां बनी हुई हैं जिसमें कहीं लाली है और कहीं हरियाली। बांस के पेड़ में छोटे फूलों के गुच्छे लगे हुए हैं और इन फूलों में भी अनेक रंग हैं, हरा, पीला और लाल। यह फूल घुंडियों की तरह हैं, बांस के फूल मैंने पहली बार यहां देखे और इन फूलों ने मुझे अपनी ओर बुरी तरह से खींचा। मैं सोचने लगी, बांस की उपमा कभी बहुत अच्छे रूप में नहीं दी जाती, क्या बांस की तरह लंबे हो रहे हो! मैंने सूखे हुए बांस को देखा था लेकिन बांस की हरियाली में इतना सौंदर्य और आकर्षण हो सकता है, यहां मैंने पहली बार महसूस किया।

चिड़ियों की चहचहाहट मुझे रोज सवेरे टहलते हुए सनाई देती। मुझसे बातें करती एक काली छोटी चिड़िया फुदकती हुई मेरे पास से जाती और पेड़ पर बैठकर घंटों चिप-चिप-चिप की आवाज निकालती। कोयल की कूक भी सुनाई देती और फाख्ता की 'या दोस्त तू' भी। मैना अपनी पीली चोंच में कीड़ों को लेकर उड़ती। कव्वों की कांव-कांव सब जगह एक-सी ही होती है। बिल्लियां बिना किसी डर खौफ़ के टहलती रहतीं। मैंने एक बिल्ली की तरफ जरा प्यार से देखा, उसे बुलाया तो वह मेरे पास आ गयी। पशु भी प्यार की भाषा को समझते है। वह बिल्ली मेरे साथ काफी दूर तक चली।

यहां की सफाई देखने योग्य है। सुबह को हिदुस्तानी मूल की लड़कियां नीली जींस और कमीज पहने, लाल टोपी ओढ़े सफाई करते नजर आती हैं। पोछा लगाते समय जब अंदर का फर्श गीला हो जाता है तो वहां एक बोर्ड लगा दिया जाता है। सावधान! यह जगह गीली है। पेड़-पौधों के नीचे से भी कूड़ा-करकट प्रायः रोज ही निकाला जाता है। माली वहां सफाई करते हुए और इस स्थान को सुंदर बनाते हुए नजर आते हैं। सप्ताह में एक दिन बोर्ड लगा दिया जाता है कि आज कैंडो को कीटाणु रहित बनाया जाएगा और उसके लिए गैस छोड़ी जाती है। बोर्ड इसलिए लगता है ताकि लोग अपने घर और बालकनी के दरवाजे बंद कर लें जिससे गैस अंदर न पहुंचे। यह कालोनी अपने आपमें बहुत सुरक्षित है। बाहर से यदि किसी चीज के लिए ऑर्डर दिया जाये तो ऑर्डर लेकर आनेवाले व्यक्ति के साथ सुरक्षा कर्मचारी फ्लैट तक आता है और उस व्यक्ति को अपने साथ बाहर लेकर जाता है इसलिए यहां बच्चे और महिलाएं किसी भी समय घूमते-फिरते बेरोक-टोक नजर आते हैं। वहां किसी भी तरह का डर और खौफ नहीं है।

मलेशिया में महिलाओं की संख्या अधिक है। संख्या अधिक होने के साथ वह काफी जागरूक भी हैं और किसी तरह के काम करने में उन्हें कोई झिझक नहीं होती। शापिंग सेंटर के काउंटर पर खड़ी लड़कियां प्रत्येक पैकेट को मशीन के सामने लाती

है, उसका मूल्य कंप्यूटर पर आ जाता है और बिल हमारे हाथ में थमा दिया जाता है। वहां सामान को देखने और उसके मूल्य को जोड़ने की कोई जरूरत नहीं पड़ती। सामान ट्राली में रखा। काउंटर पर पैसे दिए और बाहर आ गए। मलेशिया के अधिकांश बाजार बहुमंजिला हैं। इनमें चढ़ने-उतरने के लिए एक्सकलेटर लगे हुए हैं। बाजार में कितनी भी भीड़ क्यों नहीं हो लेकिन शोर, गड़बड़ और चोरी नहीं होती। इसलिए वहां आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बड़े सुकून के साथ खरीदारी करता है। लोगों की खरीदने की क्षमता भी ज्यादा है।

मलेशिया में खाने की चीजें बहुत साफ-सुथरी होती हैं और उनकी क्वालिटी भी बहुत अच्छी होती है। यहां लगभग सारे फल मिलते है। यह फल टीन के डिब्बों में बंद, और खुले हुए बाजार में मिलते हैं। धोखाधड़ी, चोरी-चकारी, लूट-मार मुझे दिखाई नहीं दी। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने कुछ कपड़ा वहां खरीदा और बेचनेवाली लड़की को बताया कि दो मीटर 40 सेंमी० के तीन पीस इन थानों में से काट दे। तीन पीस मैंने दो-दो मीटर के खरीदे। घर आकर उन्हें नापा तो हर पीस में बीस सेंमी० कपड़ा ज्यादा था। पता लगा कि इस्लामी सिद्धांत के हिसाब से अधिक नाप और अधिक तोल पर विश्वास करते हैं। थोड़ी ज्यादा इसलिए देते हैं कि कही कम न हो जाए। ईमानदारी नाप-तोल बाजार में दिखाई दे तो आज के युग में बड़ी बात है।

एक महीना जौहरबारू रहने के बाद वहां से दिल्ली लौटने का कार्यक्रम बना। हम लोगों का वीजा भी एक महीने का था। आते समय अच्छा नही लग रहा था लेकिन घर तो लौटना ही था।

□

सुशान्त सुप्रिय

हिंदी कविता के नवोदित कवि। सहज शिल्प की कुशलता आकर्षक है। कहानियां भी लिखते हैं।

कल रात सपने में

कल रात
मेरे सपने में—

गांधारी ने इंकार कर दिया
आंखों पर पट्टी बांधने से
एकलव्य ने नहीं काटा
अपना अंगूठा द्रोण के लिए
सीता ने मना कर दिया
अग्नि-परीक्षा देने से
द्रौपदी ने नहीं लगने दिया
स्वयं को जुए में दांव पर
पुरु ने नहीं दी
ययाति को अपनी युवावस्था...

कल रात
इतिहास और 'मिथिहास' की
कई गलतियां सुधरीं
मेरे सपने में।

□

राजेन्द्र मिलन

हिंदी कविता में विविधता के स्वर भले ही कितने मिलते हों मगर वे अंततः हमारे अंतस की विशुद्ध ध्वनि और छवि ही होती हैं। सिद्धहस्त कवि की ऐसी ही एक कविता प्रस्तुत है।

तुम्हारे वास्ते

तुम्हारे वास्ते
हमने जिए पर्वत समुंदर
और रेगिस्तान
जब तुम्हारे वास्ते
हम पी गये सैलाब
दरिया आग का
ज़लज़ले-तूफ़ान
जब तुम्हारे वास्ते
हम सह गए विष के बवंडर
टूटते पुल—जंग खाये बाण
किंतु तुम
सह सके न तुम
टेढ़ी-प्रत्यंचा-गर्द
थोड़ी धूप, बदली, तनिक-सा अपमान
फिर भला तुम ही कहो
कैसे निभेगी
एक लंबे सिलसिले की
गुफा जैसी दूरियां
कुंद गहरी
खाइयों में सिसकती पहचान।

□

उत्पल बैनर्जी

इनकी कविता में जीवन का समूचा मुहावरा बोला करता है तथा इस मुहावरे की खोज में, जीवन को खोजा करता है यह कवि।

रख लेंगे थोड़ा-सा नमक

सारे अच्छे लोगों को लेकर
चले जाना होगा हमें
ऐसी जगहों की तलाश में
जहां सुरक्षित रह सके जीवन।

हमारी गर्भवती स्त्रियों
और शिशुओं को बचाकर रखना होगा
धमाकों और अश्लील नारों से
कुछ अच्छी किताबें
रंग-बिरंगे खिलौने
और आत्मीयता को बास्केट में भर कर
भले ही जाना पड़े आदिम जगहों पर
रहना पड़े पुरखों की तरह...
जाएंगे हम
लेकिन याद रखेंगे
कि हम युद्ध से डरकर भागे सैनिक नहीं है।

हम बसाएंगे एक छोटी-सी दुनिया
बड़ी होने के लिए,
जिसमें हमारे किसी भी कर्म या धर्म से
मनुष्यता अपमानित न हो,
एक मुकम्मल गुमनामी से
शुरुआत करेंगे

जीने के सही ढंग की,
फिर बार-बार लौटेंगे
इस मरती दुनिया में
जीवन का संदेश लेकर।

हां! इस दुनिया को छोड़ते वक्त
साथ रख लेंगे थोड़ा-सा नमक
चेहरे के लिए!

□

शीला गुजराल

वरिष्ठ कवयित्री की रचनाओं में जीवन का सच, सच-सच बोलता है। चिंतनपरक काव्य की, सरल अभिव्यक्ति।

जादू की पतंग

जिंदगी जादू की पतंग है
नियत समय तक डोर से लिपटी
श्वासों को चलायमान रखती
गंतव्य की ओर बढ़ती चली जाती है।

कुछेक पतंगें शैशवकाल में,
कुछ जवानी की दहलीज पर,
कुछ भरी-जवानी में,
और कुछ प्रौढ़ावस्था तक पहुंचते ही
दम तोड़ देती हैं।

आगे बढ़ती अधिकांश पतंगें

बौनी की बौनी बरसों-बरस
जैसे-तैसे लुढ़कती-ढुलकती
सामूहिक भीड़ मे लोप हो जाती हैं।

केवल चंदेक पतंगें,
चिरायु तक
मानव सेवा हित गतिशील
विपरीत हवाओं से जूझतीं
निर्भय निःशंक
दिग-दिगंत मे दमकतीं,
निरंतर बढ़ती चली जाती हैं
और धागा विलग हो जाने पर भी
अनुजों को पथ दर्शाने को
निज आभा के अनुचिह्न
कायम रखती है। □

रमेश सोबती

भारतीय कवियों को अपनी संस्कृति और सांस्कृतिक मिथकों से बहुत लगाव रहा है जिसे वे बार-बार छूकर नवीकृत करते और होते रहते हैं।

शिव : एक निर्माण

अनायास ... शायद कब
एक विगत स्मृति
मेरे चिरोपरांत बोध को
झकझोर गयी।

टूटने लगी थीं
अखंडित शिलाएं एक-एक

और आलोक प्रशस्त होता गया
गहन स्याह कंदराओं में
यह मैंने सब देखा
और ठहर गया
आलोक ओझल अंधेरे के टुकड़े में
टेक लेकर।

मेरे विविध भाव
स्थितियों और विचार-दिशाओं से
उलझते-उलझते रुक गए...क्या?
मैं तो निर्वासित हूं?

बहुत पहले—एक बार
मैंने शिव को नाचते-नाचते रोका था
इसलिए कि
प्रासादों की नालियों से बहता
कच्ची अस्मत का रक्त
देवलोक को कलंकित करने लगा था
निर्माण टूट गया था
उर्वशी के आलिंगनों के अगाध ऐश्वर्य में
डूब गया था
पूरा देवलोक

मैंने देखा
आक्रोशपूर्ण दृष्टियां
मुझे घूरने लगी थीं
देवताओं का कोप
बरसा था मेरे ऊपर
और मुझे
निर्वासित कर दिया गया था
देवलोक से
यह उनका निर्णय था।

मैं अपने युग की परिणति का
प्रगतिवादी स्वप्न देख रहा था

अस्मिता का विकास चाहा था
यह एक चुनौती थी
पूरे देवलोक को
और मुझे
सभी शिवालाओं की दहलीजों पर
रोक दिया गया था
बिरवे की तरह उठा एक निर्णय।

अब मैं
अपनी कविता को
गायत्री-मंत्र में बदल
मुट्ठी-भर मिट्टी ले
नए शिव का निर्माण करूंगा
राम की तरह
पूरी आस्था से।

□

डॉ० आदर्श

हिंदी के सुपरिचित कवि-कथाकार। चुपचाप लेखन कर्म में अनवरत संलग्न।

कबूतर: चार गुटर-गूं

इतिहास के समुद्र में
मैंने रखे जिन-जिन टापुओं पर पांव
कोई कबीर, तुलसी, मीरा, रहीम,
गांधी या गौतम बुद्ध
नही दिखा शांति के नाम पर उड़ाता कबूतर

कि उड़ाने के लिए कबूतर उन्हें पकड़ना जरूरी था
और जबरन पकड़ना उनकी फितरत मे नहीं था।

शांति से चुग रहे थे दाना
डार के डार सफेद कबूतर
मचाया आपने शोर कि सब भड़भड़ाकर उड़ गये
कि कहना है आपका उड़ाया था आपने उन्हें
शांति के लिए।

कहो कबूतरों से
न डरें
दाना चुगें
हड़बड़ा कर ना उड़ें
कि आकाश
मिटा नहीं सकता उनकी भूख-प्यास
लौटकर आना ही होगा
कबूतरों को इस धरती के पास।

रिझाना क्या होता है
जानना चाहो, तो देखो—
कबूतर का इतराता नृत्य
उसकी तन्मयता और काव्यात्मक गुटर-गूं
उसे कर देती है चहुं दिस से बेखबर
बस नृत्य है और नहीं कुछ
हो जायेगा धन्य जो रीझे
देखती है जो गर्दन मटका-मटका
अपने प्रियतम को
होता रहे नृत्य अविराम
और वह रहे देखती अपलक।

□

अल्पना

कविता अभिव्यक्ति का सजग और प्रासंगिक माध्यम है, और काव्यकार की नज़र में सदी की वेदना बहुत सघन है।

सदी की वेदना

ओ सदी! तुम्हारी आंखों में
जब-जब झांका है मैंने
पूरा दृश्य सिमट आया है
और मैं उसमें डूबती-उतरती
चली गई हूं...
तुम्हारे आंचल लगे घावों की
अनकही कहानी
नहीं छिपी है किसी से
वही तो दस्तावेज है—
बीते हुए कल का।
यह सही है बहुत उतार-चढ़ाव
देखे है तुमने
सच के आईने में बदहाल सूरत
भले ही छिपा गया हो कोई
पर तुमसे छिपी नहीं है,
कराह उन मासूमों की
जिन्हें वक्त के बेरहम हाथों ने
असमय ही धरती पर ला पटका है;
जिनकी चीख समा गई है चारों दिशाओं में।
ओ सदी! मैं चाहती हूं तुम्हारे भाल पर लगाना तिलक
उस विजय का जिसकी तुम हकदार हो;
तुमने ही तो बख्शी हैं तमाम सौगातें हमारे लिए
क्या हम दे सके कुछ तुम्हें
हो सके तो माफ कर देना हमें
हम तुम्हारे ऋणी हैं! □

मनोज गुप्ता

कविता की नई शुरुआत में, एक नया कवि। नया स्वर।

मूलमंत्र

हर जुल्म के बाद
वे तुमसे कहेंगे हर बार—
भूल जाओ, ऐसा होता है,
सभी तुम्हारे हैं।

किस-किससे लड़ोगे
तुम्हारे बच्चे हैं
परिवार है,
रिटायर्ड बाप है,
बीमार मां है,
बेरोजगार भाई है,
जवान, कुंवारी बहन है।

वे मंत्र देंगे
लड़ो मत, सहन करो, शांति से रहो।
तुम्हें नहीं बताया जाएगा—
असमान धरातल पर
शांति एक नुमाइश होती है,
बूढ़ी आंखों से सपने नहीं
मौत दिखती है, और
हथियार डालने के बाद
हाथों में चमक नहीं
गर्द जमती है।

पहली कक्षा से आगे तक,
राजाओं का इतिहास
पढ़ाया जाता रहेगा,
तुमसे राजा नहीं,
रंक बनने की उम्मीदें होंगी।

कृष्ण का सिंहासन,
सुदामा के लिए
न तो पहले ही
खाली हुआ था,
और न अब होगा।

□

सीताराम गुप्त

हिंदी कविता के क्षेत्र में एक संभावनाशील पदार्पण।

रामलीला

रामलीला
होती तो है हर साल
कहां होता है फिर भी
रावण दहन!
जलता है तो बेचारा निरीह
घास-फूस का अंबार
या फिर उगलता है आग
बारूद
छुपा सूखे तिनकों की ओट में!
रावणलीला ही होती है
हर बार।
पदमर्दित नहीं होता कभी

रावण का अहंकार
कुचली जाती है तो बस
अगली रावणलीला के
ख़ौफ़ से ख़तराई
मेरे सीने पर उग आई
जलती, सुलगती, सिसकती
बदरंग सूखे तिनकों में तब्दील होती
ज़र्द-ज़र्द-सी
नाजुक दूब!

□

महेन्द्र सिंह

महीन भावनाओं को सरलता से अभिव्यक्त करनेवाला कवि।

मेरी विडंबना

कैसी मेरी विडंबना!
कैसा इतिहास मेरा?
जो खुद को अब मैं
पर्दों में छिपाए बैठा हूं
पीड़ा होती है मुझे बहुत
जब मैं देखता हूं—
पर्दा उठाकर
नजारा बाहर का;
दर्द से पर कराह भी
नहीं पाता हूं मैं;
पी जाता हूं
घूंट खून के
डूब जाता हूं
गहरी सोच में!

□

इंदिरा गौड़

मन को छूने में गीत की काव्य-विधा कितनी सामर्थ्य रखती है, पाठक इंदिरा गौड़ के इन दो गीतों में स्वयं यह बात महसूस करेंगे।

दो गीत

(1)

मै सतह पर जी न पाई
और तुम उतरे न गहरे।

मै रही मै, तुम रहे तुम
तुम सघन तो मै तरल
बर्फ से होते सघन तो
बात हो जाती सरल
मैं उमगती वाण-गंगा
और तुम पाषाण ठहरे।

भीड़ में तो हूं मगर मै
भीड़ का हिस्सा नहीं,
भूलना संभव न होगा
सिर्फ मैं क़िस्सा नही
मै नहीं उनमें हुए जो—
चेहरों के बीच चेहरे।

अधर से आई नयन में
मैं वही अभिव्यक्ति हूं
भक्ति बनने की क्रिया में
चल रही अनुरक्ति हूं

मैं निरंतर साधना हूं
और तुम सपने सुनहरे।

मुक्त नभ को छोड़ भूले—
से, भला क्या चुन लिया
एक पिंजरा देह का था
एक खुद ही बुन लिया
आर्त स्वर है प्रार्थना के
हो गये पर देव बहरे।

(2)

हो गई संवेदना पत्थर शहर की
भावना के गांव में चलकर रहेंगे।

दर्द हो या मुस्कराहट
सब बराबर बांट लेंगे
नफ़रतों से जो जुड़े—
संदर्भ, सारे काट देंगे

क्या करें अब कामना तट या भंवर की
ज़िंदगी है इक नदी, मिलकर बहेंगे।

सांझ होते छेड़ देती
दादियां किस्से-कहानी
बैठ बरगद के तले सब
प्रश्न हल होते ज़बानी

व्यर्थ है परिकल्पना ऐसे नगर की
पश्चिमी है अब हवा, कैसे सहेंगे।

द्वार की सांकल बजाकर
कक्ष में प्रिय का बुलाना
ईंगुरी होना कपोलों—
का—अधर का थरथराना

खो गई अब कल्पना ऐसे प्रहर की
शेष है बस दाह तिल-तिलकर दहेंगे।

मोल अब कुछ भी नहीं है
किसलयी अभिव्यक्तियों का
अब चलन है सिर्फ़ कागज़
पर छपी विज्ञप्तियों का

खोज लें संभावना मीठी बहर की
अब ग़ज़ल के शेर कुछ थम कर कहेंगे।

□

कुमार रवीन्द्र

अपना समय और समाज गीतकार को किस प्रकार जोड़ता और तोड़ता है—समर्थ हिंदी गीतकार के इन गीतों में यह साक्ष्य उपस्थित है।

सदी के अंतिम सिरे पर

हां, खड़े हम सदी के अंतिम सिरे पर

यहां पहुंचे हम
सुनहरी घाटियों की
खोज करते
थक चुके हैं
राख की पगडंडियों पर
पांव धरते

अभी भी तो हैं चिताओं के घिरे डर।

स्वर्ग रचने की दुहाई
रही है देती
सदी यह
और पूरी सदी-भर
जलती रही
पावन नदी यह

घाट पर इसके मिले टूटे दुआघर।

चांद की
ठंडी गुफाओं में रहे
सपने हमारे
ज़हर युग का
कौन पीता
क्षीर-सागर हुए खारे

क्या करें हम सदी के आगे पहुंच कर।

सागर हमें नहला रहा

और...
फिर सागर हमें नहला रहा है।

डूबते ही जा रहे हम
इस महाजल में अकेले
दूर दिखते पोत ने हैं
सिंधु के आघात झेले

जल हमारे दर्द को सहला रहा है।

हां, इसी जल में खिला
लीलाकमल था युगों-पहले
सुना, तब थे सूर्य-धरती—
चांद-तारे सब सुनहले

जल हमें उस स्वप्न से बहला रहा है।

सगरपुत्रों के मिले कंकाल
हमको हर लहर में
दिखे हमको बुझे सूरज तैरते
डूबे शहर में

दृश्य वह अब भी हमें दहला रहा है।

□

दिनेश सिंह

हिंदी गीतकारों में एक सुप्रतिष्ठित हस्ताक्षर। कोमल भावनाओं को, ठोस संभावनाओं के साथ व्यक्त करना इनके गीतकार की विशेषता है। प्रस्तुत हैं दो गीत।

प्रियतम की पाती

टेढ़े-मेढ़े आखर वाली लिपि
पढ़ी न जाती है
गैरों के हाथों लिखी हुई
प्रियतम की पाती है।

जो जीवन जीते हैं
फैशन के लटकों के बल पर
जो समर जीत लेते हैं
टोनों-टटकों के बल पर।

पैसों की धुन
उनके गीतों की धुन बन जाती है।

अपनी लय
अपनी राम कहानी के भीतर
ढलती।
नाचते हुए दो पाटों पर
आटा-चक्की चलती।

रोटी की शक्ल
पिसे सपनों से गढ़ी न जाती है।

चटका चेहरे का फ्रेम
नज़र का भी दरका शीशा
कितना भी जोड़ो
गोंद पिघल जाता
नकली घी-सा।

ऐसे में फोटो
किसी 'फ्रेम' में मढ़ी न जाती है।

छूछे ही

छूछे ही सब रह गए
भागनेवाले पीछे-पीछे
आगेवाले
झंडे लिए हुए।

है एक सफेदी खड़ी
गले फूलों की माला डाले
कुछ बोलती हुई।
अपनी ही कोई बात
अकेली
भरी भीड़ में
चीख-चीख खोलती हुई।
जयकारों के हिचकोलों में
नित नये-नये नारे गढ़ती
मादक उम्मीदें पिये हुए।

सड़के-इमारतें-इश्तहार
सब, मॉडल एक गढ़ रहे हैं
बाजारों में।
जिसके भीतर कल का बच्चा
टंकित संवाद रट रहा है
अखबारों में।
दर्जी-जैसा
दूकान सजाए बैठा है स्कूल
ओंठ दो सिए हुए।

सपने जो भी हैं
वे अब वैसे नहीं
कि जैसे होते थे इससे पहले।
हाथों से छूट जायें तो
हम बैठे रहते थे पहर-पहर
सहमे-दहले।
संघर्षो में
जुगाड़ की भाषा
रखती हमको अमर
कि हम मरकर भी रहते
जिए हुए।

□

अश्वघोष

हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार एवं कवि। 'तूफान में जलयान' चर्चित काव्य-संग्रह।

गीत

दे गयी धोखा शहर में साथ चलती छांव
याद आया तब अचानक नेह धर्मी गांव।

एक बूढ़ी-सी रसोई खांसता आंगन
भर गया अपनत्व से रीता हुआ यह मन
बहने लगी स्नेह की भागीरथी अविराम।

खेत पर अपवाद-सा बैठा हुआ इक स्वाद
पढ़ रहा है आदमी की तृप्ति का अनुवाद
भूख में उगने लगीं कुछ रोटियां हर ठांव।

याद आया ताल के तट पर खड़ा बरगद
हो गया, बौने हुए क़द का, बड़ा-सा क़द
रास्ता पाने लगे हारे-थके ये पांव।

□

बशीर बद्र

उर्दू के सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार। वर्ष 1999 के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से अलंकृत। कई संग्रह प्रकाशित।

ग़ज़ल

बेवफ़ा रास्ते बदलते हैं,
हमसफ़र साथ-साथ चलते हैं।

किस के आंसू छुपे हैं फूलों में,
चूमता हूं तो होंठ जलते हैं।

उसकी आंखों को ग़ौर से देखो,
मंदिरों में चिराग़ जलते हैं।

दिल में रहकर नज़र नहीं आते,
ऐसे कांटे कहां निकलते हैं।

एक दीवार वो भी शीशे की,
दो बदन पास-पास जलते हैं।

वो सितारे मिरे सितारे हैं,
जो भरी धूप में निकलते हैं।

कांच के, मोतियों के, आंसू के,
सब खिलौने ग़ज़ल में ढलते हैं।

□

आचार्य सारथी

युवा ग़ज़लकार और कवि। आम आदमी का दर्द इनके काव्यकर्म की सहज प्राथमिकता है।

ग़ज़ल

पेट के बल लेटकर परचम उठाता कौन है,
टूटकर भी ज़ुल्म को नीचा दिखाता कौन है।

प्यास से पथरा गए होठों से जाकर पूछिये,
अज़मतें नदियों की झीलों में डुबाता कौन है।

आज सन्नाटे के जबड़ों में फंसा है भेद ये,
जिंदगी की गूंज को गूंगा बनाता कौन है।

पूछकर देखो दरख़्तों की सिकुड़ती छांह से,
हर दुआ के हाथ आकर काट जाता कौन है।

सिर्फ़ लावारिस पड़ी वह लाश ही बतलाएगी,
स्वयं को इतिहास का पन्ना बताता कौन है।

मैं नहीं, तू भी नहीं, वो भी नहीं जो ढह गया,
इस व्यवस्था को भला अंधा बनाता कौन है।

'सारथी' मैं शब्द हूं, वह अर्थ की बहती नदी,
इस तरह की कल्पनाओं को जगाता कौन है।

□

कोरियाई कविता-यात्रा

हिमांशु जोशी

एक सौ दो कोरियाई कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का यह संकलन अपने तरह का एक उल्लेखनीय प्रयास है। गत एक शताब्दी की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें तो लगेगा कि आधुनिक भारतीय साहित्य, विशेष रूप से पश्चिम से प्रभावित रहा है।

यों साहित्य के लिए देशों की राजनीतिक सीमाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। परंतु यह तथ्य सर्वथा सत्य है कि एशियाई जनमानस—बौद्धिक वर्ग विशेष रूप से, पश्चिमी आधुनिकतावाद की चकाचौंध से बुरी तरह आक्रांत रहा। उससे प्रभावित होकर उसके अंधानुकरण की दिशा में भी जाने या अनजाने निरंतर अग्रसर होता रहा। इसके दो परिणाम स्पष्ट रूप से उभरकर आए—राष्ट्रीय स्तर पर धीरे-धीरे अपनी जड़ों से हम दूर होते चले गए। अपनी पहचान को भुला देने में ही हम कहीं अपनी पहचान समझने लगे।

दूसरे—राष्ट्र की सीमाओं से परे—हमने अपने प्रतिवेशियों को, अपने भाव-जगत से गहरे जुड़े सहोदर देशों को, उनके साहित्य को, उपेक्षा भाव से देखा। उनके प्रति तिरस्कार का परिणाम रहा कि पूरब और पश्चिम के बीच कोई संतुलित, समानांतर संधि-रेखा नहीं खोज पाए। हमारी दृष्टि, हमारा दृष्टिकोण उतना व्यापक नहीं बन पाया, जितना समय, हम से अपेक्षा कर सकता था।

हमारे लिए थाई-साहित्य या बर्मी-साहित्य अथवा कोरियाई, चीनी, जापानी, इंडोनेशियाई, सिंहली साहित्य की अपेक्षा फ्रेंच, जर्मन, डच, इतालवी, अंग्रेजी साहित्य अधिक 'अनिवार्य' बन गया। कहने का अर्थ यह नहीं है कि पश्चिमी साहित्य की उपेक्षा की जानी चाहिए थी, बल्कि इसके स्थान पर पश्चिमी-साहित्य के साथ-

साथ एशियाई/अफ्रीकी साहित्य की महत्ता को भी समझना चाहिए था। तब शायद समग्र—समकालीन विश्व साहित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक, अधिक व्यापक, अधिक प्रमाणिक हो पाता।

जिस तरह एक अंतरधारा समग्र भारतीय साहित्य में समान रूप से प्रवाहित होती दिखलाई देती है, उसी तरह एशियाई-साहित्य के साथ भी एक अद्भुत समानता यत्र-तत्र प्रतिबिंबित हुई—समग्र सोच को एक पारदर्शी पहचान बनाती है। साहित्य में यदि किसी लेखक विशेष का नाम न दिया जाए तो यह बतलाना आसान नहीं होगा कि निम्न रचना, किस देश के, किस लेखक की है:

गाय की आंखे
वे शिथिल रिक्त आंखें
मेरी दादी की आंखें।

मेरी दादी,
सब से पवित्र पुण्यात्मा,
मेरे लिए संसार में।
एक गाय, जिसने बंद कर दिया है
ताजा घास चरना—
और बस खड़ी है यहां।

लेकिन नहीं है, आखिर वह मेरी दादी।
यह है, इस विश्व की सतत शांति,
मृत और वर्जित एक समाधि से।

भारतीय-सी लगनेवाली यह कविता, जो भावबोध में ही नहीं, वस्तुस्थिति के आकलन में भी विशुद्ध भारतीय लगती है, कोरियाई कवि गौ-उन की है। वृद्ध दादी की यह तुलना एक समूचे राष्ट्र की अंत:चेतना का भी कहीं प्रतिबिंबन करती है। एक नितांत आत्मीय विचारबोध का भी।

लेव तोल्स्तोय को पढ़ते समय क्यों लगता है कि भारतीय सोच के यह इतने निकट कैसे हैं? चीनी कथा-शिल्पी लू-शुन का लेखन क्यों प्रेमचंद का पर्याय प्रतीत होता है?

जिस तरह भारत और भारतीयता की एक विशिष्ट अवधारणा है, उसी तरह एशियाई लेखन और समग्र एशिया की भी एक अलग पहचान है। पाश्चात्य के साथ-साथ पौर्वात्य और प्रतिवेशी साहित्य के प्रति भी आत्मीयता का भाव परम आवश्यक है, जिसकी सदैव उपेक्षा हुई है।

डॉ० दिविक रमेश का यह कार्य इस दृष्टि से एक विशेष महत्त्व का है। इन

कविताओं से कोरियाई जन-मानस को ही नहीं, समस्त कोरिया को भी समझने में सहायता मिलती है। कोरिया और भारत के बीच हजारों मील की दूरी होने के बावजूद, कहीं-कहीं अत्यधिक निकटता भी है। जिस तरह सारे एशिया को प्राचीन भारतीय साहित्य एवं दर्शन ने प्रभावित किया, उससे कोरिया भी अछूता न रहा। बौद्ध-दर्शन के प्रभाव से सदियों तक वह भारतीयतामय रहा। इक्कीसवीं शताब्दी के द्वार पर पहुंचने के बावजूद, अतीत के वे चित्र आज भी यत्र-तत्र प्रतिबिंबित होते झलकते हैं। आधुनिकता के प्रति अतिशय आग्रह के बावजूद वे भारत की तरह, जापान की तरह, कम्बोडिया, इंडोनेशिया की तरह अतीत से भी उसी तरह जुड़े है। अतीत और वर्तमान के समन्वय मे उनकी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनी है। साहित्य समाज से, समाज इतिहास से, इतिहास काल के अबाध क्रम से भिन्न नहीं होता। यह अभिन्नता कोरियाई कविताओं का प्राण-तत्त्व है।

आधुनिक कोरिया का एक विशिष्ट कवि इन-सो-री अपनी कविता 'मां के लिए' मे लिखता है:

अब जरूर जाना चाहिए मुझे
गांव से बाहर
फूलों मे खिली आकृति देखने
जरूर लौटना चाहिए मुझे
अपने गांव के आवास पर
जहां स्वागत करती है मेरी मां
गांव से बहुत बाहर—
गांव के स्मारक के पास।
जहां नही सूखता
कोई भी आंसू,
देखने एक अश्रु-पुष्प—
मां के वक्ष में खिलता
मुझे लौटना है, जरूर
अपने गांव-घर।

वर्तमान वस्तुस्थितियों को बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति दी गई है, ऐसी अनेक कविताओं में।

सन् 57 के निकट, अब से लगभग दो हजार साल पहले अयोध्या की एक राजकुमारी कोरिया गई थी। वहां के राजकुमार से उसका विवाह हुआ था, कालांतर में जिन्होंने कोरिया मे काया यानी गया-साम्राज्य की स्थापना की थी। इस संबंध के बाद अनेक भारतीय परंपराएं, रीति-रिवाज कोरियाई समाज ने आत्मसात किए,

जिनका प्रभाव अब भी वहां आसानी से देखा जा सकता है।

भारत जहां सदियों तक ब्रिटिश-साम्राज्य के अधीन रहा, उसी तरह आधुनिक काल में सन् 1910 में कोरिया को पराजित कर, जापान ने अपनी पताका वहां फहराई और 15 अगस्त 1947 की तरह, 15 अगस्त 1945 को वह भी पराधीनता से मुक्त हुआ। भारत की तरह कोरिया को भी विभाजन की वेदना सहनी पड़ी। भारत की तरह कोरिया की सीमा भी निरंतर सुलगती रहती है।

दासता किसे कहते हैं? शोषण क्या होता है? अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, अपनी पहचान किस तरह बनाई रखनी चाहिए? किस तरह एक समन्वित, संतुलित समाज की संरचना की जाए—भारत की तरह कोरियाई समाज के भी ये ज्वलंत प्रश्न है। वहां की अग्रणी कवयित्री चौई यानी किम् याङ्-शिक की कविताएं पढ़कर, ऐसा नहीं लगता कि ये किसी दूर देश की कवयित्री की कलम से लिखी गई है। भारत से संबंधित उनकी भाव-प्रवण कविताओं का पूरा एक संग्रह है।

इन कविताओं में कोरियाई समाज, कोरियाई संस्कृति ही नहीं, अतीत का, वर्तमान का ही नहीं, कहीं भविष्य का कोरिया भी समाहित है। कोरिया क्या है? उसे इन कविताओं के माध्यम से तलाशा जा सकता है।

डॉ० दिविक रमेश के इस सार्थक प्रयास की तरह, साहित्य अकादेमी को जापानी, चीनी, थाई, कंबोडियाई, विएतनामी, मंगोलियाई, सिंहली आदि देशों की कविताओं को भी भारतीय पाठकों तक पहुंचाने का प्रयास करना चाहिए। और साथ ही इस बात का भी प्रयास हो कि यदि संभव हो तो कविताएं मूलभाषा से सीधे-सीधे हिंदी में रूपांतरित की जाएं।

हां, प्रस्तुत कृति के अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये मूल के इतने निकट है कि मूल-जैसी ही लगती हैं।

□

_कोरियाई कविता-यात्रा_ (कविता-संकलन)/चयन एवं अनुवाद: दिविक रमेश/प्रकाशक: साहित्य अकादेमी, फ़ीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली-110001/मूल्य: 130/-

शायर की चेतन्य शायरी

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

रामबहादुर चौधरी 'चंदन' की शायरी (ग़ज़लियात) 'चंदन के फूल' शीर्षक से पिछले दिनों छपी है। हिंदी में दुष्यंत कुमार की शायरी के बाद ग़ज़लियात की बाढ़ आ गई क्योंकि नई कविता या गद्य कविता में बौद्धिकता कविता को दुरुह और असंप्रेष्य बनाती थी। इस नई कविता ने एक ओर तो ऐसों को भी कवि बना दिया, जिनमें न नई बुनावटें थीं, न नया अप्रस्तुत विधान। दूसरी ओर, नई कविता में ऐसे उत्कृष्ट कवि थे और है, जिनमें वर्तमान की संकटानुभूति भी थी और नवीनता भी थी, नई मौलिक संरचना थी और चिंतन-मनन भी। किंतु ऐसी कविता दुर्लभ थी और है।

ऐसे में अनेक रचनाकारों का अवरुद्ध मानस जैसे नया मार्ग पा गया हो, अतएव हिंदी शायरी की तरफ लेखक मुड़ गए क्योंकि ग़ज़ल-अशआर की एक परंपरा हिंदी समाज में पहले से थी। हिंदी के बड़े-बड़े कवियों ने भी जब-तब शेर और ग़ज़ल लिखे थे, लेकिन दुष्यंत ने पारंपरिक यानी हुस्नोइश्क या रोमानी रंग की शायरी को समाज के यथार्थ से जोड़ दिया। दूसरे—दुष्यंत ने उर्दू शायरी को नया अंदाजेबयां दिया जो परंपरा का नया निखार था। ग़ालिब, मोमिन, दाग़ जैसे शायरों की कथन-भंगिमा में एक अनूठापन था, उक्ति की वक्रता थी, चमत्कृत करने का शऊर था। इससे हिंदी रचनाकारों में अनेक रचनाकार दुष्यंत की तरह ग़ज़ल आज़माने लगे, कई कामयाब हुए, अधिकतर कम कामयाब हुए। दुष्यंत भोपाल में रहकर उर्दू ग़ज़ल के छंद वगैरह समझ गए थे। पर हमारे अधिकतर हिंदी कवियों ने उर्दू भाषा के रदीफ-काफिए और दिलकश अंदाजेबयां को सीखने की कोशिश नही की। इस प्रकार दो तरह के हिंदी शायर सामने आए। अनाड़ी और बाशऊर। कई हिंदी शायर हिंदी शब्दावली का ग़ज़लों में प्रयोग करने लगे, कहीं-कहीं उन्हें सफलता भी मिली जैसे सूर्यभानु गुप्त को, पर अधिकतर हिंदीवाले असरदार हिंदी ग़ज़ल का नमूना पेश नहीं

कर सके।

रामबहादुर चौधरी 'चंदन' उन हिंदी शायरों में हैं जिन्हें ग़ज़लकारी में कुछ अधिक सफलता मिली है। उन्होंने उर्दू-ग़ज़लकारी में छंद की भूलें कम की हैं, पंक्तियों के वजन को बराबर रखा है और उर्दू के अलफ़ाज़ के प्रयोग मे एक हद तक बाशऊरी बरती है। उनके कुछ दिलकश नमूने यों हैं—

चलें झोपड़ी मे जरा झांक देखें,
कहानी सुनाती कोई लाश होगी।

चंदन को विष की दाह जलाती नहीं कभी,
रहने दो लिपटे नाग, छुड़ाकर भी क्या करें।

जब शाख में खिलने का ख्वाब आता है,
तब बाग़ में इक इंकलाब आता है।

माटी की इस महक को यों कैसे बिसार दें,
हम सांप तो नहीं हैं जो केंचुल उतार दें।

जिंदगी में गमों के ही फेरे हुए,
रात मछली हुई दिन मछेरे हुए।

ऐसे कई अशआर चंदन जी की ग़ज़लो मे मिल जाते है जिनमें बंदिश की साफ तराश भी है और नुक्ता भी। चंदन जी की शायरी में परिवर्तन की बेचैनी है, सत्ता की हविस के मारे हुए जालिम नेताओं-रहबरों पर कटाक्ष है और क्रांति की उकसाहट भी है, लेकिन उन्होंने नकारात्मक होने से अपने को बचाया है।

रोमान इस शायर का प्रमुख सरोकार नहीं है, प्रमुख मसला है, गरीबी-शोषण-मेहनतकश आवाम की खराब हालत और इसके विरोधी रंग के रूप में सरमायेदारों-शोषकों-सत्ताधीशों का समानांतर सितमगर परिदृश्य। यह सरोकार ही 'चंदन' को आवाम का शायर बनाते हैं:

बेसहारों ने समझा जिसे रहनुमा,
हक निबोले का हरसू चुराए हैं वो।

मुझे लगता है 'चंदन' नाम उपनाम के अनुरूप सही राह पर है। उनकी शायरी में सऊरे-सुखन है, सुगंध या खुशबू-ए इंसानियत भी है। उनके रचाव में एक सफाई

की फिक्र है, गम है। जरूरत इस बात की है कि शेर किस तरह अनूठे और लाजवाब बनें, अदायगी में नई बुनावट भी हो, गहराई भी।

आशा करनी चाहिए कि चंदन जी इन सब खूबियों और जुबान की दिलकशी का विकास करेंगे। 'चंदन के फूल' हिंदी की शायरी में बेकार नहीं जाएंगे, इस उम्मीद के साथ चंदन जी का हिंदी ग़ज़लकार के रूप में स्वागत, खुशामदीद।

□

चंदन के फ़ूल **(ग़ज़ल-संग्रह)/ग़ज़लकार: रामबहादुर चौधरी 'चंदन'/प्रकाशक: मीनाक्षी प्रकाशन, लक्ष्मी नगर, नई दिल्ली-110092/मूल्य: 65/-**

यानी जीना सीख लिया

नासिरा शर्मा

लालित्य ललित का काव्य-संग्रह 'यानी जीना सीख लिया' किशोर अवस्था की मीठी अनुभूतियों से परिपक्व होते युवक के सामाजिक सरोकारों की एक बानगी है। कवि की भावनात्मक यात्रा का अहसास पाठक बड़े सहज रूप से इन कविताओं की विविधता से करता है। संपूर्ण काव्य-संग्रह चार खंडों में विभाजित है। पहले खंड का विषय 'लड़की' है। आरंभ की यह पंद्रह कविताएं अपनी सादा-मासूम अभिव्यक्ति से जहां प्रभावित करती है वही पर उनमें निहित यथार्थ की गहरी पीड़ा से भी आपका परिचय कराती है। ये कविताएं एक साथ भावुक और गंभीर संवेदनाओं के बीच बहती बारीक धारा है, जिनका विषय 'लड़की' है। यह लड़की चाहे पत्नी के बहाने या जीवन के अन्य अनुभव के बहाने रहती कविता के केंद्र में है।

आज से कई वर्ष पहले गगन गिल की कविता 'चौबीस साल की लड़की क्या सोचती है' ने एक ताज़गी का अहसास दिया था। उस कविता के बाद हिंदी में 'लड़की' पर लिखी सुंदर कविताओं की बाढ़ आ गई थी, जो एक सुखद आश्चर्य के रूप में लड़की के जीवन के अनेक आयामों को सामने लाने और समझने का प्रयास करती रही है। ललित की कविताओं में यह प्रयास अधिक मुखर होकर आया है—

ख़ूबसूरत लडकी
देता है प्यार को जन्म
शादी करा
छोड़ जाती है
ढेर-सी पहेलियां
सुलझाने में रत हम!

समय के बदलने की आहट को कवि लड़कियों के बदलते तेवर में बखूबी महसूस करता है और उसी नर्म स्वर में यथार्थ को बांधता है—

लड़कियां
नही रबड़
जितना चाहे
फैला लिया
लड़कियां समझदार हो चुकी है!

धीरेन्द्र अस्थाना की अक्सर कहानियों में पुरुष का वह चेहरा उभरता है जो उसका वास्तविक चेहरा है—डरपोक, दु:खी, सहमा हुआ। ठीक वही अहसास ललित की कविताओं में बड़ी ईमानदारी से व्यक्त हुआ है। भोला, सपनीला और निश्छल!

लड़का शाम होते ही
आईने को देखता है
कंघी ले कई-कई तरह के
बाल बनाता है।
काली पैंट के साथ/चेक की कमीज़ पहनता है!
लड़का देख रहा है/बाल सुखाती लड़की को
लड़की नही देखती
लड़का देखता है, सोचता है
लेता है सपने सामने वाली लड़की के
लड़कियों को पता नही चलता!

संग्रह का दूसरा खंड 'प्यार' शीर्षक पर है जिसमें कुल तेईस कविताएं है। बेहद छोटी और मुख्तसर, मगर असरदार—

टपकेगा आंसू/याद कर लेना/हर एक आंसू में/मुझे पाओगी।

ललित, संग्रह के तीसरे खंड 'छीका' में एकाएक बड़े हो जाते है। प्यार की जुदाई और बेवफाई के दायरे से निकल वह बचपन की उन यादों में डूबने लगते है जो किसी भी साहित्य की धरोहर होता है। ज़मीन, ज़मीन से जुडी मान्यताएं, परंपराएं, विश्वास, संबंध, अनुराग—जिनसे मिलकर एक इंसान का व्यक्तित्व अपनी पर्तदार, बुनावट में ढलता है। इस खंड में कुल पांच कविताएं है: 'गांव', 'देहाती रंग', 'शहरी रंग', 'अनबूझी पहेली', 'नियति'। परंतु उनमें पीड़ा गहरी और जीवन का विस्तार अधिक है—

जानते हो
जीवन को समझना/आसान नहीं।
बचपन में
घुमाए थे लट्टू/सीखा था डोरी का महत्त्व

बिना चूल्हे के रोटी पकी है?
मां से पूछो
जो फूंक-फूंक जलाती थी
आत्मा हर रोज़/मिट्टी से थापती थी
घर का आंगन
जानते हो
जीवन को समझना
आसान नहीं !

संग्रह का चौथा खंड 'विविधा' के नाम से है, जहां खुली आंखों से जीवन का नज़ारा देखने को मिलता है। यह नज़ारे अनकहे संकेत नहीं हैं, न शिल्प-शैली के आवरण में पहेलियों जैसा कोई विचार या समस्या छुपी है बल्कि आज जो घट रहा है, चल रहा है। इंसान को वैचारिक स्तर पर उद्वेलित करता है अपने को मजबूर पाता है कि इस मजबूत होती व्यवस्था में वह कुछ भी नहीं बदल पा रहा है—न लिखित शब्दों से, न बुलंद नारों से। उसी वेदना को ललित ने इन कविताओं में बांधा है।

ललित ने हाइको के तर्ज़ पर लिखी अनेक छोटी-छोटी कविताओं में बड़े सच को उकेरा है जो पढ़ते ही डंक-सी चुभती है। इस खंड में विभिन्न मुद्दों पर, अनुभवों पर, यथार्थ और भावना पर लिखी कविताओं का समावेश है। उसी के साथ बेहद नाजुक बयान भी, बतौर मिसाल—

उनींदी आंखों में
रात का काजल है और
एक ख़ामोश याद!

ललित की भाषा सीधी, सरल है। उसमें भारी-भरकम शब्दों का न मक्कड़जाल है, न विचारों की गैरज़रूरी जलेबियां, जो विषय को बोझिल बनाकर रख दें। उनकी शैली में हल्का कटाक्ष, जो व्यंग्य और हास्य का मिला-जुला रंग है, वह अक्सर जगहों पर छलकता है! यह उनके सामाजिक आलोचक को उजागर तो करता है मगर मुख्य स्वर उनकी कविताओं का नहीं बनता है। साथ ही यह जताता ज़रूर है कि जीवन के दुर्गम बीहड़ रास्तों से बचकर निकलना कवि यकीनन सीख गया है। □

***यानी जीना सीख लिया* (कविता-संग्रह)/कवि: लालित्य ललित/प्रकाशक: अभिरुचि प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य: 80/-**

भविष्य घट रहा है

अरुण कुमार जैमिनि

बहुमुखी प्रतिभा के धनी वरिष्ठ कवि कैलाश वाजपेयी ने अपनी काव्य-यात्रा का प्रारंभ साठ के दशक में प्रकाशित अपने काव्य-संग्रह 'सक्रान्त' के माध्यम से किया था। तब से लेकर अब तक उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके है। 'भविष्य घट रहा है' उनका नवीनतम काव्य-संग्रह है, जिनमे संकलित 78 कविताएं वर्तमान मानव समाज के बहुआयामी पक्षों से पाठकों को रु-ब-रु कराती है। इन कविताओं मे वे तमाम प्रश्न और समस्याएं उपस्थित है, जिन्होंने वर्तमान सामाजिक जीवन मे हलचल मचा रखी है।

आज के वैज्ञानिक युग मे उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित विशाल जनसमूह की यह मानसिकता बन गई है कि पैसे से हर चीज खरीदी जा सकती है। लेकिन कवि का यह दृढ़ मत है कि सरलता, दया, स्नेह, उपकार, त्याग जैसे नैतिक मूल्यों की तरह 'नीद' जैसी प्राकृतिक आवश्यकता को क्रय करने की सोचना, मानसिक दिवालिएपन के अलावा और कुछ नही है। नीद के आगोश मे वही व्यक्ति सहजता के साथ जा सकता है, जो कर्मशील है, छल से दूर है। 'उसने कहा' कविता मे कवि स्पष्ट रूप से चेतावनी के स्वर में अपनी बात कहता है—

नींद हूं मै/हर किसी की/हम बिस्तर होने।
यो ही नही चल पड़ती/नशा खरीद सकते, तुम मुझे नही।

अति महत्त्वाकांक्षाओं के चलते अपनी शक्ति और सीमा को न पहचानने की वजह से ही असंतुष्टि की भावना समाज के सभी वर्गो में दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। हम सब बहुत सारा, एक साथ तुरंत पा लेना चाहते है। 'अदना महान' कविता मे भिक्षुक और 'गरुड़ गीत' मे गरुड़ के माध्यम से कवि ने इस तल्ख सत्य को उद्घाटित किया है—

मुझे क्या पता था/आकाश/तुम एक ऐसा समुद्र हो/
जिसका कोई अंत...नहीं/यह उड़ान/मै कभी भूलकर/भी न भरता।

लेकिन 'सुबह का भूला' शाम को वापस आ जानेवाली कहावत तेजी से बदलते इस युग में प्रासंगिक नहीं रही। पूर्व मे की गई भूल का प्रायश्चित करने मे व्यक्ति स्वयं को अक्षम पा रहा है क्योंकि नए युग ने पुराने समय के सभी समीकरणो को बदल दिया है। समीकरण भले ही बदल जाएं पर ये जरूरी नही कि समय बदलने के साथ किसी वस्तु की उपयोगिता भी घट जाती है। 'घास' कविता के माध्यम से कवि ने घास की उपयोगिता बताते हुए कभी रोटी के रूप में, तो कभी संजीवनी के रूप मे जीवन का आधार बताया है।

इस काव्य-संग्रह में कवि के प्रकृति-प्रेम के साथ उसके संरक्षण की चिंता भी विशेष रूप से उभरकर आई है। कथित विकास और प्रगति के नाम पर वैज्ञानिक अनुसंधानों के जरिए हमने जो औद्योगिक प्रगति की है उसने हमारे जीवन के सुख-चैन पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। प्रकृति की गोद मे जो मानव सभ्यता पल्लवित और पुष्पित हुई, उसी के हरियाले आंचल को आज का कथित सभ्य समाज पर्यावरण की चिता किए बिना, काट-काटकर छोटा करता जा रहा है। इसी चिंता को 'जंगल की आवाज' कविता मे तल्खी से व्यक्त किया है—

तुम्हारी नासमझी से लगातार नष्ट होता
सुनो! मैं जंगल बोल रहा हूं
तुम जो मेरा वध कर रहे हो
तुम को नहीं पता दरअसल
तुम आत्महत्या कर रहे हो।

इस संग्रह मे कवि ने उन सनातन जीवन मूल्यों के प्रति भी चिता व्यक्त की, जिनके बलात् निष्कासन से समाज में अराजकता, भ्रष्टाचार और शोषण का आधिपत्य स्थापित होता जा रहा है। यद्यपि ये समस्याएं प्रत्येक युगीन समाज की रही हैं किंतु आज इन समस्याओं ने संवेदनहीनता व दब्बूपन के चलते भयावह रूप ले लिया है। 'फिरोजाबाद', 'पुरानी शराब' जैसी कविताएं इसी सामाजिक कुव्यवस्था का दर्पण है, वहीं मृत्यु के बाद अंतिम संस्कार के लिए आरक्षण जो है, विमानों की टक्कर और सामूहिक नरसंहार के बाद मृतक को धर्म के आधार पर विभाजित करना, आज के बदलते सामाजिक मूल्यों को बहुत निर्ममता से उद्घाटित करती है।

इस संग्रह की अधिकांश कविताएं प्रतीकात्मक स्वरूप लिए हैं, जो व्यक्ति को यथार्थ से अवगत कराने में सक्षम है। संग्रह की शीर्षक कविता 'भविष्य घट रहा है' का गूढ़ अर्थ भी ज्यादातर कविताओं में ध्वनित होता है। शीर्षक मे 'घट' शब्द दो

अर्थों को व्यंजित करता है, एक तो कम के अर्थ में दूसरा वर्तमान समय में जो कुछ घट रहा है। विरोधाभासों से भरे जीवन में व्यक्ति के सामने जो संकट उपस्थित है, वह अंतर्द्वंद्वों से घिरे भविष्य की तरफ संकेत कर रहे है।

काव्य-संग्रह की अनेक कविताओं का भावार्थ हृदय को छू लेता है और पाठकों को सोचने के लिए विवश भी कर देता है। साथ ही कुछ कविताएं बौद्धिकता से आक्रांत दिखाई देती हैं। कुल मिलाकर यह काव्य-संग्रह वर्तमान युग के सामाजिक परिदृश्य को उकेरने में पूरी तरह सक्षम है।

□

***भविष्य घट रहा है* (काव्य-संग्रह)/कवि: कैलाश वाजपेयी/प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003/मूल्य: 75/-**

देखो यह मेरी जिजीविषा अदम्य

डॉ० भारतेन्दु मिश्र

समीक्ष्य पुस्तक 'अचानक हम फिर' के रचनाकार नेमिचन्द्र जैन की पहचान 'तारसप्तक' के कवि के रूप में हुई। सन् 1973 में नेमि जी का 'एकांत' शीर्षक से काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ, इसके बावजूद नेमि जी का नाम एक समालोचक—विशेषकर नाट्य-चिंतक के रूप में अधिक जाना जाता है। नेमि जी ने स्वयं ही पुस्तक के प्रारंभ में इस सत्य को भूमिका में स्वीकार किया है कि पचास के दशक में दिल्ली आने के बाद वे सीधे कविता या कवि-कर्म से न जुड़कर, आलोचना से अधिक जुड़ गये किंतु कविता के प्रति राग उनके मन में सदैव बना रहा। यही कारण है कि नेमि जी ने 'एकांत' के बाद बहुत कम कविताएं लिखी है। 'अचानक हम फिर' शीर्षक भी उनकी कवि मार्ग पर वापसी का ही द्योतक है।

नेमि जी की कविता-यात्रा सन् 1940 से लेकर आज तक गतिमान है। उनकी कविताएं पढ़कर आधी सदी की हिंदी कविता की मूल प्रवृत्तियों की सहज ही जानकारी मिल जाती है। यह इस काव्य-संकलन की बड़ी विशेषता है। पचास के दशक के प्रारंभ में नेमि जी ने गीत लिखे हैं जो तत्कालीन छायावादी प्रवृत्ति का परिचायक है—

''धीरे-धीरे इन प्राणों की बढ़ती ही जाती है दूरी
मैं बेबस आज पराजित हूं तुम जीत गयीं मेरी छलना।''

जहां इन पंक्तियों में जयशंकर प्रसाद के 'आंसू' जैसी पीड़ा हिलोर मार रही है, वहीं सन् 1944 के आसपास, दूसरी ओर नेमि जी फासिस्ट विरोधी आंदोलन में स्वर मिलाते हुए 'छब्बीस जनवरी' शीर्षक कविता में संकल्प लेते हैं—

''हम बुनेंगे आज से/सब जातियों की एकता के सूत्र
तोड़कर अपने कवच एकांतता के।''

नेमि जी का यह संकल्प आज के समय में भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उस समय था। नेमि जी की कविता-यात्रा छायावादी गीत परंपरा से प्रारंभ होकर, समय के प्रवाह में ढलती हुई मुक्तक व प्रगीत शैली से जुड़कर कही निराला, कही मुक्तिबोध और कहीं अज्ञेय की भांति छंदमुक्त कविता शैली में प्रतिफलित हुई है। इन कविताओं में कवि की अनुभूतियां तरल रूप में यत्र-तत्र झलकती दिखायी देती है। वे एकांत में भी जीवन के सर्वसंवेद्य बिंदुओं का ही विश्लेषण करते है। साठ के दशक में जब कविता में छंद मुक्ति का आंदोलन शिखर पर था, तब नेमि जी के मन की चिंता कविता के बेसुरेपन को लेकर बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई है—

''क्या तड़प कर बज सकेगी/फिर कभी भी
बेसुरी यह बांसुरी इस जिंदगी की।''

इन पंक्तियों में कविता न लिख पाने की मनोव्यथा का आकलन भी किया जा सकता है। जीवन के अस्सी बसंत देखने के बाद भी कुछ नया करने की इच्छा ही उन्हें फिर कविताओं से जोड़ रही है। यह शुभ लक्षण है।

नेमि जी की कविताएं कविता से अधिक संवाद जैसी भंगिमा लिये हुए है। उनकी कविताओं की सहजता व अभिधेयता उनकी प्रमुख विशेषता है। वे किसी वाद-विवाद की वकालत नहीं करते। बिंबों व प्रतीकों के घटाटोप मे न वे स्वयं भटकते है न ही पाठक को भटकाना चाहते हैं। 'सन्नाटा' शीर्षक कविता का एक अंश देखें—

''ठिठका हुआ है सन्नाटा/जैसे किसी क्लोजअप में दो चेहरे/
ओंठ एकदम छूते-से फिर भी अलग।''

इस प्रकार के चित्र कोई चित्रकार या फिर मंच से जुड़ा रंगकर्मी ही उभार सकता है। एकांत खंड की कविताएं जहां जीवन के तत्कालीन राग व लयान्विति के कारण पाठक को बांधती हैं, वहीं बाद की उनकी कविताओं मे समकालीन राग-विराग व विषाद की चिंताएं प्रकट हुई हैं। नेमि जी की कविताएं आकार मे छोटी है। छोटे संवादों की भांति, अर्थ-भरे शब्द देर तक अनुभव किये जाने की शर्त की मांग करते है। 'कवि गाता है' शीर्षक कविता मे वे मम्मट के काव्य प्रयोजन 'काव्यं शिवेतरक्षतये' की दृष्टि को प्रामाणिक रूप मे स्थापित करते हुए कहते है कि कवि दृष्टा है—

''कवि गाता है/वह कलाकार है/
व्याकुल मानवता की संस्कृति की रक्षा का/उसके ऊपर आज भार है
भूत भविष्यत वर्तमान को/देख रहा वह आर-पार है।''

परिवर्तन पुनर्नवीकरण है और पुनर्नवीकरण ही प्रगति है। कभी-कभी प्रगति इतनी धीमी गति से होती है कि वह प्रगति जैसी प्रतीत ही नही होती। मध्यमवर्ग का आदमी

अपनी प्रगति को लेकर सर्वाधिक चिंतित है। यह अति चिंता अक्सर निरर्थकता के बोध में पर्यवसित होती है। नेमि जी इसी विचार को शब्द देते हुए कहते हैं—

"कुछ भी तुम करो/हैसियत तुम्हारी/है/रहेगी
बेटिकट यात्री की।"

मनुष्य की प्रकृति से संवाद करती हुई नेमि जी की कविताएं अपनी संवाद भंगिमा के कारण सामान्य होते हुए भी विशिष्ट-सी प्रतीत होने लगती हैं। अंततः उनकी अदम्य जिजीविषा बनी रहे, इसी शुभकामना के साथ उनकी ही पंक्तियां उद्धृत हैं—

"फोड़कर दीवार/उगा हुआ नन्हा पीपल का पौधा/
अपनी चार कोमल हरी ललछौंही झूमती पत्तियों की भाषा में/
कहता है/देखो—यह मेरी जिजीविषा अदम्य।"

□

अचानक हम फिर (कविता-संग्रह)/कवि: नेमिचन्द्र जैन/प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य: 115/-

राजा को सब क्षमा है

अशोक आन्द्रे

समीक्ष्य पुस्तक सुविख्यात कवि विजयकिशोर मानव की 52 कविताओं का संकलन है जिनके माध्यम से कवि की संवेदना अनेक जीवनगत आयामों को छूती हुई प्रस्फुटित हुई है। इन कविताओं में कवि ने 'संबंधों' से लेकर 'सपने नहीं आये' तक का सफर तय किया है। गांव, घर, माता-पिता तथा चिड़ियों के सहारे जीवन के अछूते पहलुओं को नये सिरे से परिभाषित किया है। इन कविताओं में कवि की संवेदनशीलता साफ-साफ महसूस की जा सकती है। उसके सरोकार कहीं गहरे जुड़े हैं। कवि ने कभी गांव, तो कभी शहर के प्रवास में निजता को त्यागकर आम आदमी के अंतःकरण में झांककर उसके अकेले होते संसार को भी इन कविताओं में उकेरने की सफल कोशिश की है। कवि के शहर में आज कोई नहीं भीगता है, अगर भीगता है कोई, तो सिर्फ ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं या फिर रास्ते, जहां मानवीय संबंधों का क्रमशः एकाकी होते जाने का कटु यथार्थ बिखरा पड़ा है। शायद इसीलिए आज के मनुष्य की भावनाएं सूखने लगी हैं। इस अकेले मनुष्य के जीवन के सर्वेसर्वा, क्षमाहीनता का साम्राज्य फैलाकर उसके दुःख को और गहरा कर देते हैं।

नई पीढ़ी से कवि का मोहभंग हुआ है। इस स्थिति से कवि नाराज है। नहीं जानता कि यह पीढ़ी अपने समय को किस दिशा की ओर ले जायेगी, क्योंकि उसके कदम अपनी ही परिक्रमा करते हुए आत्ममुग्ध हो रहे हैं। तभी तो काल कोठरी की कैद-सा त्रास कभी पूछता है—*तुमसे, हमसे, सबसे/आदमी की विकास-यात्रा के मायने!* आज शैतानों के चहरों पर इतने सारे नकाब चढ़ चुके है कि जहां कोई सवाल उत्तरित नहीं होता।

मनुष्य ने किस निरीहता से अपने छोटे होते वजूद के साथ पेड़-पौधों को भी बोनसाई के नाम पर बौना कर दिया है! ये पेड़ खाली पड़े ड्राइंगरूम के कोनों में सजे, खामोश, अर्द्ध-निद्रा में सिर झुकाये जमीन को एकटक देख रहे है। यह सवाल कवि को संस्कारहीन होती नई पौध की चिंता के साथ कहीं गहरे में परेशान करता है।

'राजा को सब क्षमा है' कवि का दूसरा कविता-संग्रह है। इस संग्रह में उन्होंने मां और पिता के खांसते-झटकों को भी उनके आपसी वार्तालाप की भाषा के रूप में प्रयोग करके एक नये प्रतिमान को स्थापित किया है। सुंदर भाषा का इस्तेमाल करते हुए अपनी कविताओं में लगातार समुद्री ज्वार-भाटाई प्रहार करते वे दिखाई देते है। अपनी इन कविताओं में हर विषय को गहरे भावों की कंदराओं से गुजारते हैं, जिससे उनकी विश्वसनीयता को और सघनता तथा मजबूती मिलती है। 'यज्ञ की राख' कविता में मां का जिस्म भी यज्ञ की राख के मानिंद अपने समय की त्रासदी को काफी सहजता से प्रस्तुत करता है। तभी तो *'गिरने से बच गये तीन दांत बजाता/जीत का जश्न मनाता मां का जिस्म/आधे सफेद बालों वाले बेटे की/पसलियों पर फैला देता है आंचल'*... जैसी खूबसूरत रचना देखने को मिलती है इस संग्रह में। कभी कवि की बेचैनी असहाय होकर कराह उठती है—'उधार है बसंत' में तथा सपनों से भी डरने लगता है। उसे डर है कि कहीं उसकी नींद पूरी होने से वंचित न रह जाये। फिर भी अंधेरों में उम्मीद करता है कि वह शर्म में झुके नहीं। उजालों के दागी चेहरों के सामने हारना नहीं चाहता वह।

विजयकिशोर मानव की भाषा काफी सहज है। अपने आसपास घटित होती सभी स्थितियों से अछूता नहीं रह पाता है यह कवि। हर घटना उसे गहरे में उद्वेलित करती है। समाज के दु:ख-दर्द उसके अपने हैं। इसीलिए वह गांव तथा शहर के बीच कविता के पुल बांधता दिखाई देता है। अपनी हर बात को कविता के माध्यम से सम्प्रेषित करने की सफल कोशिश की है, तभी तो कवि के सम्मुख कविता इस सदी का सबसे बड़ा सच बनकर उभरा है। उदाहरण के लिए 'चिड़िया के गीत' की इन पंक्तियों में कविता के सत्य को देखा जा सकता है—

''फूस के घोंसले पर झुकी/अंधेरे में नंगी डाल पर/थकी टांगों पर बसेरा लेती चिड़िया/तपते पेट पर बोझ डालती/रात से लड़ती/असंतुष्ट दिन भर की उपलब्धि से/दूर अंधेरे में ताकती/एक सूखे दरख्त पर बैठी है चिड़िया।''

वरिष्ठ कवि डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार, 'मानव एक अच्छे गीतकार हैं, किंतु उन्होंने यह अनुभव किया कि गीत की प्यारी दुनिया के बाहर भी कविता की एक बड़ी दुनिया है जो अधिक सघन और संश्लिष्ट है, जिसका साक्षी है उनका काव्य-संग्रह 'राजा को सब क्षमा है'।' इन कविताओं को पढ़कर सचमुच एक बड़ी दुनिया में विचरने का सुख-दु:ख मिलता है पाठक को।

कविता के लिए स्थापित पहले 'ऋतुराज सम्मान' से पुरस्कृत इस कृति का आगमन निश्चित रूप से हिंदी कविता की ताजा बयार का सुखद झोंका है।

□

राजा को सब क्षमा है **(कविता-संग्रह)/कवि: विजयकिशोर मानव/प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, 24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य: 90/-**

रूप, रंग-रेखाओं और आवाज से कविता

प्रियदर्शन

मिथिलेश श्रीवास्तव के काव्य-संग्रह 'किसी उम्मीद की तरह' से गुजरते हुए कौन-सी चीज सबसे पहले ध्यान खींचती है? संभवतः वह व्याकुलता जो एक नितांत असंवेदनशील समय और शहर में किसी व्यक्ति को घेरे रहती है। उनकी कविताएं अपने-आपको, या भीड़ के कोलाहल में अपनी उस आवाज को बचाने की कोशिश के रूप में पढ़ी जा सकती है जो मनुष्य को रास्ता बताती है, या कम से कम यह बताती है कि वह किस तरह भटक रहा है, जो अगर कहीं और नहीं तो उसके भीतर ही उसकी वापसी की एक सड़क बनाती है। यह कविता वह जगह बनाती है जहां व्यक्ति खड़ा होकर अपनी शर्तों पर अपने चित्र बना सकता है, जहां वह मनचाहे रंग चुन सकता है, जहां वह अपनी उदासियां और चुप्पियां को भी पेंट कर सकता है, और ऐसा करते हुए उन ग्राहकों की परवाह करने से बच सकता है जिसकी अन्यथा उसे परवाह करनी पड़ती है।

मिथिलेश श्रीवास्तव के लिए कविता लेकिन इतने-भर का शरण्य नहीं है। यह तो वह प्राथमिक भूमिका है जो उनके लिए कविता को एक जरूरी उपक्रम बनाती है। धीरे-धीरे इसकी मार्फत उनके दूसरे सरोकार खुलते चलते हैं। वे अपने घर को नई आंखों से देखना शुरू करते हैं। अपने शहर को नए सिरे से पहचानने लगते हैं। सलमान रुश्दी के उपन्यास 'मिडनाइट्स चिल्ड्रेन' की एक किरदार अमीना एक बार पुरानी दिल्ली की तंग और बदहाल गलियों में जाती है तो सहसा अपनी शहरी आंखें खो देती है। उसे अचानक भान होता है कि हम सबने अपने चेहरे पर शहरी आंखें लगा रखी है। जब ये आंखें उतरती है तो हम पाते है कि असल दुनिया कैसी है,

कितने अभावों और संकटों में घिरी है, उसमें गरीब बच्चों के चेहरे कैसे दिखते है। कविता लिखने की प्रक्रिया अपनी शहरी आंखों को अलग करने की प्रक्रिया भी है, इसकी तस्दीक मिथिलेश श्रीवास्तव की कविताएं करती है। इसी प्रक्रिया की वजह से घर में हुई सफेदी के बहाने मिथिलेश श्रीवास्तव एक समग्र माहौल और अतीत को नए सिरे से जी लेते है। खोई हुई गेंदें मिल जाती है, पुरानी चिट्ठियां फिर से अपनी याद दिलाने लगती है, चाभियों के गुच्छे कई बंद तालों के खुलने की संभावना के साथ सामने आ जाते है—

एक गुच्छा चाभियों का मिला
कुछ तालों की इस बीच दूसरी
चाभियां बन चुकी थी
कुछ ताले फेंके जा चुके थे
कुछ को जंग खा गया था
कुछ चाभियां थीं जिन्हें हम नही खोजना चाहते थे
जिनके मिलने पर हुआ कुछ
अफसोस-सा।

समीक्षित संग्रह की यह एक महत्त्वपूर्ण कविता है। शायद उन बहुत कम कविताओं में एक जिनके संकेत बहुत दूर तक जाते है। हम सबके भीतर ढेर सारे कमरे होते है। उनमें से कुछ सबके लिए खुल जाते है, कुछ बहुत कम लोगों के लिए खुलते है। कुछ ऐसे भी कमरे होते है जिन्हे हम खोलना नहीं चाहते और कुछ ऐसे भी जिनका हमें भी पता नही होता। ऐसे में वे चाभियां मिल जाएं जो समय के इन जंग खाए तालो को एक आदिम-सी झनझनाहट के साथ हमारे लिए खोल दें तो हम किंचित विस्मित, किंचित खुश, किंचित उदास अपने सामने खड़े रह जाते हैं। अपने-आप को नए सिरे से पहचानते हुए।

कविताएं वे चाभियां है जिनसे मिथिलेश अपने भीतर के बंद पड़े और इकट्ठा हो रहे अनुभव खोलते हैं। उनकी कविता में जिए हुए दिनों की स्मृतियां हैं, घर से दूर होने की कसक है, मध्यवर्गीय चिंताओं की घनी होती रेखाएं है, बीमार पिताओं की बेटियों का बचपन है जो ताखे पर उनके सपनों और उनकी विजया के साथ पड़ा हुआ है। ये कविताएं मध्यवर्गीय जीवन के लगातार मुश्किल होने की प्रक्रिया को बिना किसी 'लाउडनेस' के सामने रखती है। साथ ही उस संघर्ष को भी जो सारी स्थितियों के बावजूद मनुष्य होने के बोध को बचाए रखता है और इसीलिए जारी रहता है।

रंग-रोशनियां, आकृतियां और आवाजें मिथिलेश की कविता का संसार बुनने में मदद करती है। महानगर के गड्डमड्डुपन में व्यक्ति जब भीड़ के रूप में और स्वर सिर्फ शोर के रूप में पहचाने जा सकते हो, मिथिलेश की कविता उन्हें अलग-अलग

पकड़ती है। अचानक हम पाते हैं कि आवाजें व्यक्तियों तक ले जा रही है, वे याद दिला रही हैं कि *'दूर कही बूढ़ी हो रही एक मां है/एक बेरोजगार भाई है जो घर/ देर से लौटता है या किसी रात/लौटता ही नही है/लौटकर बिस्तर मे लेट जाता है/ सपना देखने और नीद मे बड़बड़ाने से/बचना चाहता है...।'*

ऐसा नहीं है कि इस कवि का कविता संसार सिर्फ निजी प्रसंगों और व्यक्तिगत अनुभवों तक ही सिमटा हुआ है। उनका एक सामाजिक, और कुछ हद तक राजनैतिक विस्तार भी दिखता है। 'बोसाई' और 'बच्चे चाहिए' जैसी कविताएं एक नितांत भिन्न जमीन पर खड़ी है जहां हम मिथिलेश श्रीवास्तव के कवि को कुछ व्यंग्य से, कुछ भारीपन से, और कुछ लगभग चीखते हुए गुस्से के साथ बोलता पाते है: *'बच्चे चाहिए/कैनवास पर मासूमियत और क्रूरता के प्रतीकों के लिए/फिल्मों मे रोने और कविता में सन्नाटा बुनने के लिए/ढाबों मे ग्राहकों की झिड़कियां सुनने/... लावारिसखानों को बच्चे चाहिए ताकि खाने के पैकेट मुफ्त बांटे जा सकें।'*

लेकिन इसी कविता से उनकी सीमाएं भी स्पष्ट होने लगती है। यह कविता निश्चय ही एक सच्चे गुस्से की उपज है। मगर यह सच्चा गुस्सा कुछ अच्छी पंक्तियों के बावजूद कविता को सपाटबयानी का शिकार बना देता है। इतना ही नही, वह उस संवेदना और विचार-प्रक्रिया के आगे एक चादर-सी तान देता है जो अगर संभव होती तो लावारिस और गरीब बच्चों को लेकर एक बहुत ही अच्छी कविता लिखी जा सकती थी।

मिथिलेश श्रीवास्तव की कविताएं इतना सब कुछ होते हुए भी किसी एक बिंदु पर आकर ठहर जाती है। वे अच्छी लगती है, सच्ची प्रतिक्रियाओं की उपज लगती है, लेकिन वे बड़ी कविताएं नही है। उनमे कुछ छूटता प्रतीत होता है। वे एक कवि की चिंताओं मे, उसके सरोकारों से परिचित तो कराती है, मगर बहुत गहरा असर नही छोड़तीं। एक अनुभव जो एक पल मे बनता है, अगले ही पल विलीन हो जाता है! ऐसा क्यों होता है? क्या इसलिए कि कविता को वे सहज प्रतिक्रियाओं से अर्जित करते हैं?

मिथिलेश श्रीवास्तव की कविताएं पढ़ते हुए यह लगता है कि वे सहज संवेगों पर बहुत भरोसा करके चलते है। नतीजा यह होता है कि निजी तकलीफों या अपनी स्थिति के बयान तक वे विश्वसनीय बने रहते है, स्मृति और संबंधों की दुनिया मे उनकी आवाजाही एक हद तक सुखद लगती है, लेकिन इसके बाद हम पाते है कि 'निजी' का जो सामाजिक संदर्भ बन रहा है, स्मृति और संबंध हमारे समय में जो हस्तक्षेप कर रहे हैं, उनमे एक आधा-अधूरापन है—साहित्य और विचार दोनों स्तरों पर। शायद इसलिए भी कि जिस प्रक्रिया मे मिथिलेश श्रीवास्तव कविता को अर्जित या संभव करते है, उसमे राजनैतिक-वैचारिक आग्रहों के प्रति एक अनमनापन-सा है।

फिर भी दृश्यों को देखना और उनमे से अपने हिस्से की कविताएं निकाल लेना

मिथिलेश श्रीवास्तव को आता है। उन्हें पता है कि *'सधी न हों उंगलियां/तो खेल में फेंकी गई कौड़ियां/हो जाती है लक्ष्यहीन/सधी न हों उंगलियां/तो आदमी के चेहरे की जगह गढ़े जा सकते है/चेहरे राक्षस के।'* मगर यह शिल्पसजगता उन्हें शिल्प की सीमाओं के प्रति भी चौकन्ना बनाती है। *'उंगलियां इतनी सधी भी न हों/कि काट ले दूसरों की जेब/दूसरों की भाग्यरेखाएं खरोंच दे।'*

शायद यही चौकन्नापन मिथिलेश श्रीवास्तव की कविताओं को महज शिल्प का उत्पाद होने से बचाता है। वरना आज की हिंदी कविता कई बार अपना ही पुनरुत्पाद लगती है। शिल्प की कुछ डिजाइनें बन गई है जिन पर आसानी से कविताएं लिखी जा सकती हैं। विषय भी नियत हैं और उन्हें सधे हुए हाथों से फैलाया भी जा सकता है। एक सीमा तक मिथिलेश में भी कुछ पुराने कवियों की अनुगूंजे बहुत साफ-साफ सुनाई पड़ती है। मगर मिथिलेश इस सीमा से आगे शिल्प का यह खेल नहीं करते, यह सुखद है। यह भी सुखद है कि उनकी कविता स्मृति से बहुत आक्रांत नही है। वरना अपने घर लौटने, उन्हीं दिनों को दुबारा जीने, उन्ही सड़कों पर दुबारा चलने, उन्हीं खुशबुओं और सनसनाहटों को दुबारा महसूस करने की जो भावुक बेचैनी अमूमन हिंदी कविता में दिखाई पड़ती है, वह एक तरफ तो वर्तमान से उसका नाता तोड़ देती है और दूसरी तरफ अतीत से भी उसका कोई संवाद संभव नही रहने देती।

हालांकि इन छोटी-छोटी आपत्तियों के बावजूद मिथिलेश श्रीवास्तव का यह संग्रह किसी उम्मीद की तरह ही आता है और उनके भविष्य के प्रति आश्वस्त करता है।

□

किसी उम्मीद की तरह **(कविता-संग्रह)/कवि: मिथिलेश श्रीवास्तव/प्रकाशक: आधार प्रकाशन, एस सी एफ 267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113/मूल्य: 80/-**

प्रेम के होने और न होने का आख्यान

बलराम

वह चाहे लोकजीवन में चंदा मामा की लोककथाएं-कविताएं हों या आम जीवन में चौदहवीं के चांद को एक नजर या भरनजर देखने का चलन अथवा दूज के चांद होने का मुहावरा, हर देश-काल में चांद हमेशा उपमा, उपमान और प्रतिमान रहा है। मनुष्य के पांव चांद पर पड़ गए हैं तो भी चांद के प्रति पुराने लगाव अभी कम नहीं हुए है। शायद होंगे भी नही, भले ही सुमित्रानंदन पंत 'कला और बूढ़ा चांद' लिखें, चाहे मुक्तिबोध कह दें कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है', शिवप्रसाद सिंह ('नीला चांद'), लीलाधर जगूड़ी ('अनुभव के आकाश में चांद') और सुरेंद्र वर्मा ('मुझे चांद चाहिए') के बाद...साहित्य लेखन में एकदम ताजा चांद देखा है अनिवासी भारतीय रचनाकार प्रतिभा डावर ने 'वह मेरा चांद' उपन्यास में। पाकिस्तान के जनपद गुजरात में जन्मी और भारत के नागपुर में पढ़ी-लिखी प्रतिभा डावर अनिवासी भारतीय है और लंदन में रहती है। लंदन के हिंदीभाषी समाज में हिंदीसेवी के रूप में उनकी प्रतिष्ठा है। मूलतः वे कवि है, पर प्रकाशित सबसे पहले उपन्यास हुआ है: 'वह मेरा चांद'।

इस उपन्यास के बारे में सर्वप्रथम फिल्मकार सुभाष घई के शब्दों पर गौर करें जिन्होंने इस उपन्यास पर फिल्म बनाने की घोषणा भी की है: 'प्रतिभा डावर का यह उपन्यास पहला भले ही हो, पर प्रयास पहला नहीं लगता। इसके पीछे कई वर्षों की अनुभूतियों, यादों, अभिव्यक्तियों का खजाना दिखाई देता है। जब मैंने पढ़ना शुरू किया तो पढ़ता ही चला गया। आखिर तक...तब तक, जब तक कि इसके मुख्य चरित्र राजीव, वीणा और विनय तथा उनके दिल हिला देनेवाले प्रसंगों से बाहर नही आ गया। मुझे अचंभा भी हुआ कि मैं खुद एक कहानीकार, इस कहानी में कैसे खो गया।'

और वास्तव में यह सच है कि जो भी पाठक इस उपन्यास को हाथ में ले

लेगा, इसमें खो जाएगा, क्योंकि यह उपन्यास पाठक के अंतस में छिपे विचारों और उसके जीवन-प्रसंगों को ही नहीं छेड़ता, उसकी चेतना को भी झकझोर देता है। उसके अपने स्मृतिजगत को भी जगाता चलता है और जो रचना यह काम करती है, समीक्षक उसके साथ कैसा भी सुलूक करें, पाठक का सुलूक अच्छा ही अच्छा होता है।

'वह मेरा चांद' यूं तो एक महाकाव्यात्मक प्रेम उपन्यास है, जिसमें एक सामान्य किंतु तेजस्वी युवक विनय का एक धनी घर की युवती वीणा से अनजाने में अचानक और अनायास हुआ प्रेम वर्णित है, दोनों का पहला प्रेम। लेकिन वीणा के भाई, करोड़पति उद्यमी राजीव का पूरा जीवन भी इस उपन्यास में विस्तार से चित्रित हुआ है, जिसने एक विवाह में शालिनी को देखा और उस पर मोहित हो गया और दोनों का विवाह हो गया। राजीव की बड़ी बहन की दु:खद कहानी भी इस उपन्यास में है, जिससे राजीव कपूर का अजीब-सा लगता वह चरित्र भी खुलता है, जिसने अपनी छोटी बहन वीणा के प्रेम और प्रेमी को यों पीड़ित-प्रताड़ित और अपमानित किया कि वीणा ने दो बार आत्महत्या का प्रयास किया। प्रेमी भी मरते-मरते बचा, किंतु वीणा का बाल सखा और उससे एकतरफा प्रेम करनेवाला मुकेश नहीं बच सका। वह वीणा को बलात्कृत न कर सका और विनय को मार न सका, इसलिए खुद अपने पेट में खंजर भोंक लिया। वीणा की किशोरी भतीजी नीरू का कैशोर्य अपने सारे रूपों में तो उभरा ही है, जालसाज छायाकार का वीभत्स चेहरा भी यहां उजागर हुआ है। उधर विनय के मध्यवर्गीय भाई प्रकाश का जीवनवृत्तांत है तो उसके दो बहनोइयों के परिवारों का विस्तृत चित्रण भी है। इस बहाने, प्रसंगवश, अनाथालय का संपूर्ण जीवन-व्यापार चित्रित हुआ है और शायद पहली बार पाठक विस्तार से अनाथालय के जीवन को इस उपन्यास में पढ़ेंगे।

उपन्यास हमें बताता है कि विनय और वीणा की प्रेम अगन में अमीरी जल रही है, गरीबी जल रही है। उन दोनों के साथ उनके परिवार भी जल रहे हैं। उपपरिवार दूसरी तरह की आग में जलते हैं, संबंधों के वैध-अवैध होने की आग, जो अनाथालय तक फैलती चली जाती है। बांझपन की आग में जलती स्त्री का मर्मस्पर्शी आख्यान तो यहां है ही, सास-बहू की पारंपरिक नोक-झोंक भी, जिसमें ससुर की पाक-साफ छवि भी रोप दी गई। उपन्यास में मक्कार छायाकार का दहशतनाक अंत है तो उद्योगपतियों की पारिवारिक गतिविधियों को रंगारंग रूप में पेश करनेवाली पत्रकारिता का कमाल भी। एक सहृदय डॉक्टर का गरीबों-अनाथों के प्रति छल-छल छलकता स्नेह है तो जवानी में उसके बहके कदमों का दंश और अभिशाप झेलती स्त्रियां, बेगुनाह बच्चे और जीवनभर सच्चरित्र रहे बुजुर्ग दंपतियों के बुझे और लटके हुए चेहरे भी। कैशोर्य के कच्चेपन में डूबे किशोर-किशोरियों की बर्बादी है तो गरीब नायक के न कुछ से बहुत कुछ बन जाने की संघर्षकथा भी।

इस तरह यह उपन्यास दो प्रेमियों के परिवारों के बहुआयामी और बहुरंगी

जीवन को उसकी अनेकानेक अर्थ-छवियों के साथ हमारे सामने तो रखता ही है, मानव जीवन को विस्तृत फलक पर व्याख्यायित भी करता है और बताता है कि प्रेम के होने और न होने से मनुष्य क्या से क्या हो जा सकता है। हां, उपन्यास के अंत में पुनर्विवाह एक फिल्मी फार्मूला लगता है। इस उपन्यास के एक और अहम चरित्र अरुण के माध्यम से बातचीत हो सकती है, जिसकी कथा विस्तार से वर्णित है उपन्यास में, बल्कि उसके पूरे परिवार की कथा, जिससे उपन्यास का नायक विनय गहरे तक जुड़ा हुआ है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि एक भारी-भरकम, पठनीय हिंदी उपन्यास पाठकों को उपलब्ध कराया है प्रतिभा डावर ने। इस श्रम और रचना का स्वागत किया जाना चाहिए।

□

वह मेरा चांद **(उपन्यास)/लेखिका: प्रतिभा डावर/प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य: 500/-**

जीवनानुभव की करुण गाथा

संजीव श्रीवास्तव

मराठी भाषा के उपन्यास 'जूझ' में जिन दो शैली का समावेश किया गया है, उससे उपन्यास का कलात्मक पक्ष भी विशेष तौर पर उभरकर सामने आया है। प्रथमतया यह एक विशिष्ट स्तर का आंचलिक उपन्यास है। दूसरे यह कि यह आत्मकथात्मक उपन्यास भी है। भारतीय साहित्य में संभवत: ऐसी कृतियों का पर्याप्त अभाव है, जिनमें आत्मकथा को औपन्यासिक कलेवर दिया गया हो। वैसे हिंदी में आंचलिक उपन्यासों की जो परंपरा रही है, उसमें भी जो पात्र उपयोग में लाये गए है, वे लेखक के इर्द-गिर्द के चलते-फिरते प्रेरक पात्र ही रहे है। लेखक ने उसमें एकल अथवा पारिवारिक आत्मकथा का बयान नहीं किया है। लेकिन चर्चित मराठी लेखक आनन्द यादव की इस पुस्तक ने मुख्यत: शैली की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्वरूप खोजा है। सामान्यतया आत्मकथा लेखन मे घटनाएं और पात्र-स्मरण संगठित अथवा क्रमवार होकर सृजित नही होते। उसमें ढांचागत कथात्मकता का अभाव होता है। 'जूझ' इस कारण एक अनूठा उपन्यास है। हिदी में अनूदित होकर, हिदी लेखकों, पाठकों के लिए यह प्रेरणास्पद कृति बन सकेगी।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि इस उपन्यास में जिस सामाजिकता और ग्राम्य वातावरण का सृजन किया गया है, उससे हमारे ज्ञान मे यह श्रीवृद्धि होती है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के भारतीय ग्राम-समाज का अशिक्षित और गरीब परिवेश कितना विकट था। यह सिर्फ महाराष्ट्र की बात नहीं है, देश-भर का चित्रण है। संभवत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि सौ साल बाद भी देश के अंदर दूर-दराज का अशिक्षित और निर्धन परिवेश ज्यों-का-त्यों है। सहज सवाल उठाया जा सकता है कि आखिर विकास कहां हो रहा है और किसका हो रहा है। उपन्यास की पृष्ठभूमि में यह सवाल गहराई मे छिपा है।

लेखक ने जिस प्रकार अपने जन्म से भी पूर्व अपने माता-पिता के बचपन,

किशोर और युवावस्था का बेबाक और मर्मस्पर्शी परिवेश शब्दबद्ध किया है, वह नितांत यथार्थ आधारित चित्रमयता से परिपूर्ण है। लेखक की मां की निर्बोधता, उसके पिता की निरंकुशता, तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाज और इस पर खेतीहर जीवन की जुझारु गरीबी का चित्रण उपन्यास का प्राणबिंदु है। लेकिन उपन्यास की मूल कथा में किशोर वय के लेखक स्वयं है। वैसे विकट परिवार में रहकर भी लेखक का लेखकीय संस्कार किस प्रकार विकसित हुआ, वह किस प्रकार और किसके प्रभाव में आकर साहित्यिक संस्कारों से युक्त हो सका, इसका विस्तृत फलक इस उपन्यास में व्यक्त हुआ है।

यह एक ऐसे रचनाकार, जुझारु युवा लेखक की कहानी है, जो तकलीफों का बोझा उठाकर, मुसीबतों की मार झेलकर, दु:खों का पहाड़ तोड़कर, रूढ़िग्रस्त परंपरावादी रीति-रिवाजों के मकड़जाल से निकलकर, समाज के निचले तबके के सामाजिक जीवन को स्वर देनेवाला साबित होता है। इसलिए यह उपन्यास विशेषकर निम्नमध्यवर्गीय समाज के किसान-मजदूर वर्ग के दु:खभरे जीवन का जीवंत दस्तावेज है। यह हिंदी के कथाकार मुंशी प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु की रचनाओं से अलग आस्वाद इसलिए कराता है, कि एक तो इसके केंद्र में खुद लेखक स्थापित है, दूसरे इसमें लेखक के पारिवारिक जीवन के माध्यम से तत्कालीन पूरे समाज का यथार्थवादी चित्रण है। संभवत: इसी कारण इसकी कथा की भाषा में अद्भुत संयम होते हुए भी बेबाक ओज है।

अंतत: यह कहा जाना बिल्कुल समीचीन प्रतीत होता है कि आत्मकथात्मक उपन्यास की विधा को सार्थक आयाम देते हुए लेखक आनन्द यादव ने अपने इस आंचलिक उपन्यास में मानवीय मूल्यों को गहरी और तीक्ष्ण कथात्मक संवेदना के साथ नई कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही—अपने कथानक, भाषा और शैली-शिल्प तथा एक मूल्यवान जीवनानुभव के लिए विख्यात यह उपन्यास हिंदी पाठकों के लिए एक उत्तम कृति है।

□

ज़ूझ **(उपन्यास)/लेखक: आनन्द यादव (अनुवादक: केशव प्रथमवीर)/प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य: 245/-**

आलमगीर: नृशंसताओं का इतिहास

कृष्ण चन्द्र गुप्त

पिछले दशक के प्रारंभ में 'तमस' टी०वी० धारावाहिक के माध्यम से भीष्म साहनी लोकप्रियता से अधिक तीव्र वैचारिक वाद-विवाद से चर्चित हुए थे। इस धारावाहिक से पहले एक अंग्रेजी की सूक्ति आती थी—'दोज़ हू फोरगैट हिस्ट्री आर कंपैल्ड टु रिपीट इट', अर्थात् जो इतिहास को भूल जाते है, वे उसे दोहराने के लिए अभिशप्त होते है। इतिहास की कुछ घटनाएं रह-रहकर जातीय स्मृति को कुरेदती रहती है और अपनी इच्छानुसार हम उन्हें समझते-समझाते रहते हैं। मध्यकालीन भारतीय इतिहास का मुगल शासन ऐसी ही घटना है और उसमें भी सर्वाधिक विवाद का केंद्र है औरंगजेब और उसके कारनामे। भीष्म साहनी ने इसी औरंगजेब को केंद्र में रखकर 'आलमगीर' नाटक लिखा है जिसकी आज सांप्रदायिकता से उबलते हुए भारतीय और विशेषत: उत्तर भारतीय परिवेश में अच्छी-खासी प्रासंगिकता है।

प्रारंभ में औरंगजेब एक दृढ़ निश्चयी क्या, कट्टर योद्धा एवं विचारक के रूप में आता है जिसकी टक्कर सूफी मतानुयायी, उदार और सांस्कृतिक व्यक्तित्व के धनी दारा से होती है। दारा के पक्ष में जहांनारा है उसकी बहन, और औरंगजेब के पक्ष में रोशनआरा। दारा को उत्तराधिकारी बना दिए जाने से औरंगजेब की महत्वाकांक्षा भड़क उठती है और वह सिंहासन पाने के लिए लालायित हो उठता है। शाहजहां को कैद करके, दारा को अपमानित करने के लिए उसे गंदे हाथी पर, उल्टा मुंह करवाकर सरेआम घुमवाता है और फिर उसकी हत्या करवा दी जाती है। दारा का दोष? उसका हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के सांझा तत्त्वों को उजागर करनेवाली किताब 'मज़मा-उलबहरीन', तथा सूफी-संतों, कलाकारों और दार्शनिकों को आश्रय देना है, जिसे 'कुफ्र' कहकर निंदित किया गया है। शरीयत के नाम पर, अल्लाताला की मर्जी के नाम पर, पिता को गिरफ्तार करवाना, भाइयों को मरवाना, सरमद का सर कटवाना जैसे नृशंस कार्य

औरंगजेब करवाता है। इन्हे बड़ी धूर्तता से जनता का हित और धर्म की सेवा के रूप मे प्रचारित किया गया है, जबकि ये शुद्ध रूप से गद्दी हथियाने का घिनौने षड्यंत्र है। सांस्कृतिक विविधता और अन्य धर्मों के प्रति आदर को कुफ्र ठहराते हुए, साहित्य और कला को ऐय्याशी घोषित कर, सल्तनत के लिए खतरनाक बताया जाता है। पहले शाहजहां भी औरंगजेब को योग्य शासक और दृढ़ चरित्रवाला मानता था, लेकिन जब इनकी आड़ मे स्वार्थ का नंगा नाच शुरू हुआ, जिसका पहला शिकार स्वयं शाहजहां हुआ, तब उसकी आंखे खुली। लेकिन तब तक शाहजहां बेबस हो चुका था। एक ओर औरंगजेब अपनी इस कट्टरता को टोपी सी कर गुजर-बसर कर लेने की त्यागवृत्ति मे छिपाता रहा और दारा की उदारता एवं सहिष्णुता को कुफ्र और कमजोरी मानकर बाबा लाल साहब, अब्दुस्समद और सरमद को मरवाता रहा, यहां तक कि बहन जहांनारा को भी उपेक्षित-तिरस्कृत करने मे नही चूकता, क्योंकि वह शाहजहां और दारा के पक्ष मे होने के साथ-साथ उदार और सहिष्णु है। उसने बड़ी निर्ममता से सत्ता हथियाने का दमन-चक्र चलाया। अल्ला की मर्जी, दीन की खिदमत के नाम पर स्वार्थ का तांडव हुआ।

औरंगजेब की इन करतूतों मे वर्तमानकालिक सांप्रदायिक द्वेश, भिन्न मतावलंबियों के प्रति घृणा को भी देखा जा सकता है। 'तमस' उपन्यास की भांति इस नाटक मे भी भीष्म जी ने मध्यकालीन इतिहास मे समकालीन प्रतिबिंब बड़े कौशल से उभारे है। तभी किसी मध्यकालीन प्रसंग को लेने की सार्थकता सिद्ध हुई है क्योंकि श्रेष्ठ और सोद्देश्य लेखक केवल दोहराने के लिए इतिहास को नही लेता। अपने युग की भयावह सच्चाइयों को समझने-समझाने के लिए अतीत को टटोला जाता है।

पिता, भाई और अन्य लोगों को गिरफ्तार करने और मरवाने के अपराधबोध से त्रस्त आलमगीर को मृत दारा का भूत सताता है। पिछले गुनाहो की भयानक याद उसे चैन नही लेने देती। अत्यंत मर्मातक अपराधबोध से त्रस्त आलमगीर को मुराद, सुजा और दारा के प्रेत डराते है। शेख बुराहनुद्दीन अंत मे उसके पास आता है। औरंगजेब अपने ही बेटे के विश्वासघात से मर्माहत है, फिर भी हक की लड़ाई मे बेटे को भी कुर्बान करने की डीग मारता है।

एक सामान्य-सी बुढ़िया ने सरेआम औरंगजेब को अपमानित कर दिया। दारा कहता है—''उस बुढ़िया की सिसकियां अभी भी मेरे कानो मे गूंज रही है। वह भागती हुई मेरे पास आई और बार-बार छाती पर हाथ रखकर मुझे दुआएं देती रही। मेरा दिल भी भर आया। सच मानो सिपह! लोगों के आंसुओं ने मेरे सब जख्म धो दिए। मै उनके दिल मे बसता हूं तो मैं बेघर कहां हूं?'' सामान्य जनता की सहानुभूति पाकर, उसके प्रेम का अनुभव कर दारा मरते समय भी पूर्णकाम है। उसे इसका संतोष है कि अपमानित होकर औरंगजेब के द्वारा, वह जनता के द्वारा सहानुभूति पाकर धन्य हो गया है और इसके विपरीत औरंगजेब सब कुछ पाकर भी, मरते समय सब कुछ

हाथ से खिसकता हुआ देखकर आहत और तिरस्कृत है।

इस नाटक में कई प्रसंग बड़े मार्मिक हैं। विशेषत: अंत में, औरंगजेब का अपने कुकर्मों से त्रस्त होकर, भयभीत होकर दारा और शुजा के प्रेत से डरना। लोक आस्था का भी एक चमत्कार दिखाया गया है—सरमद अपने कटे हुए सर को तश्तरी में रखकर मस्जिद में जाता है। घटनाओं का संयोजन और संवादों की चुस्ती सराहनीय है लेकिन अरबी-फारसी के अनेक अप्रचलित शब्द रंग नाटक के लोकप्रिय मंच के अनुकूल नहीं लगते। भीष्म साहनी जैसे वरिष्ठ लेखक की भाषा के वर्चस्व को ये शब्द धूमिल ही नहीं करते, अपितु उसे असंप्रेषणीय भी बना देते है जब कि सरल, प्रचलित और बोधगम्य शब्दों में काम चल सकता था।

□

आलमगीर (नाटक)/लेखक: भीष्म साहनी/प्रकाशक: किताबघर, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य: 50/-

घोंसलों में जीवित संस्कृति

हरेन्द्र प्रताप

रेगिस्तान में जीवन और जीवन के स्रोत की एक झलक देखकर ही तन-मन में आनंद का संचार हो जाता है। एक पेड़, जल का एक सोता, गाय-बैल, मयूर, हिरण, खेत, ग्रामीण या गांव दिखायी दे जाए तो फिर आनंद का ठिकाना ही नहीं रहता है। सात दिन के अथक प्रयास और हमसफर ऊंट-ऊंटनी की सहायता से थार के रेगिस्तान में हमने यह सब देखा। और साथ ही देखा हमने थार के सुदासरी राष्ट्रीय मरुभूमि उद्यान में ग्रेट इंडियन बस्टर्ड का जोड़ा। तब याद आयी विश्वमोहन तिवारी की पुस्तक 'आनंद पंछी निहारन का'।

अवकाशप्राप्त एयर वाइस मार्शल विश्वमोहन तिवारी ने पिछले दिनों प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आनंद पंछी निहारन का' में 'पंछी निहारन—एक कला' अध्याय में लिखा है, 'पंछी निहारक जब निहारन के लिए जाता है तब वह वातावरण से मेल खाते कपड़े पहनता है, शांत होकर चलता है, किंतु पूरी तरह चौकन्ना होकर, वह जानता है कि पंछी समझदारी के साथ आदमियों से दो नहीं, बीस हाथ दूर रहता है इसलिए एक तो वह सावधानीपूर्वक पक्षी के पास जाता है—अर्थात् यथासंभव पक्षी से अपने को छिपाकर, उसकी तरफ सीधे न जाकर आड़े-तिरछे जाता है, एकदम बिना आवाज किए और दूरबीन का उपयोग अधिक करता है। यदि उसे चित्र भी लेना हो तब तो और भी अधिक सावधानी से चलना पड़ता है।'

संयोगवश मरुभूमि की इस यात्रा में मेरी वेशभूषा मरुभूमि से ही मिलती-जुलती थी। मेरी टोपी से लेकर पूरे वस्त्र का रंग, रेत और ऊंट से मिलता-जुलता था। मेरा पथ-प्रदर्शक आरादीन खां पढ़ा-लिखा नहीं था। बड़ी कठिनाई से वह अपना नाम-पता लिख पाता था। निःसंदेह उसने समीक्ष्य पुस्तक को देखा तक नहीं था। लेकिन मैंने पाया कि उसने वैसी ही सावधानी बरती, जैसी पुस्तक में लिखी गयी थी। तभी वह ग्रेट इंडियन बस्टर्ड की पीठ की ओर बहुत नजदीक तक हमें ले जाने में सफल रहा।

इसीलिए मुझे तिवारी जी की पुस्तक अचानक याद आ गयी, जो सचमुच में यथार्थ और व्यावहारिक यथार्थ के बहुत करीब है।

लौटते समय मेरे मन में सवाल उठा—आखिर तिवारी जी की ही पुस्तक की याद क्यों आयी? यह सवाल उचित है। मै सलीम अली की नब्बे प्रतिशत रचनाओं को पढ़ चुका हूं। पक्षी विज्ञानी डॉ० फमीउद्दीन अहमद के लेक्चर मुझे आज भी याद है। पिछली बार ग्रेट इंडियन बस्टर्ड को चित्र के रूप में मैंने भारतीय डाक-तार विभाग द्वारा पक्षि ां पर निकाले गये विशेष डाक टिकट मे देखा था, तो डॉ० फमीउद्दीन अहमद द्वारा पढ़ाया गया 'ऑर्गनिथोलॉजी' याद आया था और आज ग्रेट इंडियन बस्टर्ड को साकार देखा तो 'आनंद पंछी निहारन का' याद आया। और साथ ही याद आया इसका हिंदी नाम 'कर्लाशखी सोहन'। यह सब याद इसलिए आता है चूंकि इसमें सरलता है, तारतम्यता है, भाषा और संस्कृति की मौलिकता है, कथा है और व्यावहारिक यथार्थ की गाथा है जो विज्ञान की कथित नीरसता का रंचमात्र भी बोध नही कराती है, और जिसे बिना पढ़े ग्रामीण आरादीन खां जानता है तथा जिसे पढ़कर मेरे जैसा शहरी भूल नही पाता है।

'आनंद पंछी निहारन का' पुस्तक की आत्मा है इसका सांस्कृतिक पक्ष। यह पक्ष पुस्तक और विषय को स्तरीयता की नई ऊंचाई प्रदान करता है। पुस्तक मे साहित्य, संस्कृति और विज्ञान के सम्मिश्रण से रचा-बसा पक्षियों का संसार दिखायी देता है जिसमें प्राणि विज्ञान तथा पक्षी विज्ञान का क-ख-ग भी नहीं जाननेवाला पाठक सहजता अनुभव करता है। पक्षी विज्ञान के छात्रों और पंछी निहारकों को हिंदी में पहली बार इस विषय मे गागर में सागर का दर्शन होता है।

पंछी निहारक की दृष्टि से देखा जाए तो पुस्तक में विषय से संबंधित बहुत-सी चीजें छोड़ दी गयी है। लेकिन जो चीजे छूट गयी हैं, उनकी ओर संकेत पुस्तक मे ही मिल जाता है। दरअसल विषय की स्तरीयता और हिंदी की मौलिकता को ध्यान में रखकर पंछी निहारन के क्षेत्र में इसे अनिवार्य बुनियादी पुस्तक बनाने का प्रयास किया गया है। लेखक के अनुसार, 'इस पुस्तक को लिखते समय पूरा प्रयास किया गया है कि वैज्ञानिक तथा साहित्यिक/सांस्कृतिक जानकारी में संतुलन बना रहे। ... मै नहीं मानता कि वैज्ञानिक ज्ञान तथा दृष्टि के बढ़ने से भावनात्मक संसार को खतरा है, वरन भावनात्मक तथा कल्पनाशक्ति का इससे विस्तार ही होता है।'

इसमे कोई संदेह नही है कि इस पुस्तक की सफलता का सबसे मजबूत पक्ष है—संतुलन। लेखक ने विषय के अनुभव-ज्ञान, अध्ययन और लेखन मे भी संतुलन का प्रदर्शन इस पुस्तक में किया है। पुस्तक का एक और खूबसूरत पक्ष है—पंछियों के कलरव यानी पक्षियों की बोली पर भी ध्यान देना जो पंछी निहारन की दुनिया का अद्भुत संगीत है! पंछियों के नृत्य-भंगिमाओं पर भी पुस्तक मे रोशनी डाली गयी है। वैसे, पुस्तक का कलात्मक पक्ष भी है—इसमें समाहित नयनाभिराम चित्र।

पुस्तक के बहाने दुर्लभ कार्य किया गया है—पंछियों का हिंदी नामकरण। यह न सिर्फ शौकिया पंछी निहारकों बल्कि पेशेवर पक्षी विज्ञानियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। ये नाम पक्षी के गुण के आधार पर, अपेक्षाकृत सरल शब्दों में तैयार किए गये है, इसलिए यथार्थ के करीब है।

सचमुच इस पुस्तक में, पंछियों में, पंछी निहारन कला में हम बहुत-कुछ सीख-समझ सकते है। अनगिनत महल बनाकर भी जिन संस्कृतियों की हम रक्षा नही कर सके और विदेशी भाषा के मोह-जाल से स्वयं को बचा नही सके, उसे घोसलों में और 'चूं-चूं-कू-कू' में पंछियों ने न सिर्फ बचाये रखा है बल्कि सहस्त्रों वर्षों से संसार की समस्त संस्कृतियों पर अपनी अमिट छाप भी छोड़ी है।

□

***आनंद पंछी निहारन का* (भारत की सांस्कृतिक परंपरा)/लेखक: विश्वमोहन तिवारी/प्रकाशक: नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016/मूल्य: 85/-**

शब्द और कलाओं की अनवरत यात्रा

लालित्य ललित

किताबों की यात्रा अनवरत जारी है। भले ही संचार-तंत्र कितना ही विकसित हो जाए। हिंदी की प्रख्यात कथाकार नासिरा शर्मा का कथन इस पूरे परिदृश्य का सही मायने में समर्थन करता है। उनका कहना है, ''किताबों से ज़िंदगी की समझ बढ़ती है, जो अंदर के बहुत सारे डर को मारती भी है।'' किताब वास्तव मे एक शक्ति है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। ताड़ के पत्ते से हुई शुरुआत आज कागज की शक्ल में हर पाठक के हाथ में जा पहुंची है। पठनीयता बढ़ी है घटी नहीं है। हर साल प्रकाशित पुस्तकों की संख्या बताती है कि हम अपने लक्ष्य की ओर पहुंच रहे हैं। बेशक हमारी पहुंच का रास्ता धीमा है पर वह कारगर है। प्रस्तुत हैं कुछ प्रमुख सांस्कृतिक, साहित्यिक गतिविधियां।

सर्दी के आगमन से जहां यह समझा जाता था कि गतिविधियां कम होंगी, लेकिन इस बार इसके विपरीत ही हुआ। राजधानी में सांस्कृतिक गतिविधियों की हलचलें सर्दी मे गर्मी की याद दिला गई।

''कविता का संसार बहुत बड़ा होता है, इसमें गहराई में उतरने की बात है। जितना भीतर जाएंगे, उतना ही अधिक पाएंगे।'' यह उद्‌गार कन्नड़ भाषा के विख्यात कवि-अनुवादक डॉ० सुमतीन्द्र नाडिग ने इन पंक्तियों के लेखक के नए कविता-संग्रह 'यानी जीना सीख लिया' के लोकार्पण समारोह में व्यक्त किए। इस अवसर पर

उन्होंने कहा—जीवन की परिस्थितियों से जूझनेवाली रचनाधर्मिता की अभिव्यक्ति कवि की रचनाओं में साफ झलकती है। कथाकार पृथ्वीराज मोंगा का कहना था कि ये कविताएं महानगरीय संत्रास से राहत पहुंचाने में सहायक है। विषयों को पहचानने में कवि का विस्तृत नजरिया बखूबी काम करता है। उड़िया के सुपरिचित कवि मानस रंजन महापात्र ने कहा—'लालित्य ललित की रचनाएं मध्यवर्गीय जीवन का बड़ी बेबाकी से चित्रण करती है।' कार्यक्रम का आयोजन 'सार्थक मंच' ने इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में किया था। उल्लेखनीय साहित्यकारों में हरीश नवल, प्रभात कुमार, दिविक रमेश व विनोद शर्मा सहित अनेक गण्यमान्य लोगों ने शिरकत की।

भारतीय ज्ञानपीठ ने राजधानी के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित एक शाम में उर्दू के प्रसिद्ध शायर 'मीर' की याद में एक चर्चा रखी। इस अवसर पर ज्ञानपीठ ने विशेष तौर पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसके बारे में ज्ञानपीठ के मानद-निदेशक दिनेश मिश्र ने कहा—'मीर की यह पुस्तक 400 साल पहले की है जिसका एक लंबे अंतराल के बाद पुनर्प्रकाशन किया गया है।' इस शाम में हिंदी-उर्दू के अनेक शायर एवं कवि मौजूद थे।

अपनी मासिक गोष्ठियों के लिए चर्चित साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'डायलॉग' ने कथा-लेखिका कृष्णा सोबती को आमंत्रित किया। कृष्णा जी ने अपने नये उपन्यास 'समय सरगम' के कुछ अंश सुनाए। बाद में गोष्ठी कविता संध्या में बदल गई। स्वराजवीर और अंग्रेजी में सुजाता मथाई ने अपनी कविताएं सुनाकर उपस्थित श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस मौके पर पत्रकार-लेखक ओम गुप्ता के कहानी-संग्रह 'चर्चित कहानियां' का लोकार्पण कथाकार कृष्णा सोबती ने किया। मंच का संचालन कवि विनोद शर्मा ने किया।

राष्ट्रीय पुस्तक सप्ताह (14 नवंबर) के मौके पर त्रिवेणी सभागार में आयोजित 'बालगीतम्' पुस्तक का लोकार्पण करते हुए मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी ने कहा—'पुस्तकें ज्ञान, अभिव्यक्ति और संचार का माध्यम है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने चाहे जितनी भी तरक्की कर ली हो, पुस्तकें आज भी हमारी सक्रिय शिक्षा और विश्लेषणात्मक सोच की आधारशिला है।' कार्यक्रम का आयोजन नेशनल बुक ट्रस्ट ने किया था। राजधानी की नवगठित साहित्यिक संस्था 'शब्द सेतु' ने अपनी पहली गोष्ठी का आयोजन इंडो रशियन लिटरेरी क्लब में किया। मौका था चुपचाप रचनारत श्रीमती राधारानी मंशाल की कृति 'यातना का विद्रोह' के लोकार्पण समारोह और विचार गोष्ठी का। पुस्तक का लोकार्पण सुपरिचित कवि श्री केदारनाथ सिंह ने किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता विख्यात कवि डॉ० रामदरश मिश्र ने की। इस अवसर पर श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया, सांसद वीणा वर्मा, डॉ० गंगाप्रसाद विमल व डॉ० हरीश नवल ने अपने विचार व्यक्त किए। आमंत्रित श्रोताओं व पाठकों का संस्था के महासचिव डॉ० प्रभात कुमार ने आभार प्रकट किया।

साहित्य अकादेमी और राष्ट्रीय बालभवन द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित 'कालजयी बाल साहित्य' विषयक संगोष्ठी में शीर्षस्थ कथाकार श्री कमलेश्वर ने कहा—'बाल साहित्य की दुनिया में ट्रैफिक जाम तो नहीं है, पर उसे जहां तक पहुंचना चाहिए, नहीं पहुंच पा रहा है।' वरिष्ठ कवि प्रयाग शुक्ल ने कहा—'बाल साहित्य लिखने के लिए बहुत प्रयोगशील होना पड़ता है। कथन तो महत्त्वपूर्ण है ही लेकिन किस तरह कहा गया, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।' इस अवसर पर बाल साहित्य के महत्त्वपूर्ण विद्वान डॉ० हरिकृष्ण देवसरे ने कहा—'किसी भी कालजयी बाल साहित्य को यथावत नहीं रखा जा सकता। उसके पुनर्लेखन की जरूरत पड़ती है, उसे अपने समय और समाज के साथ जोड़ना ही होगा।'

राजधानी में आयोजित एक अन्य कार्यक्रम में डोगरी की लोकप्रिय कवयित्री पद्मा सचदेव द्वारा लिखित आत्मवृत्त 'बूंद बावड़ी' का लोकार्पण वरिष्ठ आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने किया। इस अवसर पर उन्होंने कहा—'हिंदी में शिकायत यह रही है कि महिलाओं की लिखी आत्मकथाएं कम हैं मगर अब वर्जना टूट चुकी है।' इस अवसर पर कथाकार कमलेश्वर का मानना था कि हिंदी की रचनाशीलता ने अपनी सामाजिक संस्कृति को जीवित रखा है। इस पुस्तक में इसी संस्कृति की रक्षा की गई है।

प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने केंद्रीय मंत्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी की सुपुत्री निवेदिता जोशी के कविता संग्रह 'नंगे पांव' का लोकार्पण एक सादे समारोह में किया। इस अवसर पर राजधानी दिल्ली के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार उपस्थित थे।

'रचना-पर्व' की ओर से आयोजित 'लंबी कविताएं और नरेन्द्र मोहन' (सं० रमेश सोनी) पुस्तक पर एक विचार गोष्ठी आयोजित की गई। गोष्ठी की अध्यक्षता रमेश कुंतल 'मेघ' ने की। गोष्ठी के मुख्य अतिथि विख्यात कवि डॉ० रामदरश मिश्र थे। अनेक बुद्धिजीवियों ने इस गोष्ठी में हिस्सेदारी की और अपने विचार रखे।

दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग द्वारा छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की जन्म शताब्दी पर केंद्रित एक समारोह मनाया गया जिसमें अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों ने हिस्सेदारी की।

हिंदी अकादेमी द्वारा फिक्की में संपन्न एक समारोह में लेखक उमेश सैगल की काव्य पुस्तक 'महाप्राण गांधी' का लोकार्पण मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी ने किया। इस अवसर पर डॉ० जोशी ने कहा—'सहस्राब्दि के महानतम एशियाई पुरुष बापू आज की तारीख में सबसे ज्यादा प्रासंगिक हैं, उतने 50 पहले नहीं थे।' अंग्रेजी में लिखी इस मूल किताब का अनुवाद डॉ० राम प्रकाश ने किया है। समारोह में लोकार्पित कृति के अंशों का सस्वर पाठ भी हुआ।

राधाकृष्ण प्रकाशन (दिल्ली) द्वारा सद्य प्रकाशित लेखक भगवानदास मोरवाल

के उपन्यास 'काला पहाड़' पर आयोजित एक विचार गोष्ठी में 'हंस' पत्रिका के संपादक श्री राजेंद्र यादव ने कहा—''काला पहाड़' गहरी आत्मीयता से लिखा गया उपन्यास है। इसमें 'उपन्यास' का नया रूप सामने आता दिखता है।' इस गोष्ठी में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए। कार्यक्रम का संचालन कथाकार हीरालाल नागर ने किया।

प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित मनुहरि पाठक द्वारा लिखित 'भागवत की कथाएं' का लोकार्पण वरिष्ठ साहित्यकार एवं 'साहित्य अमृत' (मासिक) पत्रिका के संपादक पं० विद्यानिवास मिश्र ने किया। इस अवसर पर हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल डॉ० विष्णुकांत शास्त्री ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत भारतीय संस्कृति की गरिमा का मानदंड है। इतिहास तो पुराना पड़ जाता है लेकिन पुराण हमेशा नूतन रहता है।' कार्यक्रम का संचालन डॉ० कुमुद शर्मा ने किया।

त्रिवेणी सभागार में वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'धर्मवीर भारती ग्रंथावली' का लोकार्पण विख्यात रंगकर्मी श्री गिरीश कर्नाड ने किया। इस अवसर पर श्री कर्नाड ने कहा—''अंधायुग' के साथ ही नये नाटक युग की शुरुआत भी हुई। इस नाटक के बाद से ही लगभग सभी प्रमुख नाटककारों ने इसी शैली में अपने नाटक लिखे।' श्रीमती पुष्पा भारती ने कहा कि 'भारती जी ने सभी विधाओं में लिखा लेकिन अपनी आत्मकथा नहीं लिखी।' भारती जी के साथ बिताए कुछ रोचक अविस्मरणीय क्षणों की खुशबू को श्रीमती भारती ने उपस्थित साहित्य प्रेमियों के संग बांटा। प्रख्यात आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने कहा—'भारती जी शब्दों के धनी और भाषा के जादूगर थे।' फिल्म अभिनेता अमरीश पुरी ने इस अवसर पर भारती जी की काव्यकृति 'कनुप्रिया' के कुछ अंशों का पाठ किया तो वहीं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक प्रो० रामगोपाल बजाज ने 'अंधायुग' के कुछ अंशों का पाठ किया। समारोह के मुख्य अतिथि हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल डॉ० विष्णुकांत शास्त्री थे। इन यादगार क्षणों को राजधानी दिल्ली के बुद्धिजीवियों ने पूरी शिद्दत से महसूस किया।

राजकमल प्रकाशन द्वारा सद्य प्रकाशित 'रघुवीर सहाय रचनावली' के लोकार्पण समारोह में बोलते हुए विख्यात आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने कहा कि आजादी के बाद रघुवीर सहाय एकमात्र ऐसे लेखक, कवि और पत्रकार थे जिन्होंने अपने गद्य, पद्य और संपादकीय के माध्यम से लोगों को यथार्थ दिखाने की पहल की। इस अवसर पर वरिष्ठ कवि श्री अशोक वाजपेयी ने कहा कि कविता के केंद्र में सत्ता को रखकर राजनीति का सूक्ष्म अन्वेषण करते हुए सबसे पहले रघुवीर सहाय जी ने ही कविताएं लिखी थीं। कथाकार मनोहर श्याम जोशी ने कहा कि रघुवीर सहाय मध्यमवर्गीय परिवार से होने के बावजूद हमेशा खतरा उठाते थे जिनका स्वर उनकी रचनाओं में बखूबी देखा जा सकता है। डॉ० सुरेश शर्मा द्वारा संपादित रचनावली के लोकार्पण समारोह के समापन से पूर्व रघुवीर सहाय जी की पुत्री हेमा सिंह एवं नाट्य

मंडली ने सहाय जी की कुछ कविताओं पर केंद्रित नाटक का मंचन किया। इस समारोह में श्रोताओं की भारी भागीदारी रही।

किताबघर प्रकाशन द्वारा संचालित छठे 'आर्य स्मृति साहित्य सम्मान' समारोह के अवसर पर पुरस्कृत लेखक राजेश जैन के नाटक 'विष वंश' के बारे में सुपरिचित कवि श्री अजित कुमार ने कहा—'इस नाटक को देखकर-पढ़कर मुझे 108 वर्ष पहले लिखे नाटक 'अंधेर नगरी' की याद आ गई।' पुरस्कृत नाटक का लोकार्पण प्रख्यात साहित्यकार व 'गगनाञ्चल' पत्रिका के संपादक डॉ० कन्हैयालाल नंदन ने किया। डॉ० नंदन ने इस अवसर पर कहा कि आज हिंदी नाटकों की स्थिति दयनीय है। ऐसे में इस तरह के सम्मान नाटककार को और अधिक ऊर्जा प्रदान करते है कि वे और बेहतर लिखें।

प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने एक कार्यक्रम में सांसद व स्तंभकार दीनानाथ मिश्र की दो व्यंग्य पुस्तकों का लोकार्पण किया। लोकार्पित पुस्तकें थीं—'हर-हर व्यंग्ये' व 'घर की मुर्गी'। इनके अतिरिक्त राजधानी में आयोजित अनेक उल्लेखनीय कार्यक्रम हुए जिनमें श्रीमती कमल कुमार के उपन्यास 'यह खबर नहीं' पर केंद्रित विचार गोष्ठी, साहित्य अकादेमी द्वारा लेखक से भेंट कार्यक्रम में प्रसिद्ध लेखक श्रीलाल शुक्ल से अनौपचारिक विचार-विमर्श, 'रचनापर्व' द्वारा आयोजित कवयित्री सुश्री पुष्पा गर्ग के कविता-संग्रह 'मुक्त आकाश का पंछी' का लोकार्पण, हिंदी अकादेमी के सौजन्य से प्रकाशित संतोष बंसल की 'इक्कीसवी सदी का उजियारा सूरज' का लोकार्पण और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित 'लेखक से मुलाकात' कार्यक्रम में कथाकार मृदुला गर्ग से गुफ्तगू, प्रमुख कवयित्री राकेश नंदिनी गुप्ता के काव्य-संग्रह 'निरन्तरा' का लोकार्पण समारोह आदि थे।

प्रदर्शनी

इस मौसम में राजधानी दिल्ली में कलाकारों के काम की प्रदर्शनी बेशक कम रही, पर रहीं। यह बात माननेवाली है कि संवेदना के दीपक की लौ बड़ी उज्ज्वल है जो अपने वजूद से अंधेरे को पाटने में लगी है। कल्पनाओं का संगम एक ऐसा नया मूड 'डेवलप' करता है कि बिखरी हुई परिस्थितियां संवेदना के धरातल में एक साथ आकर सम्मिलित होती दिखती है। रंगों का चयन और परिस्थितियों का स्पर्श कैनवास पर यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत करता है जिसमें अपनेपन का अक्स साफ दिखता है। यही बात कुछेक प्रदर्शनी में देखने को मिली।

श्रीधराणी कला दीर्घा मे आयोजित तीन कलाकारों की संयुक्त प्रदर्शनी: जिसमें थे, नंद कात्याल, जय झरोटिया और युवा कलाकार जगदीश चंदर। कात्याल के कुछ रूपाकारों मे टैराकोटा व लकड़ी के माध्यम से आकार को संयोजित किया गया है।

मनुष्य और प्रकृति के आपसी संबंधों पर केंद्रित चित्रों में चित्रकार की मौलिक अभिव्यक्ति साफ झलकती है। उधर, दूसरे कलाकार जय झरोटिया के चित्रों में हल्के नीले, हरे, लाल रंगों का प्रयोग एक नया अनुभव महसूस कराता है। वहीं, जगदीश चंदर के चित्रों में आम जीवन की विसंगतियां साफ नजर आती है जो थोड़ा अलग चलकर जीना चाहती हैं। कुल मिलाकर यह अनुभव अविस्मरणीय रहा।

कला प्रदर्शनी को देखनेवाले दर्शकों की उत्सुकता इन दिनों कलाकारों के रंग संयोजन पर केंद्रित है। आम आदमी के जीवन को उकेरते कलाकार अपनी संवेदना को परस्पर एक केंद्रीय भाव देने की कोशिश में है। ऐसा ही अनोखा एहसास युवा चित्रकार हिना सरीन की एकल चित्र प्रदर्शनी से मिला। पेपर पल्प पर किया गया सरीन का काम प्रभावी रहा। इस बार फोटो प्रदर्शनी में वरिष्ठ फोटोग्राफर निशीथ एम० कटारा के फोटो प्रदर्शित हुए। कैमरे की आंख और फोटोग्राफर का संयम एक बेहतरीन चित्र तो देता ही है साथ ही समय को थाम भी देता है जो उसने स्वयं महसूस किया है। फर्क इतना है कि कलाकार रंग का चयन करता है और फोटोग्राफर समय का इंतजार। कटारा के फोटो में फूल-पत्ते, डूबता सूरज, नदी और पहाड़ तो है ही, सुंदर और बेहतरीन इमारतों का सौंदर्य भी है। पेंटिंग की तरह फोटो प्रदर्शनी भी उसी तरह उत्साह के साथ देखी जाती है जितनी कोई कला प्रदर्शनी।

रंगमंच

एक बात तो स्पष्ट है कि जो मंच पर खेला जा रहा है वह जिंदगी का ही एक हिस्सा रहा है। आम जिंदगी में मुखौटे का सच, दरअसल अभिनय की परंपरा का संवाहक है। जिसे हमने पहचान लिया है, वह भौतिक धरातल का सच है। नई सदी के आरंभ में नई चुनौतियां हमारे सामने रहेंगी, दरअसल वे चुनौती कोई नई नहीं होंगी। वे होंगी पिछली अभिव्यक्ति का नया कलेवर।

पिछले दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तीसरे वर्ष के छात्रों ने इब्सन के नाटक 'मुर्गाबी' को मंचित किया। 'मुर्गाबी' बड़ा ही मासूम पक्षी है। जब उसे खतरा महसूस होता है तो वह पानी के नीचे खुद को छुपा लेता है। आम आदमी की जिंदगी को दिखाता नाटक कड़ुवी विसंगतियों का सच है। नाटक दर्शकों द्वारा काफी पसंद किया गया।

कथाकार कुसुम अंसल के उपन्यास पर आधारित नाटक 'रेखा कृति' का मंचन इंडिया हैबीटाट सेंटर में किया गया। नाटक में नारी स्वभाव की अबूझ गहराइयों के आयाम को विस्तार देने की कोशिश की गई है। नाटक का निर्देशन फैजल अल्काजी ने किया। नाटक को देखने के लिए श्रोताओं की उपस्थिति सराहनीय थी।

पुरस्कार

शिवमंगल सिंह सुमन/दयावती मोदी पुरस्कार से सम्मानित

इस वर्ष के दयावती मोदी शेखर सम्मान से सुविख्यात कवि डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन को अलंकृत किया जायेगा। उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के झगरपुर गांव में 5 अगस्त, 1915 को जन्मे डॉ० सुमन के साहित्यिक महत्त्व से हिंदी के पाठक भली-भांति परिचित है। अब तक इस पुरस्कार से सम्मानित रचनाकारों में सर्वश्री अशोक वाजपेयी, डॉ० सत्यव्रत शास्त्री, केदारनाथ सिंह, विनोदकुमार शुक्ल व डॉ० रामदरश मिश्र है।

श्रीलाल शुक्ल व्यास सम्मान से सम्मानित

इस वर्ष का व्यास सम्मान कथाकार श्रीलाल शुक्ल को उनके उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' के लिए दिया जाएगा। सम्मान राशि में प्रतीक चिह्न, शाल व ढाई लाख रुपये की राशि शामिल है। अब तक आठ रचनाकारों को यह पुरस्कार मिल चुका है। ये है : डॉ० रामविलास शर्मा, शिवप्रसाद सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रामस्वरूप चतुर्वेदी, केदारनाथ सिंह और गोविन्द मिश्र।

यशपाल जैन अणुव्रत पुरस्कार से सम्मानित

हिंदी के विख्यात लेखक व सस्ता साहित्य मंडल के संचालक वयोवृद्ध चिंतक यशपाल जैन को अहिंसा के क्रियान्वयन के लिए वर्ष 1998 का अणुव्रत पुरस्कार दिया जाएगा। पुरस्कार के तौर पर एक लाख रुपये की धनराशि व प्रतीक चिह्न दिए जाएंगे।

गिरिराज शरण अग्रवाल सम्मानित

डॉ० रत्नलाल शर्मा स्मृति न्यास द्वारा स्थापित इस वर्ष का पुरस्कार श्री गिरिराज शरण अग्रवाल को उनकी कृति 'आओ अतीत में चलें' को दिया गया। सम्मान राशि में नकद पंद्रह हजार रुपये, प्रतीक चिह्न व शॉल शामिल हैं।

नारायण सुर्वे को कबीर सम्मान

प्रसिद्ध मराठी कवि श्री नारायण सुर्वे को इस वर्ष का 'कबीर सम्मान' दिया गया है। मध्य प्रदेश सरकार द्वारा भारतीय भाषाओं की कविता के लिए यह पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कृत राशि में डेढ़ लाख रुपये व प्रशस्ति पत्र शामिल है। अब तक यह पुरस्कार भारतीय भाषा के अनेक मूर्धन्य कवियों को मिल चुका है जिनमें गोपाल

कृष्ण अडिग, सुभाष मुखोपाध्याय, हरभजन सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, विंदा करंदीकर, हरीन्द्र दवे, रमाकांत रथ, नवकांत बरुआ, के० अय्यप्पा पणिक्कर, शंख घोष और शीतांशु यशशचंद्र प्रमुख हैं।

निधन

डॉ० नगेन्द्र

हिंदी के प्रख्यात वयोवृद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र का दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। वह 84 वर्ष के थे। उत्तर प्रदेश के जिले अतरौली गांव में जन्मे डॉ० नगेन्द्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी के शीर्ष आलोचकों में से एक थे। अपने जीवन काल में उन्होंने 50 से अधिक पुस्तकें लिखी।

कथाकार अखिलेश्वर

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार अखिलेश्वर का दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। वे 68 वर्ष के थे। 1932 में बिहार के महरमा में जन्मे श्री अखिलेश्वर ने एडिनबरा विश्वविद्यालय और शिकागो विश्वविद्यालय में शोध-कार्य किया। श्री अखिलेश्वर ने अपने लेखन की शुरुआत अंग्रेजी से की। उनकी हिंदी कृति 'बवंडर' थी।

उड़िया नाटककार भंजकिशोर पटनायक

प्रख्यात उड़िया नाटककार भंज किशोर पटनायक का पिछले दिनों निधन हो गया। उन्होंने अपने जीवनकाल में 100 से अधिक पुस्तकें लिखी थी।

[दिवंगतों को 'गगनाञ्चल' की ओर से श्रद्धांजलि]

□

हिंदी और विश्व हिंदी सम्मेलन

रामदेव धुरंधर

विश्व हिदी सम्मेलन आयोजित होने में एक और कड़ी जुड़ी। यह कड़ी इस अर्थ में अधिक उल्लेखनीय थी, क्योंकि इस बार विश्व हिंदी सम्मेलन लंदन में आयोजित हुआ। लंदन का दूसरा नाम 'आधुनिकता' है, ऐसे मे भारत की हिंदी की बातें वहां करना कितना प्रासंगिक था, यह अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जब हिंदी का संदर्भ है, तो जाहिर है इसमें भारतीय संस्कार, रिश्ते-नाते, प्रेम, संवेदना, गीता की वाणी, तुलसी कृत मानस, प्रेमचंद की मानवधर्मिता और गांधी के अहिंसावाद की झलक अधिक पायी जाए। हिदी जब इस व्याख्या की संवाहिका के रूप मे अपना परिचय रखती है तो लंदन की जमीन उसके लिए एक चुनौती ही थी।

मैं इस सम्मेलन की 'भीड़' को छोटा करके, हिदीमना लोगों की बातें करना चाहूंगा। विभिन्न देशों के हिदीमनाओं ने जब इस सम्मेलन में आने की तैयारी की होगी तो सभी इस विचार से भरे रहे होंगे कि हिंदी के विस्तार के लिए भाषा का एक युद्ध लड़ने जा रहे हैं। लंदन में संभवत: यह जोश यथावत रहा हो, लेकिन एक कमी जरूर यह रह गयी कि भाषा के इस युद्ध में हम बहुत अकेले पड़ गये। इसमें लंदन को जितना समेटना आवश्यक था, उतना हम समेट नहीं पाये। इस उदाहरण से इस बात को विस्तार से समझा जा सकता है—लंदन के एक अंग्रेज हिंदी विद्वान ने कहा कि लंदन में विश्व हिदी सम्मेलन संपन्न हो रहा है, लेकिन वह भारत में था जहां उसे पता चला कि उसकी मातृभूमि मे हिंदी सम्मेलन मनाने के लिए विश्व के कोने-कोने से लोग पहुंचे हुए हैं। वेस्ट मिनिस्टर हॉल मे जिसने भी उक्त अंग्रेज हिंदी विद्वान के मुह से यह सुना, उसने जरूर उस भाषा में तिरते हुए व्यंग्य के पुट को महसूस किया होगा। सवाल यह है कि वह व्यंग्य किस पर था, हिदी पर, हिंदीवालों पर या लंदन मे हिदी सम्मेलन आयोजित किये जाने के 'साहस' पर? हो सकता है, एक या अनेक पश्चिमी हिंदी विद्वानो का इस सम्मेलन में सहयोग लेने की औपचारिकता मे

आयोजन-कर्ताओं से कोई भूल हो गयी हो, लेकिन यदि सब कुछ व्यवस्थित होने के बावजूद व्यंग्य की तर्ज पर बात की गयी है तो इसे हमें उसी अर्थ में लेना होगा, जिस अर्थ का यह प्रतिनिधित्व करता जान पड़ रहा है।

आयोजकों ने बताया कि जल्दी में तैयारी करने की वजह से व्यवस्था में स्वाभाविक खामियां रह गयी होंगी। बड़ी भीड़ से अलग हटकर केवल हिंदी को रेखांकित करना चाहें तो एक सामयिक कमी की अनुभूति से कन्नी नहीं काटी जा सकती। प्रश्न यह है कि क्या इस सम्मेलन में अपेक्षित संभावनाओं का संवहन ठीक से हो पाया अथवा नहीं? भारत में हिंदी में लिखनेवाले अब तमाम तरुण लेखक पाये जाते है, लेकिन इस सम्मेलन में ऐसे तरुण चेहरे दिखाई नहीं दिए, जिससे लगता कि वृद्धों की भीड़ में तरुणों की एक पहचान उभरकर सामने आयी है। सम्मेलन का आदर्श यह निश्चित हुआ था कि 'युवा पीढ़ी' को अधिक जोड़ा जाए, लेकिन इसे विडंबना ही समझें कि सम्मेलन में युवा पीढ़ी के लिए कहीं हल्का-सा कोना भी निर्धारित नहीं था। बुजुर्गों ने अपने मन और सोच से वर्तमान युवा पीढ़ी का प्रश्न उठाया और अपनी ही उम्र से इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया। अगली बार विश्व हिंदी सम्मेलन फीजी में आयोजित होने की घोषणा हो चुकी है। पता नहीं, उसकी रूप-रेखा कैसी होगी, लेकिन यदि उसमें भी एक कतार में बुजुर्ग लेखकों का वर्चस्व नजर आए और युवा लेखकों के प्रति अनदेखी की जाए, तो हिंदी की लड़ाई निश्चित ही फिर से कच्ची साबित होगी।

सम्मेलन में आलेख प्रस्तुत करने का विस्तृत आयोजन किया गया था। आयोजकों की भावना रही होगी कि आलेख अधिक आने से हिंदी की सर्वांगीण समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकाश पड़ सकता है और उनके निदान के लिए बहस छेड़ी जा सकती है। परंतु इस भावना के अनुरूप सफलता कितनी मिली, यह चिंता का विषय है। बहुत से विद्वानों के आलेख अनपढ़े रह गये। एक विशेष हॉल में वरिष्ठ लेखकों के वक्तव्य का आयोजन हुआ था। इन्हें सुनने का अधिक आकर्षण होने से लोग उधर चले जाते थे, इसलिए टुकड़ों में आयोजित आलेख प्रस्तुति में व्यवधान आता गया। मोरिशस में दो बार विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित हो चुके है। आयोजन की प्रक्रिया में हमारे सामने भी प्रश्न आता रहा है कि आलेख प्रस्तुत करने का ढांचा कैसा हो? इसके लिए हमने आवश्यकता यही समझी कि आलेख चाहे कम आएं, लेकिन आएं तो सबके सामने आएं।

भाषा के लिए काम करनेवाले वे ही होते है जो ऐसे सम्मेलनों की वैश्विक गरिमा समझते है और उसकी सीमा-रेखा में रहकर विचार-विमर्श करते है। भाषा और चलती-फिरती राजनीति में बड़ा अंतर होता है। हिंदी की भी ऐसी ही 'राजनीतिक' खेला-खेली अक्सर देखने को मिल जाती है और मन में प्रश्न उठता है कि क्या, सांस्कृतिक पहचान की एक भाषा और 'बाजारू राजनीति' में कोई अंतर नहीं रहा?

मौजूदा 'विश्व राजनीति' को देखते हुए हमें मानना होगा कि हमें बाजारू राजनीति से ऊपर उठना होगा और इस समझ के बीच से ही हमारे भीतर यह बोध पैदा होगा कि हमारे लिए भाषा की लड़ाई भी कठिन हुई है। इंग्लैड को अब यह कहने और समझाने की आवश्यकता नहीं रही कि उसकी भाषा को पढ़ने से हमें कौन-कौन से लाभ होने वाले हैं। पर हिंदी के लिए बात दूसरी है। स्वयं उसके अपने देश में अपनी स्थापना के लिए जब उसे जद्दोजहद से गुजरना पड़ रहा हो तो दूसरे देशों में उसे मान्यता दिलाने के लिए अभी लंबी संघर्ष-यात्रा तो तय करनी ही पड़ेगी। ऐसे मे, हिंदी की पक्षधरता में जब एक काफिला इंग्लैंड, फीजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड, मोरिशस या किसी भी दूरस्थ देश को पहुंचे तो उसकी आंखों के आगे वह अंधेरा आच्छादित रहेगा जो और किसी का अंधेरा न होकर, हिंदी का अपना अंधेरा होगा। उस अंधेरे को चीरकर हिंदी को प्रकाशमान करने का संकल्प निश्चित रूप से पहले स्थान पर हो। इस संकल्प से ही विश्व हिंदी का मानचित्र स्पष्ट हो सकता है।

हिंदी के संदर्भ में अब तक पूरी-की-पूरी छः विश्व हिंदी सम्मेलनों की यात्राएं तय की जा चुकी है। हिंदी की प्रगति के लिए इतने वर्ष तमाम उपलब्धियों के वर्ष हो सकते थे। भारत ने हिंदी के मामले में अपनी कार्य-योजना को विस्तार देने के लिए अब वैज्ञानिक पद्धति की ओर रुख किया है। मोरिशस में हम निश्चित ही हिंदी की इस देखी-अनदेखी गरिमा को गंभीरता से लेते है। परंतु इतना होते भी मेरे दिमाग में बात यह भी आती है कि हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की दशा आज कैसी है? वरिष्ठ संपादक (स्व०) धर्मवीर भारती को इंग्लैड में श्रद्धांजलि समर्पित की गयी। उनके दिवंगत होने से पहले उनके यशस्वी 'धर्मयुग' पत्र का पटाक्षेप हो चुका था। लंदन में कमलेश्वर जी मिले, लेकिन अब वे 'सारिका' से खाली है। महीप सिह 'संचेतना' के साथ दिखे, खुशी हुई। डॉ० कन्हैयालाल नंदन जी 'गगनाञ्चल' के पर्याय में इंग्लैड में पत्रिका-शक्ति का प्रतिनिधित्व करते नजर आये। ऐसा नही कि भारत में दूसरे लोग पत्र-पत्रिका के संपादन-प्रकाशन को लेकर गंभीर न हों, लेकिन मैं मोरिशस का एक हिंदी-प्रेमी और हिंदी लेखक होने के नाते, जरूर इस अपेक्षा में रहूंगा कि हिंदी के लिए और धारदार तरीके से काम हो। यही नहीं, भारतेत्तर अन्य हिंदीभाषी देशों को भी यदि हिंदी के विकास-यज्ञ में सम्मिलित करने की रूपरेखा निश्चित करके भविष्य की ओर रुख किया जाए तो परिणाम के सुखद होने में किसी प्रकार का संदेह नही रहेगा।

संयोग ही कहें कि लंदन में विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित होते समय श्री अटल बिहारी वाजपेयी देश के प्रधानमंत्री रहे। श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बहुत पहले से हिंदी की पक्षधरता में अपनी आवाज बुलंद रखी है। भारत के विदेश मंत्री के रूप में राष्ट्र संघ में उनका हिंदी में अभिभाषण अब भी भुलाया नही गया है। मैंने एक भारतीय पत्रिका में (राष्ट्र संघ से श्री वाजपेयी जी का भाषण सीधा प्रसारित होने

पर) लिखा था कि उन्हें हिंदी बोलते सुनकर मोरिशस का हिंदी-जगत भाव-विभोर हो उठा था। उस वक्त निश्चित ही हमें लगा था कि हिंदी को अब उसका अपना वास्तविक किनारा मिलने जा रहा है। परंतु कालांतर में एक विरूप सच यही सामने उभरकर आया कि हिंदी के लिए मंजिल अब भी कोसों दूर है। विश्व हिंदी सम्मेलनों को इन्हीं निराशाओं और मन के अंधेरे को पाटने का विकल्प समझा जाता है। पर विकल्प के निर्माण में जब अपेक्षित ऊर्जा की कमी हो तो हिंदी का कारवा आगे बढ़ने की बजाय पीछे ही तो खिसकेगा।

फ्रांस ने अपनी भाषा के संदर्भ में अनेक फ्रेंचभाषी देशों में फ्रेंच भाषा के लिए विश्व सम्मेलन आयोजित करने की प्रक्रिया में पिछले दिनों मोरिशस में भी यह आयोजन किया था। निश्चित ही आयोजन व्यापक, व्यवस्थित और आकर्षक था। सम्मेलन में मोरिशस में जो कुछ करने के लिए ढांचे प्रस्तुत किए गए, उनके अनुरूप इधर काम होते दिखाई देने लगे हैं। दूसरे शब्दों में, एक बार के आने फ्रेंचभाषी विश्व सम्मेलन में मोरिशस जितना फ्रेंचभाषी होता जा रहा है, उसके विपरीत मोरिशस का हिंदी-जगत अपनी जमीन के दो विश्व हिंदी सम्मेलनों से उतना परिपक्व नहीं हो पाया है। पर इस दयनीयता में मैं मात्र मोरिशस का अक्स नहीं देखता, क्योंकि इस दोष और दयनीयता में हिंदी का पूरा विश्व एकाकार है, संभवतः भारत कहीं ज्यादा हो।

अब अंत में कहने के लिए शेष यही रह जाता है कि गल्तियों और खामियों के इस आइने में हम अपना ही चेहरा आंके। तमाम प्रश्न, तमाम मुद्दे सामने हैं, बहस के लिए क्षितिज स्पष्ट है।

□

***रामदेव धुरंधर:* मोरिशस स्थित महात्मा गांधी संस्थान के प्रकाशन विभाग से संबद्ध। उपन्यासकार, कहानीकार और नाट्यकर्मी।**

सदी का अंतिम सम्मेलन

डॉ० रमा सिंह

लंदन में आयोजित 20वीं सदी के अंतिम विश्व हिंदी सम्मेलन की चर्चा-कुचर्चा भारतीय मीडिया में छाई रही है। इस सम्मेलन का आयोजन वास्तव में न्यूयार्क में होना पूर्वनिश्चित था मगर अप्रत्याशित कारणों से वैसा संभव नहीं हो सका। यू०के० में सक्रिय कुछ हिंदी संस्थाओं ने इसका स्थान बदलकर, लंदन में करने का प्रस्ताव सौंपा भारत सरकार को। निर्धारित तिथियों को ज्यों का त्यों रखा गया क्योंकि हिंदी राजभाषा की स्वर्ण जयंती की शुरुआत भी उसी तिथि से हो रही थी। इस 'तात्कालिकता' की वजह से कुछ अड़चनें पेश आईं। कम अड़चनें इससे भी नहीं हुईं कि सम्मेलन में पहुंचनेवाले प्रतिभागियों की संख्या, आशा से कहीं अधिक निकली। अव्यवस्था इस वजह से भी हुई क्योंकि हिंदी सम्मेलन के नाम पर कुछ अगंभीर 'हिंदी-प्रेमी, साहित्यकार' भी वहां जा पहुंचे तथा संयोजन की प्रारंभिक व्यवस्थाओं का ढांचा चरमरा उठा। इन विवादों से अलग, प्रस्तुत है हिंदी की कवयित्री— डॉ० रमा सिंह की यह संक्षिप्त रिपोर्ट जो एक-प्रतिभागी की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है।

'तरह-तरह के झंझावातों ने हिंदी स्वर्ण जयंती वर्ष (1999) में होनेवाले इस सम्मेलन को जड़ से उखाड़ने के असफल प्रयास किए थे, किंतु धृतराष्ट्र-सा यह छठा विश्व हिंदी सम्मेलन विवादों मे घिरा, अड़िग खड़ा रहा।' यह उद्‌गार हैं

डॉ० कृष्ण कुमार, अध्यक्ष कार्यकारिणी समिति के। इस कथन की सार्थकता तब सिद्ध हुई जब लंदन में 14 से 18 सितंबर तक आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन, तदुपरांत आयोजित कवि सम्मेलनों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के पश्चात जब 27 सितंबर को मैं भारत लौटी। यहां आकर पता चला कि हमारी 'भारतीय' पत्रकारिता ने इस सम्मेलन की बखिया उधेड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बड़ी शर्म भी महसूस हुई। सम्मेलन में हुई कुछ अव्यवस्थाओं पर तीखी टिप्पणी करनेवाले मिडियाकर्मी शायद यह भूल गये कि जून तक इस सम्मेलन का स्थल न्यूयार्क (अमरीका) था, लेकिन वहां के आयोजक-संयोजक की अकस्मात् मृत्यु हो जाने से यह दायित्व यू०के० की तीन संस्थाओं—हिंदी समिति, यू०के०, भारतीय भाषा संगम, यार्क तथा गीतांजलि बहुभाषीय समुदाय, बर्मिंघम ने अचानक लिया था। ये संस्थाएं हिंदी-प्रेमी डॉक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक एवं व्यापारी पदाधिकारियों की है जिन्होंने दिन-रात एक करके भारत सरकार से संपर्क साधकर, भारतीय उच्चायोग का सहयोग प्राप्त कर इसे सफल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

कबीर की 600वीं जयंती व हिंदी भाषा की स्वर्ण जयंती को मनाने हेतु लंदन के स्कूल ऑफ आरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज, यूनिवर्सिटी ऑफ लंदन, यू०के०में हिंदीभाषियों का पांच दिनों तक साहित्यिक मेला चला। हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियों, हिंदी कविता, कथा, व्याकरण, विज्ञान, मीडिया और विशेषत: 'हिंदी और भावी पीढ़ी' पर आलेख पढ़े गये, विचार-विमर्श हुए। हिंदी दिवस 14 सितंबर को लंदन के वेम्बली कांफ्रेंस सेंटर में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के मध्य, विदेश राज्यमंत्री वसुन्धरा राजे ने इसका उद्घाटन किया। 15 सितंबर प्रात: नौ बजे से रसखान, सूर, मीरा, तुलसी व कबीर कक्ष में निरंतर संगोष्ठियों व पत्रवाचन के कार्यक्रम हुए जो चाय व दोपहर के भोजन के समय को निकालकर साढ़े चार बजे तक चलते रहे। विभिन्न संदर्भों को लेकर, विविध विषयों पर करीब 22 देशों के वक्ताओं ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी। खुले अधिवेशन में कबीर, पंत, नागार्जुन, अज्ञेय पर विद्वतापूर्ण भाषण हुए। आगंतुक हिंदी सेवियों-प्रेमियों का मनोमय मिलन व परिचय हो रहा था। रस की गंगा सतत प्रवहमान थी।

तमाम अव्यवस्थाओं के बावजूद, मैं तो इतना ही कहूंगी कि इतनी सारी आपदाओं के मध्य धन्य है वे आयोजक जिन्होंने पूर्ण धैर्य के साथ, सारा कार्य अपनी निश्छल मुस्कान के साथ संपन्न किया। हिंदी के प्रति उनका प्रेम सराहनीय है। जिन्होंने भी इस विश्व हिंदी सम्मेलन की आलोचना की है, वे हृदयहीन तो नहीं है पर संभवत: सहृदय भी नहीं है। ऐसा अनर्गल लिखकर उन्होंने भारतीय संस्कृति व सभ्यता की गरिमा पर ही चोट की है। वे यह सब लिखने से पूर्व सोच लेते तो अच्छा था। अगर वे 'मैं' को त्यागकर 'हम' बन जाते तो निश्चय ही उनकी सोच सार्थक होती। □

ग़ालिब का अंदाज़ेबयां...

डॉ० मुहैय्या अब्दुर्रहमानोवा

'है *और भी दुनिया मे सुखनवर बहुत अच्छे/कहते है कि ग़ालिब का है अंदाज़े बयां और...।'* ये पंक्तियां उर्दू के अजीम शायर मिर्जा ग़ालिब की है। भारत में शायद कोई ही व्यक्ति होगा, जो ग़ालिब के नाम से परिचित न हो। ग़ालिब अपने अलग तरीके के व्यक्तित्व से न सिर्फ भारतवासियों, बल्कि अपने देश से बाहर दूसरी क़ौम के लोगों का भी दिल जीतने में सफल रहे है। इसका यह सबूत काफी है कि भारत में हर साल अंतरराष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किए जाते है जिनमें सारी दुनिया से बड़े-बड़े साहित्यकार भाग लेने आते है।

इस साल ग़ालिब की 200वी जयंती पर पूरे भारत में जश्न हुए। इस कारण ग़ालिब को अलग से याद करना, उनकी शायरी के अनजाने-अनदेखे पहलुओं पर रोशनी डालना—प्रत्येक ग़ालिब-प्रेमी का फर्ज़ बनता है। इस सिलसिले में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय ने दिल्ली विश्वविद्यालय तथा जामिया मिलिया इस्लामिया के साथ मिलकर एक अंतरराष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया था। राजधानी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय मे संपन्न इस संगोष्ठी का आयोजन जे०एन०यू० के भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष प्रो० नासिर अहमद खां ने किया था। जिन विद्वानों ने इस संगोष्ठी में भाग लिया, उनमें प्रमुख है—खेरमन वन अबलिफन (अमेरिका), असद मुफ्ती (हॉलैंड), सईद अंजुम (नार्वे), इतीशार अहमद (कनाडा), मिर्ज़ा हमीद बेग (पाकिस्तान), तात्याना अवतामोवा (बुल्गारिया), तारमीरजा खलमीरजा, मुहैय्या अब्दुर्रहमानोवा (उज़्बेकिस्तान), राजाबोव खां (ताजिकिस्तान), तौफ़ीक सजानी (ईरान), ल्यूदमिला वास्कोवा (रूस), हलीफ़ रशीद (अफगानिस्तान), हमीद (बंगला देश) तथा भारत से थे—हमदी कश्मीरी, सईद जाफरी, हनीफ़ नकवी आदि। इन प्रतिभागियों ने ग़ालिब की शायरी के विभिन्न पक्षों पर अपने विद्वतापूर्ण कथन प्रस्तुत किए। तात्याना अवतामोवा ने ग़ालिब की शायरी का अनुवाद बुल्गारियाई में प्रस्तुत किया, अंग्रेजी

में किया अबलिफन ने।

उज़्बेकिस्तान की तरफ से ताशकंद प्राच्य विद्या संस्थान के प्रो० तारमीरजा तथा इन पंक्तियों की लेखिका को बोलने का अवसर मिला। मैंने अपने आलेख—'ग़ालिब: मेरी नज़र में' के माध्यम से बोलते हुए कहा कि ग़ालिब की शायरी पढ़ने के बाद उनके प्रति मेरी रुचि और बढ़ गई, मुझमें उन्हें और अधिक जानने की इच्छा पैदा हुई। उन्हें ध्यान से पढ़ते हुए ऐसा लगा कि उस शायर के बारे में कोई अंतिम राय बनाना मुश्किल है। ग़ालिब का फलसफ़ा औरों से बिल्कुल अलग है, और इसे समझना भी हर किसी के वश की बात नहीं है। हमारे देश में ग़ालिब एक चिर-परिचित शायर है। ताशकंद में ग़ालिब के नाम पर एक मुहल्ला भी है। भारत से आये भ्रमणार्थी अक्सर वहां जाते हैं। उनका सम्मान खुशी-खुशी करना, वहां के लोगों की आदत का एक हिस्सा है। ग़ालिब का नाम मैंने बचपन में अपने घर में सुना था और पता नहीं किसलिए वह हमारे अपने शायर लगते थे। यह सच है कि ग़ालिब का जन्म भारत में जरूर हुआ लेकिन वे खुद को तुर्क कहते थे। उनके पूर्वज किसी जमाने में मध्य एशिया से आकर भारत में बसे थे।

ग़ालिब हमारे लिए कौन है? मैं कहूंगी, सब कुछ। क्योंकि जिंदगी का कोई पक्ष ऐसा नहीं बचा है जिस पर ग़ालिब ने कुछ न कहा हो। मुझे तो वे कभी दार्शनिक, कभी सूफी, कभी आशिक, कभी आलोचक और कभी व्यंग्य-विनोदी लगते हैं अपनी शायरी में। उनकी शायरी में इंसानी जिंदगी, जिंदगी की तमाम समस्याएं, दिल का दर्द, लौकिक तथा पारलौकिक जिंदगी का वर्णन तथा खुदा से शिकायत जैसी बातें हैं।

मेरी नजर में, जो इंसान अपना हर सवाल खुदा से करने लगता है, वही असली दार्शनिक होता है। ग़ालिब लोगों की जिंदगी सुधारना, उनका और अपना भी दर्द कम करना, खुशी-खुशी जिंदगी गुजारना चाहते थे, लेकिन जब उन्होंने देखा कि इस काम में वे बेवस है तो कलम लेकर वे 'उसी' से शिकायत करते है। ग़ालिब यह बात बखूबी जानते थे कि जिंदगी में दर्द की भी जरूरत है, खासतौर पर शायर के लिए तो अधिक ही। ग़ालिब के दर्द ने ही शायद उन्हें अमर कर दिया।

'आईना क्यों न दूं कि तमाशा कहें जिसे,
ऐसा कहां से लाऊं कि तुझ-सा कहें जिसे।'

या—

'इश्क़ पर ज़ोर नहीं, ये वह आतिश है ग़ालिब,
जो लगाये न लगे, और बुझाये ना बने।'

ऐसी उम्दा शायरी कहनेवाले ग़ालिब को याद करना, और बार-बार याद करना एक सुखद कार्य की तरह लगता है। साथ ही, ग़ालिब अपनी शायरी में जब खुदा

से शिकायत करते है तो उसे उस चित्रकार की तरह पेश करते हैं जो कागज पर कभी कुछ तस्वीर बना देता है, कभी कुछ—

'नक्श फरियादी है किसकी शोखिए तहरीर का,
कागजी है पैरहन, हर पैकरे तस्वीर का।'

ग़ालिब की शायरी में उस आम आदमी का दु:ख-दर्द भी सुनाई पड़ता है जो शायद पी कर अपने-दु:ख-दर्दो से निजात पाना चाहता है—

'गो हाथ में जुंबिश नहीं, आंखों में तो दम है,
रहने दो अभी साग़रो-मीना मेरे आगे।'

ग़ालिब की शायरी का व्यापक अध्ययन अभी जारी रहेगा। दुनिया में एक भी महान् साहित्यकार ऐसा नहीं है, जिसने जिंदगी में चोटें न खाई हों। इतनी अधिक चोटें खाने के बाद ग़ालिब अपने नाम की तरह ग़ालिब रहे, यह कम बड़ी बात नही है।

□